आध्यात्मिक प्रवचन संग्रह

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वीतराग अनन्तश्री स्वामी

श्री दयानन्द गिरि ज़ी महाराज

भाग-I



प्रकाशक :

कराला एवं मजरी गांव धार्मिक भक्त समाज

सन्त निवास, कराला कुटी, कराला गांव, दिल्ली

आध्यात्मिक प्रवचन संग्रह

भाग-I

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वीतराग

अनन्तश्री स्वामी दयानन्द गिरि जी महाराज



प्रकाशक :

कराला एवं मजरी गाँव का धार्मिक भक्त समाज

सन्त निवास, कराला कुटी, कराला गाँव

दिल्ली-११० ०८१

मूल्य : प्रतिदिन पाठ

(निःशुल्क वितरणार्थ)
धर्म प्रेमी भक्तों के सहयोग से

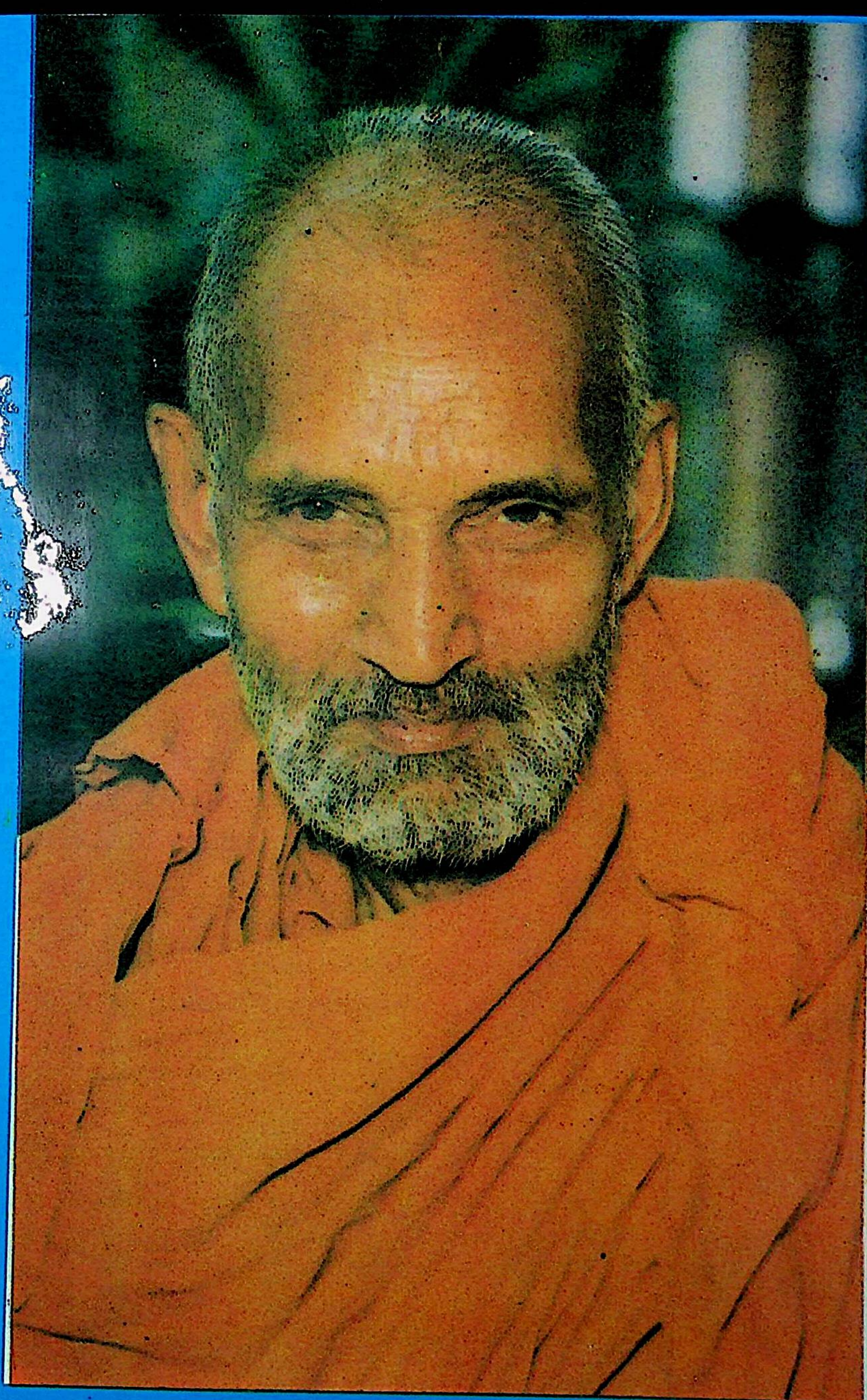
प्रवचन के प्रथम लेखन, सम्पादन सहयोगी एवं सम्पादक
श्री बलवन्त माथुर, श्री राम शर्मा, बालकृष्ण गुप्ता,
श्री अश्विनी कुमार एवं श्री गणेश शंकर द्विवेदी

षष्ठ संस्करण : ~~3000~~ 3300 प्रतियाँ
गुरु पूर्णिमा, अषाढ २०५९
24 जुलाई 2002

प्राप्ति स्थान :-
1. सन्त निवास,
उजड़ गाँव कुटी, रामा विहार के सामने,
कराला गाँव, दिल्ली-110081
दूरभाष - (011) 5951683 जय प्रकाश (मजरी)
5953996 बलवन्त (कराला)
5953996, 5953470 बस्तीराम (कराला)

2. श्री ज्ञान चन्द गर्ग
99, प्रीत नगर
अम्बाला शहर-134003 (हरियाणा)
दूरभाष (0171) 2552761

मुद्रक -
नवीन प्रिन्टर्स, नारायणा, नई दिल्ली-110028
फोन - 5687212, निवास - 91-6367829, 91-6365468





विषय सूची

ॐ

निवेदन

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वीतराग परम पूजनीय श्री स्वामी दयानन्दगिरि जी महाराज ने, जो प्रवचन 1986-87 में अपना बहुमूल्य समय प्रदान कर कराला कुटी, दिल्ली में अपनी अमृतमयी वाणी से सुनाने की असीम कृपा की थी। उन्हीं 21 प्रवचनों को इस पुस्तक ''आध्यात्मिक प्रवचन संग्रह'' भाग एक में प्रकाशित किया जा रहा है।

प्रारम्भ में इन प्रवचनों को वड़ी मेहनत से टेप से लिखने का व श्री महाराजजी को सुनाने का एवं प्रेस में छपवाने का मूल श्रम साध्य सेवा कार्य श्री बलमत माथुर, श्री वालकृष्ण गुप्ता आदि ने किया था तथा शुद्ध करके लिखने व पुनः सुनाने का कार्य महात्मा श्री गोविन्दानन्द गिरि, श्री राम शर्मा और श्री अश्विनी कुमार आदि ने श्री महाराजजी की कृपा से वड़े सुचारु रूप से किया था। उन सबके इस सराहनीय सेवा कार्य के लिए धर्म प्रेमी समुदाय वड़े आभारी हैं।

प्रथम इस ग्रन्थ का सम्पादन कार्य श्री गणेश शंकर द्विवेदी (शास्त्री) रीडर (दिल्ली विश्वविद्यालय) ने वड़ी कुशलता से किया था। धर्म प्रेमी जन उनका भी आभार व्यक्त करते हैं।

इस संस्करण को प्रेस में छपवाने का सेवा कार्य जो भक्तों ने भक्ति-भाव से किया वे सव भी आभार के पात्र हैं।

पहले इस ''आध्यात्मिक प्रवचन संग्रह'' पुस्तक के प्रकाशन के लिए स्वामीजी की कृपा से जिन दाताओं ने दिल खोलकर दान दिया था, वे सव वहुत ही अधिक आभार के पात्र हैं। धर्म प्रेमी समुदाय उन सवको हार्दिक धन्यवाद करते हैं।

यह षष्ठ संस्करण कराला-मजरी एवं अन्य ग्राम के धार्मिक भक्तों के पूर्ण सहयोग से जो महाशिवरात्रिको भण्डारा (5-3-2000 को) हुआ था उसीमें से शेष वैंक में वकाया राशि थी उसमें से ही छपवाया गया है, इसके प्रकाशन के लिए सभी धार्मिक भक्त जनों को विशेष तौर पर धन्यवाद। परम पूज्य स्वामीजी के आशीर्वाद सभी पर है।

पिछले संस्करणों में जो भी त्रुटियाँ थी उनके वारे में जिन सज्ञनों ने सूचना दी, उन त्रुटियों में से आवश्यक को सामान्य रूप से लगभग संशोधन कर ही दिया गया है। जिन धार्मिक जनों ने ऐसा सेवा का कार्य किया है, हम सभी उनके अत्यंत आभारी हैं।

वास्तव में भगवान के प्रेमी भक्तों को नाम व आभार आदि की कोई परवाह नहीं होती है वे तो अपने आप में ही धन्य हैं। औपचारिकता का भी कोई विशेष महत्त्व नहीं। व्यक्ति निमित्त-मात्र है प्रभु-कृपा से ही सव कुछ होना सम्भव है।

इस पुस्तक की विषय वस्तु की तैयारी के दौरान यद्यपि इस वात का विशेष ध्यान रखा गया है कि जिस सुन्दर ढंग से पूजनीय स्वामीजी ने अपने प्रवचनों में दर्शन शास्त्र की गम्भीर से गम्भीर उक्तियों को साधारण से साधारण जनों के ज्ञान हेतु वड़ी सरल भाषा में एवं क्रियात्मक ढंग से उपयुक्त उदाहरण देकर समझाने का प्रयत्न किया है, उनको जहाँ तक हो सके उसी रूप में प्रकाशित किया जाये। परन्तु प्रवचन क्योंकि वोल चाल की भाषा में अपने ढंग से कहे गये हैं, अतः उनको छपवाने के उद्देश्य से संक्षिप्र करने के इस कठिन कार्य में कुछ न कुछ त्रुटि अवश्य रही होगी और यह हमारी सीमित योग्यता तथा समय के अभाव के कारण हुई होगी। आशा है कि आप पाठकगण उस के लिए हमें क्षमा करेंगे।

हम सव परम पूजनीय श्री सद्‌गुरु देव ''परमहंस स्वामी दयानन्द गिरि जी महाराज'' को नतमस्तक होकर प्रणाम करते हैं। उन्होंने भक्तों पर वड़ी कृपा व दया करके इस पुस्तक के प्रकाशन की अनुमति प्रदान की और इसमें छपे हुए प्रवचनों को वार-वार सुनने व अन्तिम रूप देने के लिए रात-दिन अपना वहुमूल्य समय दिया, ताकि जनहित व श्रद्धालुओं के कल्याण के लिए सरल व सादी भाषा में यह ग्रन्थ उपलव्ध हो सके। हमारे पास भगवान् की कृपा व दया का आभार प्रकट करने के लिए कोई शव्द नहीं है और हम केवल श्री महाराज जी के चरणों में पूनः पूनः दण्डवत प्रणाम ही कर सकतें हैं। हम प्रार्थना करते रहतें हैं कि भगवान् हमारे ऊपर इसी प्रकार अपनी कृपा वरसातें रहें।

निवेदक :
समस्त धार्मिक जन व भक्त समाज
कराला-मजरी गाँव, दिल्ली-110081

सम्पादकीय

भारत अध्यात्मपरायण देश रहा है। यहाँ के मनीषी विद्वानों एवं तत्वचिन्तकों ने मानव को भ्रान्त कर देने वाले वैषयिक उपादानों में सदैव वितृष्णा ही दिखाई है विषयों से आवृत जीवन यथार्थ चिन्तन एवं यथार्थ दृष्टि से सदैव वंचित रहा है और जीवन प्रक्रिया का सदुपयोग न कर दुरुपयोग की ही राह पर चलता रहा है। इस जागतिक एवं वैषयिक भ्रम से दूर होकर ही वह तत्त्व चिन्तन में प्रवृत्त हो पाता है और अपने यथार्थ को जानने के लिए प्रयत्नशील होता है।

अस्तु मानव की सरल जीवन– यापन पद्धति में बाधक मल, विक्षेप और आवरण की निवृत्ति होना परमावश्यक है। इसके लिए "मेरा यथार्थ स्वरूप क्या है?' यह जिज्ञासा जब तत्वज्ञानी सद्गुरुओं के मार्गदर्शन से जागृत हो जाती है, तब साधना की ओर झुकाव होता है और मैत्री, करुणा आदि दस बलों के प्राप्त करने की प्रक्रिया चल पड़ती है उक्त बल जैसे ही साधक में सन्निविष्ट होने लगते हैं, कि मान, मद, अहंकार, क्रोध आदि की प्रवृत्तियों का तिरोधान होने लगता है और निर्विकार चित्त सहिष्णुता और तितिक्षा के बल पर उन सभी बाधाओं से पार हो जाता है, जो उसे भ्रम में डाले हुयी थीं और बाहरी–जीवन की यथार्थता का आभास दे रही थीं। उस भ्रमान्धकार के दूर होते ही सत्य स्वयं प्रकट होने लगता है। जीवन की यह मुक्तावस्था परमानन्द–प्रदायिनी है, जिसे प्राप्त करना ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है।

वीतराग अनन्तश्री स्वामी दयानन्द गिरि जी महाराज परम उच्च कोटि के सन्त एवं तत्त्वदर्शी महापुरुष हैं, उनकी सीधी–सादी सरल किन्तु अमृतमयी वाणी ने न जाने कितने संसार सागर में बहते हुए जीवों का मार्ग दर्शन करके उनका उद्धार किया है और इस प्रक्रिया में सतत जन समाज का कल्याण कर रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ आध्यात्मिक प्रवचन संग्रह में दिसम्बर १९८६ से जनवरी १९८७ तक कराला कुटी दिल्ली में दिये गये प्रवचनों में से २१ प्रवचन सन्निविष्ट किये गये हैं। पूज्य

श्री स्वामी जी ने अध्यात्म–ज्ञान जैसे गहन–गंभीर विषय वाले अपने प्रवचनों को इस सहज और सरल रीति से लौकिक उदाहरणों से स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत किया है कि वेदान्त की प्रक्रिया से शून्य सामान्य जन भी उन्हें हृदयंगम कर सकता है और जीवन को ' सत्य ' की ओर मोड़ सकता है।

प्रस्तुत प्रवचनों में प्रारम्भ में पूज्य स्वामी जी कहते हैं–" यह आध्यात्मिक जीवन का सत्संग है। आध्यात्मिक जीवन का तात्पर्य यही है कि अपनी आत्मा के अन्दर जीने का रास्ता मिल जाये। अपनी आत्मा में ऐसा चला जाये कि जिससे वह बिखरा हुआ बाहर का मन अन्दर एकत्रित हो जाये अर्थात् संसार से विछुड़ कर केवल अपने आप में एकाग्र हो जाये।"

अस्तु मन का सांसारिक बन्धनों से छूट जाना ही मुक्ति है और ऐसी मुक्ति होने पर नित्य सनातन सुख की प्राप्ति होती है।

आध्यात्मिक जीवन सांसारिक जीवन से बिल्कुल विपरीत है। आध्यात्मिक जीवन के लिए कुछ नियमों का पालन करना आवश्यक है । आध्यात्मिक जीवन का अन्तिम फल है परम सुख की प्राप्ति। भौतिक जीवन का तात्पर्य है–पंच महाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) के सहारे चलने वाला जीवन, जिसका फल है– रोग, शोक, आदि दुखों की प्राप्ति । आध्यात्मिक जीवन का फल है–दुःखों से छुटकारा होकर अपनी आत्मा और परमात्मा में स्थिति जो सदैव सुखरूप है।

सुख–शान्ति को पाने के लिए तथा सांसारिक बुराइयों से बचने के लिए प्रत्येक कर्म में स्मृति (सावधानी) रखनी आवश्यक है। अविद्या रूपी अंधकार के कारण जन्म मृत्यु का चक्र निरन्तर चलता रहता है। आत्मा के ऊपर पड़े अविद्या (अज्ञान) के पर्दे को हटाने के लिए सत्य (विद्या) के ज्ञान की आवश्यकता है। सत्य का ज्ञान होने पर मन से संसार खो जाता है। अतः दस बन्धनों से छुटकारा प्राप्त करने का प्रयत्न करना है । ये दस बन्धन हैं– १. दृष्टि, २. संशय, ३. शील व्रत परामर्श, ४. राग, ५. द्वेष, ६. रूप राग, ७. अरूप राग, ८. मान, ९. मोह,

१०. अविद्या, और इन्हीं से उत्पन्न होते हैं काम, क्रोध, लोभ, आदि विकार तथा ईर्ष्या, मत्सर,अधीरता, भय आदि की भावनायें। ये दस बन्धन और इनसे उत्पन्न विकार संसार में बाँधे रहते हैं। संसार की दुर्गति से बचना और सुगति को प्राप्त करने से ही परम पद की ओर अग्रसर होना होता है।

संसार में रहते हुये भी सांसारिक बन्धनों से मुक्त जीवन जीने के लिए भगवान् के दस बलों की भक्ति करनी आवश्यक है। ये दस बल हैं १. मैत्री, २. करुणा, ३. मुदिता, ४. उपेक्षा, ५. क्षमा, ६. शील, ७. दान, ८. वीर्य, ९.ध्यान, १०. प्रज्ञा। आठ बलों के उपजाने से सांसारिक बन्धनों से मुक्ति मिलती है और ध्यान तथा प्रज्ञा बलों से सत्य प्रकट होता है।

आध्यात्मिक जीवन ही एक मात्र मोक्ष का मार्ग है और वही परम पद है। प्रमादरहित होकर चलने वाले साधक को यह पद जल्दी ही प्राप्त हो जाता है । प्रकृति के चंगुल से छूटकर अपने अन्दर ही आत्मा का सुख प्राप्त करें तो परमपद की प्राप्ति में समय सीमा भी कम हो जाती है।

जीव मात्र के कल्याण के लिए श्री स्वामी जी महाराज की वाणी से प्राप्त अमृतकण संसार, आत्मा और परमपद को समझने के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करते हैं। इन प्रवचनों के पठन, मनन और निदिध्यासन से आध्यात्मिक जीवन जीने की प्रेरणा निःसन्देह रूप में प्राप्त होगी ऐसा विश्वास है। अन्तर इतना ही है कि हम कितनी गम्भीरता से इसमें प्रवेश कर पाते हैं। स्वामी जी का यह महान् उपकार मानव के लिए सच्चा मार्गदर्शन है। हम पूज्य स्वामी जी के प्रति हृदय से आभारी हैं एवं श्रद्धापूर्वक नमन करते हैं, जिन्होंने अपनी अनुभूतियों और साधना के कण, सभी को सत्य के ज्ञान के लिये सुलभ कराये हैं।

–गणेश द्विवेदी (शास्त्री)

प्रवचन

दिनांक १६–१२–८६

यह आध्यात्मिक जीवन का सत्संग है । आध्यात्मिक जीवन का तात्पर्य या प्रयोजन यही है कि अपनी आत्मा के अन्दर जीने का रास्ता मिल जाये । अपनी आत्मा में ऐसा जीवन चला जाये कि जिससे वह बिखरा हुआ बाहर का मन अन्दर एकत्रित (इकट्ठा) हो जाये अर्थात् संसार से बिछुड़ कर केवल अपने आप में एकाग्र हो जाये । जैसे नींद में मन इकट्ठा हो जाता है, तो मनुष्य को बहुत सुख व शान्ति प्राप्त होती है । कारण कि उस समय मन के अन्दर संसार की कोई भी उलझन नहीं होती है और मन संसार को ठुकरा कर ही नींद में आता है । नींद में सोये हुए को इतना आनन्द होता है कि यदि कोई उसको नींद से जगादे, तो वह नींद से उठने वाला दुःख मानता है,क्योंकि नींद से उठने पर उसका सुख बिगड़ता है । नींद के समय किसी प्रकार की कोई शंका, भय व बन्धन नहीं होता है और श्वाँस भी बड़े आराम से चलता है । जैसे नींद में सोये हुए किसी प्राणी को आप देखते हैं कि वह बड़े लम्बे लम्बे खर्राटे मारता है । कारण कि नींद में ज्ञानदेव स्वतन्त्र होकर के रोम रोम तक अपना स्पर्श लेता है । रोम रोम के अन्दर से श्वाँस की गति होने से वह ताजगी का अनुभव करता है । सारी बाहर बिखरी हुई शक्ति का संसार से बिछुड़ कर नींद में जब अपने मन में प्रवाह हो जाता है, तो उसका आनन्द आने लगता है । इसी प्रकार जागते जागते भी अपने मन को सारे संसार से बिछोड़ कर (अलग करके) अपनी आत्मा में अर्थात् अपने आपे में एकत्रित (इकट्ठा) करना है । तब जैसे निद्रा में सुख का अनुभव होता है, इसी प्रकार जागते-जागते भी वह सुख हमारे साथ बना रहेगा ।

यही अपनी आत्मा का सुख अन्त में सदा बना रहने वाला कल्याण स्वरूप से हमारे अनुभव में आता रहेगा । परन्तु जागते जागते ऐसा सुख अनुभव करने के लिये सारे संसार से मन को मुक्त करना पड़ेगा अर्थात् मन को संसार के सकल (सारे) बन्धनों के जाल से छुड़ाना पड़ेगा । यही बन्धनों से छूटना रूप मुक्ति है और ऐसी मुक्ति होने पर यही नित्य सनातन सुख, सदा बना रहने वाले के रूप में हमें प्राप्त होगा ।

२. श्रद्धा रख करके, किसी दूसरे से सुन करके या पुस्तकों से पढ़ करके अपने जीवन को देखे कि इसका अन्त कहाँ है और हमारा हित (भलाई) किसमें है ? आध्यात्मिक जीवन की परख करके इसकी पहचान करे और नियमों का पालन करे । ऐसा करने के लिये अपनी आँख , कान व रसना (जिह्वा) को भी रोके और खाने पीने की आदत रूप शक्ति पर भी संयम (काबू) करे । दूसरों के सुख को देखकर अपने मन में चिढ़े नहीं अर्थात् जले नहीं, दूसरों को दुःखी देखकर के दया भाव रखे दूसरों के गुणो को तो पहचाने तथा उनकी वाह वाह (प्रशंसा) भी करे और अवगुण किसी के भी नहीं देखे अर्थात् दूसरों के अवगुणों और पापों की ओर ध्यान ही नहीं दे । थोड़ा अपने आप दुःख सहन कर ले, परन्तु बाहर संसार में किसी का भी बुरा करने के लिये नहीं चले । इस प्रकार यह सब अपना आत्म–संयम है ।

बाहर के स्वार्थों के कारण से मनुष्य न जाने क्या क्या करने के लिये तैयार हो जाता है । भड़काव में आकर के जो कुछ भी वह करता है, वह अच्छा नहीं होता है अर्थात् भड़काव में किया गया कर्म अपने हित के लिये नहीं होता है ।

मनुष्य उद्वेग (जोश) में केवल दूसरे का बुरा करने की सोचता है । दूसरे का अहित तो होगा या नहीं होगा, इसके बारे में अभी कुछ भी नहीं पता है, परन्तु उसका अपना अहित (बुरा) इस प्रकार की सोच से अवश्य हो जायेगा । दूसरे का बुरा करने का परिणाम (नतीजा) यही है कि उसके अपने

मन में हमेशा शंका व भय होने के कारण से वह आराम से अपना खाना पीना भी नहीं कर सकता और न ही आराम के साथ नींद ले सकता है। ऐसी अवस्था में यदि अपना मान (मैं) भी जाता है तो उसको जाने दे और अपमान के दुःख को भी सहन कर ले,परन्तु अपमान के दुःख के कारण कोई मिथ्या करने को प्रवृत न हो। हिंसा, उग्रता या कोई मिथ्या (खोटे) काम करने वाला मनुष्य अपने जीवन काल में सुखी नहीं हो पाता है और न ही मर करके सुखी होता है।

३. जन्म से मनुष्य को जो जीवन मिलता है वह भौतिक जीवन है, जिसमें बाहर संसार में ही जीने का रास्ता है। संसार में जब से बालक (बच्चा) उत्पन्न होता है,तो उसका जीवन बाहर संसार का ही है अर्थात् बाहर संसार में ही बहता रहता है। क्योंकि उसकी पाँचों ज्ञान इन्द्रियाँ,आँख,कान, नाक, जिह्वा(रसना) और त्वचा(चमड़ी) बाहर की तरफ खुली हुई होती हैं। इन इन्द्रियों से वह बाहर ही सब को पहचानता,देखता और सुनता है। जो प्राणी व पदार्थ सुख देते हैं, उनको ग्रहण करना और जो दुःख देते हैं, उनका त्याग करना ही राग द्वेष कहे जाते हैं।

यह सारा राग द्वेष का झगड़ा बाहर के जीवन का है। उपनिषदों में आता है कि ब्रह्म ने इस सृष्टि की रचना की और सब इन्द्रियों को बहिर्मुख कर दिया। यह तो इस प्रकार से इन्द्रियों की हिंसा ही हुई कि मनुष्य को बहिर्मुख प्रेरित कर दिया। इसलिये बाहर के प्राणी व पदार्थों को तो सब जानते हैं और उनको अन्दर के बारे में कुछ भी पता नहीं है अर्थात् मनुष्य के अन्दर जो आत्मा का सुख अज्ञान के पर्दो में रहता है अर्थात् छुपा रहता है, कारण कि इन्द्रियाँ बाहर की ओर खुली हुई हैं । इसी के कारण से रोग, शोक व व्याधियाँ आती हैं।

४. संसार में जीव बेचारा बचपन से ही बाहर बह रहा है। इस संसार में ही थोड़ा सुख व अपनी भलाई समझ करके

वह इतना बाहर की तरफ संलग्न हो जाता है कि उन तुच्छ (सारहीन व थोड़े) सुखों को पाने के लिये वह अपने प्राण तक भी त्यागने को तैयार हो जाता है। उसके मन में कभी यह विचार आता ही नहीं कि जिस संसार की ओर मैं लग रहा हूँ, उसका अन्तिम फल क्या होगा ? इस संसार के सुख में कितनी मिठास है और यह बनी रहने वाली भी है या नहीं और अन्त में इसकी समाप्ति (खात्मा) कहाँ है ?

इसीका तात्पर्य (मतलब) है कि उसके मन में अविद्या का पर्दा पड़ा हुआ है। जीव इस अविद्या के इतने चक्कर (घेरे) में पड़ गया है कि अब उधर से वापिस भी नही आ सकता, कारण कि प्रकृति (अविद्या) ने शक्ति रूप से उसको जकड़ रखा है और जीव भी उसी में घूमता रहता है। उस अविद्या का बन्धन इतना बढ़ गया है कि उसको छोड़ने में डर लगता है कि यदि मैं इस बन्धन से किसी प्रकार छूट भी गया, तो पता नहीं कि मेरा क्या खो जायेगा ? वह जीवन भर इसी सोच में पड़ा रहता है। वह अपने बच्चों के लिये भी चिन्ता करता रहता है और अपने व्यापार धन्धों को चलाने के बारे में भी सोच में पड़ा रहता है। वह अपना स्वास्थ्य (तन्दुरुस्ती) के लिये भी सोचता रहता है। इस प्रकार हर समय की सोच में वह मन की शक्ति भटकी हुई, मस्तिक (दिमाग) के रोग ही पैदा करेगी व दिल का दौरा बन्द करेगी। जिस समय ये बीमारियाँ हो गई अर्थात् दिमागी रोग बगैरह हो गये, तो ऐसी अवस्था में चाहे आपके पास करोड़ो अरबों रुपये हैं; वे आपके लिये किसी भी काम में आने वाले नहीं अर्थात् बेकार हैं । ऐसे रोगों की पीड़ा से वह मरने को ही तैयार रहता है और चाहता भी यही है कि जल्दी ही मृत्यु (मौत) आ जाये। इस प्रकार सारी आयु के जमा किये हुए रुपये पैसे (धन दौलत) अन्त में उसे कोई सुख नहीं दे पाते हैं और शरीर छूटने से पहले ही उसका साथ छोड़ देते हैं।

५. बच्चे में तो संसार का बबाल (जाल) अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है । इस बचपन की अवस्था में उसको खाने पीने (भोजन) की भी कोई चिन्ता नहीं है । वह अपनी मौज मस्ती में रहता है । जो मिल जाता है, वही खा लेता है । जैसा तैसा भोजन मिलने के बाद वह जानता ही नहीं कि इस संसार में क्या हो रहा है और क्या नहीं हो रहा है ? इसीलिये वह आराम से अपनी मौज में खेलता है और वह संसार की तरफ ज्यादा देखता ही नहीं है । उसको कोई परवाह नहीं कि अखबार रेडियो में क्या क्या बातें आती हैं, चाहे आप कितना ही मन लगा कर उनको सुनते रहो । उस बच्चे को कुछ पता नहीं कि कहाँ पर एटम बम्ब फटते हैं और कहाँ पर क्या क्या होता है ? वह अपनी मौज में है, कारण उसके अन्दर अभी तक किसी प्रकार की शंका व भय पैदा ही नहीं हुआ है और किसी प्रकार की वस्तुओं की उसको परवाह ही नहीं है । चाहे वह बेचारा गरीब घर में पैदा हुआ है,सूखी (खुश्क) रोटी ही खाता है और उसे किसी वस्तु के लाभ और हानि के बारे में विचार तक भी उत्पन्न नहीं होता । उसको यह परवाह नहीं है कि उसकी रोटी चुपड़ी हुई अर्थात् मक्खन घी के साथ नहीं है । वह बच्चा तो अचार,चटनी के साथ रोटी खा लेता है **और** कभी कभी खाली सूखी रोटी खाते हुए भी हिचकिचाता नहीं व दाल सब्जी नहीं होने की उसको कोई परवाह नहीं है ।

इसका कारण यही है कि अभी उसके अन्दर मन की इच्छा के अनुसार स्वादिष्ट भोजन खाने का राग बन्धन नहीं आया है । जब राग नहीं आया है, तो समझो अभी द्वेष भी उसके अन्दर नहीं आ पाया है । उसके अन्दर अभी अच्छा भोजन खा लेने का मान भी नहीं है और न ही अच्छा खाना नहीं मिलने का उसको मोह है कि " हमको तो अच्छा भोजन मिलता ही नहीं" ये सब बन्धन बड़ी आयु के मनुष्य के अन्दर तो होते हैं, जो कि एक दूसरे को देखकर ही अपने अन्दर

आ जाते हैं। बच्चा तो अपनी मौज मस्ती में कहीं आवाजें सुन रहा है, बहते हुए पानी को देखकर हँस रहा है, ठण्डी ठण्डी चलती हुई हवा में खेल रहा है और उसको संसार की कोई भी चिन्ता नहीं है। वह चेतन शक्ति उस बच्चे के अन्दर तो अपने आप में डोल रही है अर्थात् आनन्द में खेल रही है। इसीलिये उस शक्ति का कुछ सुख तो उस बच्चे को भी मिल रहा है, जो कि मुक्त पुरूष को तो पूर्ण रूप से मिलता है कारण वह शक्ति बाहर ज्यादा फैली व भटकी हुई नहीं है। इससे भी ज्यादा सुख इन्द्रियाँ बन्द हो जाने पर प्राप्त होता है। जैसे नींद में सुख मिलता है, क्योंकि इन्द्रियाँ संसार से लौट कर उस समय बन्द होती हैं और उनसे प्राण–शक्ति भी बाहर भटकनी बन्द हो जाती है।

आँखे बन्द होने पर मनुष्य को कोई पता नहीं चलता कि संसार में रूप रंग भी होते हैं। जब कान बन्द हो गये, तो बाहर के शब्द (आवाजों) के बारे में कुछ भी पता नहीं रहता कि आवाजें भी कुछ सुनने के लिये होती हैं। इस प्रकार देखने व सुनने से होने वाली शंका व भय भी नहीं रहते हैं। बाहर की सुगन्धियाँ व दुर्गन्धियाँ लेने के लिये नाक भी काम नहीं करती है। उस समय नींद में जिह्वा का भी कुछ काम नहीं रहता और चमड़ी भी स्पर्श करना (छूना) बन्द कर देती है। यदि यही अवस्था ध्यान में जागते जागते हो जाये और बाहर बिखरी हुई शक्ति का प्रवाह अपने अन्दर बहुत नजदीक से हो जाये अर्थात् जागते जागते प्राण शक्ति (जीवनी शक्ति) अपने अन्दर एकत्रित (इकठ्ठी) हो जाये, तो उस मनुष्य को अपनी आत्मा में बहुत सुख (आनन्द) मिलता है। ऐसा सुख प्राप्त होने की अवस्था में वह मन ही मन कहता है कि " हे भगवान् , यह मेरा आनन्द कहीं मेरे से बिछुड़ नहीं जाये " अर्थात् छूट नहीं जाये। इसे मोक्ष की अवस्था कहते हैं।

६. इस मोक्ष की अवस्था को पाने के लिये थोड़ा ध्यान में बैठ कर विचार जगाये। विचार जगाने के लिये अपने दिन

भर के किये गये कर्मों को देखने लग जाये कि " मैं क्या कर्म करता हूँ व मुझे कैसे कर्म करने चाहिये, मैं किस प्रकार से संसार में अपना जीवन व्यतीत कर रहा हूँ, अर्थात् मैं कितना भोजन खाता हूँ व कितना भोजन मुझे खाना चाहिये, कितना सोता हूँ व कितना मुझे सोना चाहिये आदि आदि "? यह भी अपने विचार में लाये कि थोड़ा आदत के अनुसार मेरे से क्या कर्म बन गया है और वह जो आदत से कर्म हो गया है, क्या वह अच्छा हुआ है या बुरा हुआ है ?

यदि आदत से बुरा कर्म हुआ है, तो अपने मन में संकल्प करे कि भविष्य में मुझे उस बुरे कर्म से बचना है और अवसर (मौका) आने पर स्मृति (होश) ठिकाने रखते हुए उससे बचने का यत्न भी करे ।

केवल मन में संकल्प करने से ही आदतों के रास्ते से नहीं टला जाता है । इसके लिये स्मृति रखते हुए वीर्य (हिम्मत) को भी अपनाना पड़ता है, ताकि मौका आने पर आदत से होते हुए बुरे कर्मो से बचा जा सके व उस समय सही कर्म भी बन पायें । श्रद्धा से अपनाया गया थोड़ा धर्म का रास्ता यही है कि अपने जीवन को परखना शुरू करे कि मेरे जीवन की गाड़ी किस लाइन पर चल रही है ? अन्दर नजर (निगाह) खुलने से अन्दर के सत्यों को पहचानने वाली बुद्धि जाग जायेगी और यही बुद्धि अविद्या को समाप्त करेगी अर्थात् उस अविद्या को जिसने अपने आत्मा के सुख को छुपा रखा है । अन्दर निगाह खुलने पर वह विचार करने लगेगा कि मैं बाहर दूसरों के साथ किस प्रकार बोलता हूँ और मुझे कैसे बोलना चाहिये ? थोड़ा अपना बोला हुआ भी अपनी याद (ध्यान) में लाये तब उसको मालूम होगा कि उससे ऐसा गलत बोलना मेरे से जल्दबाजी में हो गया । परन्तु अब मुझे उससे डर लग रहा है कि कहीं वह मनुष्य मेरा अहित (बुरा) ही नहीं कर दे ? इसलिये अपने मन को समझाये कि आगे के लिये मिथ्या वाणी नही बोलना । कुछ भविष्य में अच्छे आचरण के

बारे मे सीखले कि कैसा चलना चाहिये। थोड़ा अपने आप को समझना शुरू करे। अपने कर्त्तव्य को पहचानना शुरू करे और फिर उसके अनुसार भली प्रकार से संसार में चलने की शिक्षा भी ग्रहण कर ले। यदि आपने चलना शुरू कर दिया, तो समझो आध्यात्मिक जीवन का बीज तो आपके अन्दर पड़ गया है। अपनी आत्मा में जीने का रास्ता तो खुल गया है। यह रास्ता चलते चलते वहाँ तक आपको ले जायेगा, जहाँ पहुँचने पर परम–पद की प्राप्ति होती है। और जो भौतिक जीवन का मार्ग या संसार का मार्ग है, उसका भी ध्यान तथा ज्ञान द्वारा पता लगेगा कि जिस जगह यह मार्ग ले जा रहा था, इसमें कुछ भी मिलने वाला नहीं है और अन्त में इसका (संसार का) सुख भी नहीं रहना है और दुःख बीमारियाँ ही जीवन में आयेंगी और परलोक में उसके हित का संशय ही रहेगा।

७. भौतिक जीवन की जितनी भी व्याधियाँ और दुःख हैं, चाहे वे देह,मन या आत्मा के हो, उन सब को शान्त करने के लिये अन्दर का अपना एक उपाय है और इन बीमारियों का उपचार (इलाज) बाहर की कोई भी दूसरी दवाइयाँ नहीं कर सकती। इन सब दुःखो को दूर करने के लिये बस एक ही चिकित्सा (इलाज) है कि जो वस्तु जहाँ है, वही पर उसको पटक दो और पटक करके अपने मन से उसको उतार करके ऐसे भूल जाओ कि जैसे हम कभी उस वस्तु को जानते ही नहीं थे। जब वह वस्तु मन से उतर गई तो मन उसको भूल कर अपने अन्दर भी लौटना शुरु कर देगा और जो प्राण शक्ति के बाहर बहाव व भटकने से दुःख हो रहा था, वह दुःख मन के अन्दर एकत्रित (इकट्‌ठा) होने से, सुख में बदल जायेगा। दुःख की जड़ ही, भटका हुआ बाहर वाला मन है। मन के बाहर भटकने से वह अन्दर से इतना खोखला (खाली) हो जायेगा कि उसकी देह के अंग भी ठीक कार्य नहीं करेंगे। जैसा वह मन से सोचेगा, वैसा ही अंगो को तोड़ता हुआ

उसका श्वाँस दुःखदायी रुप से चलेगा । जब हर समय चिन्ता में सोचता ही रहता है और उसके लिये अन्दर राग द्वेष की आग जला रही है, तो बाहर डर शंका भी बने रहेंगे । ऐसी अवस्था में उसका श्वाँस घुटा घुटा ही चलेगा अर्थात् उसका श्वाँस ठीक नहीं चलेगा ।

देह के अंग शक्ति चाहेंगे, जो कि प्राण के ठीक चलने से ही प्राप्त होती है । मन में सोच व चिन्ता होने से श्वाँस रुक जायेगा व पूरा श्वाँस शरीर में नहीं चल पायेगा, जो कि शरीर को शक्ति देता है । श्वाँस देह के अन्दर इतना चलेगा ,जितना चींटी में चल रहा है । परन्तु पूरा श्वाँस चले बिना तो देह का काम चलता नहीं है । जिस समय कोई भी शंका,भय व बन्धन नहीं होता है, तो श्वाँस बड़े आराम से चलता है । संसार की सोचों व चक्करों में पड़े हुए प्राणी का श्वाँस हमेशा घुट घुट कर ही चलता है अर्थात् सुखपूर्वक नहीं चलता । वही मनुष्य जब नींद में होता है, तो बड़े लम्बे लम्बे खर्राटे मारता है, कारण कि वहाँ पर ज्ञानदेव बाहर से स्वतन्त्र होकर के रोम रोम तक श्वाँस खींच रहा होता है ।

इसी लिये वह प्रातःकाल ताजा होकर के उठता है । नींद में उस प्राण शक्ति का प्रवाह संसार से हट करके अपने मंन के अन्दर हो जाने से उसका आनन्द आने लगता है परन्तु नींद ताजगी व सुख कैसे और कहाँ तक देगी, यदि चिन्ता फिकर से नींद ही आनी बन्द हो जाये ? फिर आप सुख पाने के लिये क्या करोगे ?

८. जैसे कि कहीं एक धनी व्यक्ति था । उसको अपने धन आदि की चिन्ता फिकर में नींद आनी भी बन्द हो गई । उसने आसपास और दूर तक की भी जनता में प्रकट रूप से इस बात को फैला दिया कि जो मेरे रोग की चिकित्सा कर देगा जिससे मेरे को नींद आ जाये तो मैं उसे मुँह माँगा धन दूँगा । डाक्टर पर डाक्टर आने लगे,परन्तु किसी से भी इलाज नहीं हो पाया । फिर किसी एक ने बताया कि आप अपनी सारी

सम्पत्ति का प्रबन्ध दूसरों को अर्पण (सौंप) करके, आप उसके बारे में विचार तक भी मत करो। तब ऐसा करने पर आपको नींद अवश्य आ जायेगी। आप इस संसार के जाल से पीछे हट करके हरिहर की भक्ति करो। संस्कृत में हरिहर शब्द का अर्थ यह है कि सब संसार से अपने आपको हर लेना अर्थात् संसार से निवृत्त हो जाना अर्थात संसार से विरक्त हो जाना (वैराग्यवान हो जाना)। इसलिऐ इस हर के द्वार पर पहले पहुँचने का यत्न करे। यदि यह आप कर सके, तो आप बच जाओगे।

पहले तो उस धनी व्यक्ति को उस व्यक्ति के कथन से दुःख हुआ कि यह व्यक्ति मेरे जीवन भर मे कमाये हुए सुख के साधन रूप धन को छोडने के लिऐ कह रहा है। परन्तु उसने अपने मन में विचार किया कि यदि मैंने इसी तरह से दुःखी होना व मरना ही है तो यह पैसा फिर क्या करेगा अर्थात् यह धन सम्पति सब मेरे लिऐ व्यर्थ का बोझा है। इस प्रकार विचारने पर उसके मन मे ज्ञान जन्म गया और उसने अपनी सारी सम्पत्ति अपने बच्चों के नाम पर करवा दी। वे सब उस सम्पति (जायदाद) के ट्रस्टी बना दिये गये और आप वह आजाद हो गया। ऐसा होने पर उसको नींद भी आ गई। अन्त में उसका स्वास्थ्य भी ठीक हो गया और कई वर्षों तक जीवित रहा।

६. इस ऊपर कहे हुए दृष्टान्त का तात्पर्य (मतलब) यही है कि बाहर भटके हुए मन को नींद तो शान्त कर देगी,परन्तु अन्त में यदि यह नींद ही बन्द हो गई, तो फिर क्या होगा? ऐसी अवस्था में फिर मृत्यु (मौत) की ही शरण लेनी पड़ेगी और फिर ऐसे दुःखी मनुष्य जहर खाकर ही मरना चाहेंगे इस दुःख से बचने के लिए एकान्त में बैठ करके थोड़ा ध्यान करना कि जिस धन आदि के लिये हमने चिन्ता फिकर की और इतना संसार में उलझे रहे, वह हमारा कितना भला (कल्याण) करने वाला है ? फिर ध्यान में पता लगेगा कि

लाभ तो वह क्या करेगा ? परन्तु अन्त में हाय २ करके दुःख दिखा २ कर ही मारेगा । अविद्या के कारण मनुष्य को इस सत्य का पता ही नहीं लग पाता । इस जीवन के सत्य को पाने के लिये ध्यान करे और ध्यान में जिधर मन जा रहा है, जिन २ वस्तुओं की कामना (इच्छा) कर रहा है उन सबको ही पहिचाने । जैसे २ मन बाँध रहा है व देह के रोग उत्पन्न कर रहा है; उन सारे रोगों को पहले अपने अन्दर समझ करके इनकी जड़ काटने का यत्न करे । सब रोगों की जड़ ये दस बन्धन ही है, जिनके नाम इस प्रकार है– दृष्टि, संशय, शीलव्रत परामर्श, राग, द्वेष, रूपराग अरूपराग, मान,मोह, व अविद्या ।

जैसे आप रात के समय भोजन आदि करके आराम से बैठे हैं । उस समय आपके मन में एक नजर बन गई कि वह मनुष्य मेरे को सुख से जीने नहीं देगा ऐसी उस मनुष्य की अपने मन में दृष्टि (नजर) बनते ही इस दृष्टि (नजर) ने झटपट अपनी सृष्टि रच दी । दृष्टि ने ही मन के अन्दर उसके बारे में द्वेष की आग जला दी, कोध आ गया, मान भड़क गया, व सोचों में पड़ गया । अब सोचों में पड़े हुए को कोई पता नहीं है कि पास (नजदीक) में रेडियो भी बज रहा है ओर क्या क्या हो रहा है । वह तो एक अपनी सोचने की धुन में पड़ा हुआ है अर्थात् धुन में खोये जा रहा है । उसको यह भी नहीं पता कि उसकी नींद के घंटे निकलते जा रहे है, वह लेटना भी चाहता है, परन्तु क्या करे नींद ही नहीं आती । ऐसी अवस्था में यदि वह अपना हित चाहता है तो धर्मात्मा बन जाये, विचार अपने अन्दर जगाये व द्वेष को छोड़े । अपने मन को समझा समझा कर प्रेरित करे कि किस कारण से उसको वैरी समझ रहा है ? हे मना ! तूँ भी तो कुछ उसके सामने बना होगा; तेरे कारण से ही कुछ उसका बर्ताव भी ऐसा हो गया है अब उसके बर्ताव की जब तेरे अन्दर आग लगाने वाली मिथ्या दृष्टि बनती है; अर्थात् उसकी

नजर बनती है , तो तब तेरे अन्दर आग लगती है । तू क्यों मिथ्या अहंकार करता है ? यह विचार ही उपाय हैं । दूसरा कोई उपाय इस दृष्टि बन्धन व द्वेष की आग से बचने का नहीं है ।

चाहे आज यह उपाय नहीं भी बन पाये तो भी कुछ वर्षों में जाकर के अवश्य सफल हो जायेगा । किसी भी बीमारी का इलाज करने के लिये दवाइयाँ भी तो बहुत लम्बे समय तक सेवन करनी पड़ती है । ये सब मिथ्या सोचों की बीमारियाँ है । इन सोचों का कारण यही है कि अनावश्यक मन संसार में फैलता जा रहा है और अपनी शक्ति को बाहर ही भटकाता जा रहा है अन्त में वह इतना खोखला (थोथा) हो जाता है कि देह के सब अंगो को श्वाँस तक भी उचित मात्रा में नहीं मिलता, रक्त (खून) का दौरा भी ठीक तरह से नहीं होता, सारे अंग तड़फते रहते है । जब अंग तड़फते हैं, तो क्या पता वे कितने प्रकार के विचार पैदा करते है डाक्टर किसी भी रोगी को कह तो देते है कि सोचना बन्द करो, चिन्ता मत किया करो । परन्तु कर सकना उसके वश (काबू) की बात नहीं है, कारण कि वह प्रकृति (आदतों) की शक्ति द्वारा ही चलाया जा रहा है ।

ऐसा करना उसके लिये तो सम्भव हो सकता है जो मनुष्य आध्यात्मिक जीवन पर चले, थोड़ी श्रद्धा रखे, थोड़ा त्यागी होवे, थोड़ा दुःख भी सहन करे और एकान्त में ध्यान में बैठकर अपने अन्दर ज्ञान उपजाये । यही रास्ता है इसी सारे का नाम आध्यात्मिक जीवन है, जो कि भौतिक जीवन के विपरीत (उल्टा) है, कारण कि भौतिक जीवन बाहर संसार में ही बहते रहने का है, जिसे बहिर्मुख जीवन भी कह सकते है और आध्यात्मिक जीवन बाहर से मुख मोड़कर अपने अन्दर जीने का है जिसे अन्तर्मुख जीवन भी कह सकते है ।

१०. भौतिक जीवन में इन्हीं पाँच भूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु व आकाश) के संसार में रूलते (भटकते) रहना है । इधर

आध्यात्मिक जीवन के बारे में सोचने को भी भौतिक जीवन में स्थान नहीं है किस प्रकार से हमारा किया हुआ भविष्य में हमारे सामने आयेगा उसके बारे मे कोई चिन्ता व विचार ही नहीं है। इसलिये कम से कम किसी से थोड़ा सुनकर के या धर्म ग्रन्थों से पढ़ करके थोड़ी श्रद्धा रखे। और अपने अन्दर ज्ञान उपजा करके कुछ सही प्रकार से चलना सीख ले और पुनः वैसे ही चले। अभी तो कुछ उसने श्रद्धा से सीखा है। फिर थोड़ा ध्यान करने से अन्दर के सत्य भी पहचानने में आने लगेंगे। ध्यान से ही पता लगेगा कि थोड़ा उल्टा सीधा काम करने से मन के बीच में आग तो अवश्य ही लगती है। इस प्रकार विचार करने से यदि अपना मन समझ में आने लग गया और उसका ठीक रास्ते पर चलाने की भी कोई शिक्षा पा ली, तो समझो आध्यात्मिक जीवन अर्थात् अपनी आत्मा में जीने का रास्ता आपके लिये खुल गया। अब आप प्रत्येक कार्य को ध्यान से करने का यत्न करें। यदि खाना खा रहा हूँ, तो खाने का भी पता है कि कितनी मात्रा में कैसे भोजन कर रहा हूँ व मुझे कितना भोजन (खाना) चाहिये। इन सारी बातों में जब उसकी सुरत ठिकाने बनी रहेगी, तो वह मनुष्य समझता रहेगा कि उसे क्या कर्म करना चाहिये व क्या कर्म नहीं करना चाहिये ? उसे यह भी पता चलेगा कि क्या किया हुआ कर्म कैसे फल देता है। और कैसे कैसे विकार उसके मन में जाग रहे हैं ? जैसे कि वह स्नान कर रहा है, तो उसको पता चलेगा कि किसी का वैर मन में बह रहा है, किसी का बुरा करने की मन सोच रहा है। दातुन करते समय मन को खाना खाने की इच्छा हो रही है व खाने की भी वह वस्तु चाह रहा है, जो ज्यादा जरुरत की भी नहीं है। यह सब मन का बबाल समझ में आयेगा।

११. यदि हर समय स्मृति (होश) ठिकाने रखेंगे और एकान्त में ध्यान करेंगे, तो अपने मन का भी पता लगने लगेगा। इस प्रकार ध्यान में मन का पता लगने से अन्दर नासमझी रूप

अविद्या या अज्ञान, जो मनुष्य को उल्टे रास्ते पर चलाता है, वह भी पहचानने में आयेगा अैर तब टलने भी लगेगा और स्वयं व्यक्ति उन सबको टालने के लिये प्रेरित भी होता रहेगा। अन्दर के और भी सब सत्य जैसे राग द्वेष आदि बन्धनों के बारे में भी पता लगने लगेगा। अन्त में एक दिन यह ज्ञान होगा कि हम तो केवल"तूँ तूँ मैं मैं" के ही जाल में पड़े हुए थे और वह भी मामूली झूठी वस्तुओं को पाने के लिये, जिनके सुख सदा बने रहने वाले भी नहीं हैं। इन सांसारिक वस्तुओं ने तो दुःख ही पैदा करने हैं अर्थात् देह में बीमारियाँ, मन में शोक व दुःख और बाहर नाना प्रकार का अपमान का जीवन आदि देना है। भौतिक जीवन के अन्दर अन्त में यही सब मनुष्य को मिलता है।

इस प्रकार का ज्ञान संसार में सब जगह से आपकी बुद्धि को खींच लेगा और आप घंटों इसी में समाये रहोगे। अब जैसा ऊपर कहा गया है, इसके अनुसार विचारधारा पूर्ण उन्नत हो जायेगी तो आपको संसार के सब प्राणियों के जीवन का ज्ञान भी आपकी बुद्धि में जाग जायेगा। ऐसी अवस्था में आपको सब संसार का जीवन एक ही जैसा दिखाई देगा, जिसको कि प्रकृति के तत्त्व राग द्वेष आदि चला रहे हैं और आप इनकी तुच्छता को समझकर इनसे मुक्त हो गये तो आपको अपने आप में परमानन्द की प्राप्ति हो जायेगी। इस ज्ञान में आनन्द ही आनन्द है। ऐसे साधक को मन में अब ज्ञान होगा कि जो हमको चाहिये था, वह हमको मिल गया है और जो आनन्द चाहिये था, वह भी देख व पा लिया है। अब चाहे कुछ भी हो जीवन काल में हम इस आनन्द का पीछा छोड़ने वाले नहीं है। ऐसे ज्ञान व आनन्द की अनुभूति होने पर व्यापक जीवन रूप परमात्मा की भक्ति और भी अधिक बढेगी। इसका कारणं यह है कि पहले तो वह भक्ति श्रद्धा और कर्तव्य रूप से हो रही थी और अब थोड़ी ज्ञान के साथ हो गई है। इस ज्ञान के साथ वह भक्ति अब अनुभव व सुख

की भी हो गई है अर्थात् उस भक्ति में अब सुख का अनुभव भी हो गया है। सारे सुख व आनन्द के अनुभव को पाया हुआ व्यक्ति सारे संसार के बीच में इसी व्यापक जीवन रूप परमात्मा का दर्शन करेगा। बाहर व्यवहार के लिए तो मित्र,प्यारे, पुत्र व बच्चे आदि भी अपनी दृष्टि में आते हुए ठीक है, परन्तु वास्तव (असल) में तो एक वही चेतन है, जो कि मेरे अन्दर परमानन्द रूप से प्रकट हुआ है और जिसको पाकर मैं कृतकृत्य हुआ हूँ।

१२. भौतिक जीवन के कारण से न जाने क्या क्या दृष्टियाँ (नजरें) बनी हुई हैं। उन सब दृष्टियों से एक ही वह व्यापक तत्त्व (परमात्मा) न्यारा न्यारा जैसा दिखाई दे रहा है। उन सब दृष्टियों को हटा करके उस एक चेतन (परमात्मा) की ही नजर रह जायेगी अर्थात् सब के अन्दर उस व्यापक तत्त्व पर जब आपकी नजर टिक जायेगी तो वह चेतन फिर और नजदीक से आपके ध्यान में आयेगा। ऐसी अवस्था में वही सत्य को अनुभव करने वाला परमात्मा को सन्मुख सर्वत्र देखता हुआ कहेगा कि बस "तूँ ही तूँ" है। इस संसार में "मैं" "तूँ" (मेरी तेरी) का सब झूठा ही जाल है। वह चेतन एक ही है। अब और कुछ कहने सुनने का शेष (बाकी) नहीं है। जब कुछ भी कहने सुनने का नहीं है, तो वह शान्त अवस्था में अपने आप में टिका हुआ आनन्द (मस्ती) में है। उसका किसी ओर जाने का इरादा ही नहीं है। चाहे इस अवस्था में करोड़ों अरबों वर्ष भी व्यतीत हो जाये, तो उस परमानन्द ज्ञान रूप प्रभु से कभी भी उसका मन खट्टा नहीं हो सकता। और जितने भी बाहर के सुख हैं, वे सब क्षणिक व समाप्त होने वाले हैं। जैसे कि नींद का सुख है। वह नींद भी चार छः घंटे आई और फिर सोने को मन ही नहीं करता। इस तरह नींद का सुख भी थोड़ी देर रहने वाला है। जब आँख खुल जाती है, तो तृष्णा कहती है कि "अब चाय पीने का समय हो गया" व " इसके बाद (अमुक) संसार

का काम करना है।" अब तृष्णा वाला मन सोना ही नहीं चाहता, चाहे कितनी मिठास भरी नींद आ रही हो, कारण कि मन बाहर संसार में उलझ गया है। तृष्णा मन में आने पर वह मन का देवता अब सोना ही नही चाहता और बाहर ही सुख के लिये लपकता रहता है। बाहर के सब सुख किन्ही निमित्तों (शर्तों) से बन्धे हुए हैं व सदा टिके रहने वाले भी नहीं हैं। अपने आत्म सुख में बिना शर्त के अर्थात् बिना किसी बाहर के दूसरे निमित्त के अपना आपा ही आनन्द रूप है। वह आनन्द कभी भी समाप्त होने वाला नहीं है और इतना मन को पकड़ने वाला है कि इसको छोड़ कर दूसरी किसी वस्तु की याद तक भी नही रहती, उस वस्तु को पाने की इच्छा तो दूर रही। तब उसको अनुभव होता है कि जो जानने का था, वह जान लिया, जो पाने का था वह पा लिया। अब कुछ भी करने, जानने व पाने का नहीं रहा।

१३. इन दो प्रकार के जीवन के बारे में मनुष्य को स्वयं अपने अन्दर में समझना चाहिये कि हम सब भौतिक जीवन (बाहर के जीवन) में बह रहे हैं और इस जीवन का अन्त केवल दुःख रूप ही है। इस जीवन में तो यही मिलना हैं कि अन्त में कान बहरे हो जायेंगे अर्थात सुनाई नहीं देगा, आँखे अन्धी हो जायेंगी अर्थात कुछ भी दिखाई नहीं देगा, मन हमेशा दुःखी रहेगा, श्वाँस घुट घुट कर चलेगा व कई प्रकार की हृदय,पेट व मस्तिष्क (दिमाग) की बीमारियाँ हो जायेंगी। उन सब बीमारियों की चिकित्सा (इलाज) केवल एक ही है कि उन सबसे मन मुक्त (छूट) हो जाये अर्थात् उनसे भौतिक जीवन के सब बन्धनों से मन हट जाये और इस प्रकार हम बीमारी को उत्पन्न ही क्यों होने दें ? अर्थात् हम इतनी दूर तक ही क्यों जावें कि किसी भी प्रकार की बीमारी को पहले अपनी देह के अन्दर उत्पन्न होने देवें और फिर उसका उपचार करने के लिये सोचें ? इसीका सरल उपाय यही है कि अपने बिखरे हुए मन को बाहर से एकत्रित करके अपने

अन्दर लायें, जिससे कि प्राण शक्ति भी देह के अन्दर आकर सुचारु ढंग से अंगों को चलाये या पुष्ट करे। इसलिये यही कहा गया है कि मनुष्य २५ साल की आयु से लेकर ४० साल की आयु तक सम्भलना शुरू कर देवे।

वह मनुष्य तो बड़ा भाग्यवान है, जो बुद्धि आते ही अर्थात् होश सम्भालते ही, १८ से २५ वर्ष की आयु के अन्दर ही सम्भलना शुरू कर देता है। यदि ऐसा नहीं हो पाता है तो ४० वर्ष की आयु तक तो अवश्य ही सम्भलना शुरु कर दे।

चालीस वर्ष की आयु से पहले पहले, जो भी खोटी आदतें पड़ी हुई हैं, उनको बड़े आराम से दूर कर सकते हैं। परन्तु ४० वर्ष की आयु के बाद जो भी आदत हमारे अन्दर रह जायेगी, वह फिर ऐसा बल पकड़ जाती है कि आप यदि उसको हटाना भी चाहेगें, तो मन में तंगी (क्लेश) अधिक होगी। इसके हटाने में तन (शरीर) में भी कष्ट अधिक होगा। आप यदि कष्ट को सहन कर सकते हैं, तो आप उस आदत को दूर कर पायेंगे। यदि आपको कष्ट सहन करने की आदत तब नहीं बन पाई तो खोटी आदत कोई भी सुधर नहीं पायेंगी। आपका मन इस प्रकार के बहाने करेगा कि क्या करेंजी, "हमारे से तो कुछ बन नहीं पाता"। अब आप यही कहोगे, कि मन आदत छोड़ने में दुःख, मान रहा है और उस दुःख को टालना चाहता है ताकि आदत का सुख ही मिलता रहे।

यह ठीक है कि चालीस वर्ष की आयु के अन्दर अन्दर किसी प्रकार की खाने की पड़ी हुई आदत से भी छुटकारा पाया जा सकता है। परन्तु देह धारण करने के लिये रोटी तो छोड़ने की जरुरत नहीं है। इसके अतिरिक्त कई ऐसी वस्तुएँ मनुष्य के साथ लग जाती हैं या आदत में पड़ जाती हैं,जिनको किसी खोटी संगत के कारण मनुष्य उन्हे अपना लेता है, जिनका पहले कभी विचार तक भी नहीं किया था। परन्तु आदत वश वे अपनायी गई वस्तुएँ ज्यादा दिन तक हितकर (भला करने वाली) नहीं होतीं अर्थात् मनुष्य का अन्त

भला करने वाला नहीं होती व शरीर में रोग व्याधियाँ और मन में शोक चिन्ता आदि उत्पन्न करती हैं। शोक चिन्ता के कारण उसका जीवन सदा के लिये उलझन में पड़ जाता है। ऐसी अवस्था में उन सब खोटी वस्तुओं व कर्मों को छोड़ने के लिये, यदि चालीस वर्ष की आयु के अन्दर अन्दर प्रयत्न होने लग गया, तो अधिक क्लेश (तंगी) नहीं होगा क्योंकि तब तक यौवन की ताकत तथा कुछ भी करने का उत्साह बना रहता है तब उनकी खोटी आदतें छूट भी सकेंगी। उन आदतों की याद अवश्य कभी कभी मन में आया करेगी। शरीर व मन में बल इस आयु तक पर्याप्त (काफी) मात्रा में रहता है। इन आदतों को एकदम बलपूर्वक (जोर लगा कर) छोड़ना उचित नही है, कारण कि ऐसा करने से ये शक्ति रूप से बैठी हुई आदतें मन को भी बिगाड़ देती हैं और फिर समाज में रहते हुए उसका व्यवहार दूसरों के साथ ठीक नहीं हो पाता है।

१४. इसलिये धीरे धीरे यदि आप इन आदतों को छोड़ना चाहेंगे, तो यह कोई बड़ी बात भी नहीं है और आप आसानी से ऐसा कर भी पायेंगे। आदत का बबाल छूटने पर सब जगह मन भी लगने लग जायेगा। परन्तु ऐसा करने के लिये अर्थात् आदत का सुख छोड़ने के लिये तंगी को थोड़ा तपस्या रूप से सहन करना पड़ता है। इससे यही होता है कि जो सोच (विचारधारा) संसार में बाहर भटक रही थी, वह इधर अपने आपमें जाग जायेगी। मन के जागने पर अपना आपा दीखने लग जायेगा। जब अन्दर ध्यान लगने लग गया, तो अन्त में संसार के प्राणी व पदार्थों से बेपरवाही हो जायेगी अर्थात् यदि वे मिल जायें, तो ठीक है और यदि नहीं भी मिलते हैं, तो भी ध्यान में लगे हुए मनुष्य को उनका अभाव (न होना) महसूस नहीं होता है। अन्दर ध्यान लगने से यही समझा जायेगा कि मन लगाने का आपको मार्ग (रास्ता) मिल गया। मन अन्दर तब तक नहीं लगता, जब तक उसको ज्ञान

नहीं मिलता है । ज्ञान के बिना वह अपने आपको पत्थर जैसा अनुभव करता है परन्तु ज्ञान तो भटका हुआ है कि " बाहर संसार में ही प्राणियों को पहचानो, वस्तुओं को जानो, उन्हीं के बारे में अपने भाव बनाओ ।" यही सब राग द्वेष, काम, क्रोध इत्यादि बाहर संसार में भटके हुए मन (ज्ञान) की उपज है । बाहर उलझे हुए जीवन की गाड़ी ऐसी लाइन पर चल रही है कि आपको इसे चलाना ही नहीं पड़ रहा है अर्थात् यह गाड़ी अपने आप संस्कारों व स्वभाव (आदतों की शक्ति) से चल रही है । ज्यों ज्यों आयु बढ़ती है, तो वह संस्कारों वश किया गया मिथ्या अभ्यास इतना पक्का हो जाता है और कहता है कि अब तो मेरे को हटाया भी नहीं जा सकता अर्थात् आप मुझे बदल भी नहीं सकते । यदि आप बदलना भी चाहोगे, तो बीमारियाँ शरीर में उत्पन्न कर दूँगा ,हर समय मन में शोक छाया रहेगा और पागल जैसे लगोगे । यही सब मिथ्या जीवन रोकने पर पुरानी आदतों के अभ्यास में पड़ा हुआ मन धमकियाँ देता है ।

१५. अब यदि आपने सही मार्ग अपनाने की हिम्मत करनी शुरू कर दी और ४० वर्ष की आयु से पहले पहले चेत गये और धर्म मार्ग पर चलने लग गये तो यह अति उत्तम होगा । वैसे तो मनुष्य आध्यात्मिक जीवन पर चलने के लिये जिस समय भी चेत जाये,तो वह समय भी ठीक है अर्थात् उसका इस मार्ग पर चलने से हित (कल्याण) ही होगा । परन्तु उत्तम फल की प्राप्ति चालीस वर्ष की आयु से पहले पहले ही चेतन होने में समझी जाती है, कारण कि इस आयु तक आदतें इतनी ज्यादा पक्की व शक्तिशाली नहीं होती हैं । यदि कोई मनुष्य मरते समय भी अर्थात् वृद्धावस्था में आध्यात्मिक जीवन पर चलने के लिये चेत जाता है और उसके अन्दर सही मार्ग को समझ कर धर्म की बुद्धि आ जाती है, तो यह भी उसका एक बड़ा पुरुषार्थ होगा । जब बाहर बिखरी हुई सारी समझ शक्ति का संसार से मुड़ कर अपने मन में उसका प्रवाह हो गया

और प्राण शक्ति का भी देह में प्रवाह हो गया, अर्थात् एकत्रित हो गई, तब उसका आनन्द आने लगेगा। ऐसी अवस्था में उस साधक को चाहे स्वर्ग लोक ,ब्रह्म लोक या और कोई उत्तम लोक मिले, परन्तु ऐसा साधक खोटी गति तो कभी भी नहीं पायेगा।

१६. यदि बाहर से मनुष्य का मन नहीं बिछुड़ता, चिन्ता फिकर में ही उलझा रहता है, बाहर के प्राणी व पदार्थों से सुख प्राप्त करने की इच्छा बनी ही रहती है और मन उन्हीं की ओर लपकता रहता है अर्थात् बाहरी सुखों में रंगा रहता है और उन्हीं की अपनी " मैं" भी बनी रहती है, तो यही राग है। इसे ही 'राग बन्धन' के नाम से कहा गया है। जो उन सुखों को भंग करने वाले हैं, उनसे जलन व क्रोध आता है और मन यही सोचता रहता है कि उनसे कब पीछा छूटेगा,यही द्वेष है, जो 'द्वेष बन्धन' के नाम से कहा गया है। बाहर के सुखों के मिलने पर और उनके पूरा हो जाने पर मन उन्हीं के मान वाला हो जाता है उन्हीं सुखों के मिलने पर उसे अपनी "मै" को पाता है। यदि संसार के सुख नहीं मिलते हैं, तो उन्हीं के चक्करों (सोचों) में मन पड़ा रहता है। यही सब राग, द्वेष, मान, मोह, संशय आदि बन्धनों का जाल है,जो मनुष्य को कभी भी इनसे बाहर निकल कर सुख व शान्ति नहीं पाने देता है। इन्हीं बन्धनों को समझ करके,यदि आपने उनसे अपना मन मोड़ लिया, तो आपको अन्तर्मुख हुई ज्ञान शक्ति का प्रवाह ऐसा आशीर्वाद देगा, जैसे हर समय वह आशीर्वाद आपके साथ है। ऐसी अवस्था प्राप्त मनुष्य के लिये कहा जायेगा कि उसके ऊपर दुर्गा माता या भगवान् की कृपा हो गई है। परन्तु यदि वह मन अभी इकट्ठा नहीं हुआ है, तो इसका कारण बिजली की गति के समान उसका प्रवाह बाहर ही बहते रहना है। जैसे बिजली चालू करते ही एक सैकिन्ड में लाखों मील दूर चली जाती है, इसी तरह अपने मन की भी गति है। जरा भी मस्तिष्क (दिमाग) में किसी के बारे में

सोचने से मन वहीं पहुँच जाता है, चाहे वह प्राणी व पदार्थ कलकत्ता या दूसरे देश में उपस्थित हो। मन के वहाँ जाने से, समझो वहाँ तक आपकी शक्ति भटक गई। जब आप उस शक्ति को इकट्ठा करने लगेंगे, तो मन इस समय में और कई धारायें बहा देगा आपने उन धाराओं की तरफ ध्यान न देकर अपने मन को पहले वाले स्थान से लौटाने का यत्न करना है।

१७. मन को बाहर से इकट्ठा करने का यही रास्ता है कि उसको बाहर के सुख की ओर ले जाने वाले तृष्णा रूप कारण की जड़ ही काट दी जाये। अपने मन को बोल बोल कर समझाओ कि संसार में वास्तविक (असली) सुख कुछ भी नहीं है और जो भी तुच्छ (सारहीन) थोड़े सुख दिखाई भी देते हैं, वे अन्त में दुःखों में ही समाप्त होते हैं। इस प्रकार विचार करते करते आपको ज्ञान होगा कि जब इन सुखों से कुछ मिलने वाला ही नहीं है अर्थात् इन से कुछ भी प्राप्ति नहीं है, तब इनके बारे में तो सोचना भी व्यर्थ (फिजूल) ही है। इन सांसारिक सुखों से जो कुछ मिलना था, वह किसी अवस्था व समय का ही था। अब आपने ज्ञान से समझ लिया कि इन सुखों को पाने का कोई भी फल नहीं है। इस प्रकार का विचार करना ही ज्ञान उपजाना है। ये सब अन्दर के सत्य हैं और इनकी भक्ति करनी है। सत्य ज्ञान को ही प्रज्ञा कहा जाता है अर्थात् वह ज्ञान जो किसी विषय के बारे में बार बार विचार करने से अन्तिम फल (निचोड़) के रूप में मिलता है अर्थात् वह छिपा हुआ ज्ञान जो की सांसारिक ज्ञान के मार्ग से नहीं प्राप्त होता, परन्तु ध्यान की सूक्ष्मता (बरीकी) से बुद्धि में प्रकट होता है।

इन प्रज्ञाओं की ही उपासना करते करते जैसे जैसे आपका मन बाहर के संसार से मुक्त होता जायेगा अर्थात् छूटता जायेगा, तैसे तैसे ही आप को अन्दर आनन्द मिलता जायेगा। अन्त में इस आनन्द का फल यही है कि बाहर किसी की

भी "तूँ मै" नहीं जाननी पड़ेगी और यह भी समझ में आयेगा कि जैसे मेरी "मैं" तुच्छ थी, वैसे ही सबकी "मैं" तुच्छ ही है। फिर एक ही चेतन है, जो सबकी देहों में बैठा हुआ सबका काम चला रहा है। यदि आपने उस चेतन को जान लिया और उसका आनन्द भी अखण्ड पूर्ण रूप से आपको मिलने लग गया, तो यही आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता है।

१८. यही सब मैने कहना शुरू किया था कि भौतिक जीवन तो आप सब देखते ही हैं कारण कि यह जीवन तो आप सब व्यतीत कर रहे हैं और इसके बीच में आने वाली उलझनें भी आप देख रहे है इन उलझनों के कारण ही शरीर में रोग व्याधियाँ मन में असमाप्त होने वाले शोक, जिनकी कोई दवाई भी नहीं, उत्पन्न होते रहते हैं और मन इन्हीं में उलझा हुआ अपना जीवन समाप्त कर देता है व यह परम सुख का अनुभव नहीं कर पाता है। यह जो सारा संसार का जीवन दिखाई दे रहा है, इससे विपरीत (उल्टा) आध्यात्मिक जीवन है। इस जीवन का फल यही है कि मन को इस संसार की उलझनों से मुक्त करवा करके अर्थात् सब बन्धनों से छुट्टी दिलवाकर आत्मा को एक ऐसी स्थिति में पहुँचा देंना, जिसमें इसके अन्दर का सुख अपने आपको पता लगता रहे। उसको यह भी पता चलेगा कि यह सुख तो सनातन (सदा बना रहने वाला) है और इसमें बाहर से किसी की दासता भी नहीं है। इस सुख को पाने के लिये रुपये पैसे नहीं लगते हैं अर्थात् रुपये पैसे का भी इसमें कोई खर्च नहीं है। इस सुख को प्राप्त करने के लिये केवल अपना यत्न ही काम में आता है। आप चुपचाप इस आध्यात्मिक जीवन पर चलते रहो और किसी को खबर करने की भी आवश्यकता नहीं है कि मै कैसे रहता हूँ ? इस जीवन में किसी भी प्रकार के बाहरी दिखावे (प्रदर्शन) की आवश्यकता नहीं है, केवल अपने जीवन को कुछ नियमों मे रखकर चलना पड़ता है, जैसे कि शास्त्रों में

सद्‌गुरुओं द्वारा चला हुआ जीवन बताया गया है। इस प्रकार का यह आध्यात्मिक जीवन है।

इस जीवन को अपनाने व इस पर चलने के लिये यही हिम्मत (प्रयास) करे कि जब से उसने होश सम्भाला है, उसी समय से ही अपने अन्दर बुद्धि योग को जगाये और अपने अन्दर के सत्यों को समझने का यत्न करे। इस प्रकार करता हुआ अपने जीवन का सुधार करता जाये। बस, यहीं से आध्यात्मिक जीवन का श्रीगणेश होता है।

यह जीवन चलते चलते अन्त में जहाँ पहुँचता है, उसी स्थान को परम धाम (परमपद) कहा जाता है अर्थात् इस जीवन का अन्तिम फल परम सुख (परमानन्द) की प्राप्ति है, जो सुख कभी भी समाप्त होने वाला नहीं है। इसके विपरीत पहले वाला भौतिक जीवन अन्त में केवल उलझन व दुःखों में ही समाप्त होने वाला है। अब यह आपके ऊपर निर्भर करता है कि आप भौतिक जीवन पर ही चलते रहते हैं या आध्यात्मिक जीवन को अपनाकर उस पर चलते है, यही सारे कहे हुए का निचोड़ है।



प्रवचन

१७—१२—१९८६

आध्यात्मिक जीवन के बारे में कल बताया गया था। जन्म से बच्चे को भौतिक जीवन मिलता है। ये बाहर के जो पाँच भूत है, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, सब प्राणी उनमें रहते हैं। उन सब के सहारे, जो कोई भी जीवन चलता है, वह भौतिक जीवन है। इस भौतिक जीवन में मन फैलता—फैलता इतना तक फैल जाता है अर्थात् बाहर संसार में मन इतना अधिक भटक जाता है कि अन्त में इसको कोई बाहर का सुख भी नहीं रहता उसके स्थान पर दुःख ही दुःख हो जाता है। उसकी शक्ति भी इतनी ज्यादा बाहर भटक जाती है कि वह भटकी हुई शक्ति अन्त में मन के अन्दर शोक व दुःख और शरीर में रोग व व्याधियाँ ही उत्पन्न करती है। इस बाहर के जीवन या भौतिक जीवन में पहले तो सुख मिलता हुआ दिखाई देता है, परन्तु अन्त में सब दुःख मे ही समाप्त होता है। जब शरीर में रोग आ जाते हैं अर्थात् शरीर रोगी हो जाता है, तो चाहे उस रोगी मनुष्य के पास कितना ही अधिक धन सम्पत्ति हो, वह सब धन आदि उसके लिये किसी भी प्रयोजन का नहीं रह जाता है अर्थात् उसके जीवन मे बेकार ही सिद्ध होता है।

२. किसी भी प्राणी का संग होने पर या किसी वस्तु के मिलने पर मन के अन्दर दो प्रकार की तरंगे उठती हैं। एक तो अच्छा लगने वाली सुख की तरंग है, जिसे शास्त्रकार सुख की वेदना कहते हैं अर्थात् वह सुख संवेदन (सुख का महसूस होना) है। दूसरी बुरी लगने वाली दुःख की तरंग है अर्थात् जिसके संग से मन के अन्दर दुःख होता है, जिसे दुःख की वेदना या दुःख संवेदन (दुःख का महसूस होना) कहते हैं। दुःख का मतलब है, दुः और ख अर्थात् दुः का अर्थ

है कि दुस्थिति और ख का मतलब इन्द्रियाँ है। इस प्रकार दुःख का सादा मतलब यह हुआ कि इन्द्रियाँ खोटी स्थिति (अवस्था) को प्राप्त हो जाती है। इसी तरह सुख का मतलब है कि सु और ख ,जिसमें सु का अर्थ हुआ सुन्दर और ख का मतलब इन्द्रियाँ अर्थात् जिसमें इन्द्रियाँ सुन्दर (भली) स्थिति को प्राप्त होती है, उसी का नाम सुख है।

३. ये ऊपर कहे दो प्रकार के सुख और दुःख संवेदन (सुख व दुःख महसूस करना) मनुष्य को अथवा सब जीव प्राणियो को बाँधने वाले हैं। जो वस्तु मन को अच्छी लगती है, उससे प्यार (प्रीति) हो जाती है। इस प्यार (प्रीति) का नाम राग है और यही मनुष्य को बाँधने वाला राग बन्धन है। जो वस्तु मन को बुरी लगती है, महसूस करने मे खोटी लगती है तो उसके सम्बन्ध से दुःख संवेदन होता है। जो वस्तु बुरी लगती है अर्थात् दुःख देती है, तो उससे मन में द्वेष होता है, जिसका नाम द्वेष बन्धन कहा गया है। अब जिस वस्तु से राग प्रीति होती है अर्थात् सुख प्राप्त होने की आशा रहती है, उसको पाने की बार बार इच्छा रहती है। बुरी लगने वाली वस्तु से द्वेष होने से क्रोध होता है और मन उससे चिढ़ता (दुःख मानता है) है। जिससे मन में क्रोध व चिढ़ होतीं है, उसको यह मन अपने से दूर करना भी चाहता है। यह सब संसार में अनर्थ (बिना मतलब) का फैलाव है।

४. क्रोध आने पर मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है। उसको स्मृति (होश) ही नहीं रहती कि इस क्रोध की अवस्था में क्या करना उचित है अथवा क्या करना चाहिये। क्रोध में स्मृतिहीन होकर जो कुछ भी कर जाता है, वह उसके लिये अन्त में दुःख के लिये ही होता है। इस तरह बाहर से दुःखी हुआ मनुष्य अपने व्यवहार से दूसरों को भी दुःखी करता है। मनुष्य अपने आप में इतना शक्तिशाली तो नहीं है कि बाहर के सब प्रभावों को अपने मन के अनुकूल बना ले । मान लो सर्दी पड़ रही है या गर्मी पड़ती है, तो इससे मन व्याकुल भी होता

ही है, कारण कि सर्दी व गर्मी को कोई रोक नहीं सकता । इनको सहन करना पड़ता है ।

५. सुख और दुःख संवेदन (महसूस करना) अन्दर के धर्म हैं । इन्हीं दोनो के संस्कार छुपे छुपे मनुष्य को प्रेरित करते रहते हैं । यही अन्दर का छुपा हुआ खेल है । यही छुपे रहना अविद्या का ढक्कन है । इसी के कारण मनुष्य को सही ज्ञान तक भी नहीं उपजता है । जीव के साथ अविद्या का बन्धन व इसका क्लेश जन्म से ही चिपका हुआ है। जब तक यह अविद्या समाप्त नहीं होती , तब तक विद्या भी अपने आप में अन्दर प्राप्त नहीं हो सकती और मनुष्य अविद्या के बन्धन से मुक्त भी नहीं हो सकता । किसी वस्तु को समझने का नाम विद्या है । हमें वस्तु (अन्दर के सत्य) का पता इसी अविद्या के कारण नहीं लग रहा है । इस अविद्या का क्लेश बन्धन व कलंक सब के साथ है और यह अनादिकाल से, जब से जीव के इस संसार में चलने की कहानी शुरू हुई है, हमारे साथ आ रहा है ।

६. बच्चे को तो केवल बढिया या घटिया (अच्छा व खराब) का ही पता लगता है और इन्हीं को जान करके संसार में फैलता जाता है उससे उसके मन के अन्दर की तंरगे धीरे धीरे अपना स्थान पकड़ जाती है । फिर वे तरंगे ऐसी स्वाभाविक हो जाती है अर्थात् ऐसी आदत पक जाती है कि वे मनुष्य को दूसरे रास्ते पर चलने ही नहीं देती । वह आदत कहती है कि इस देह में तो हमारा ही राज्य है, आप कौन होते हो? इसका तात्पर्य यह है कि जीव आदतों में बँधा हुआ परतन्त्र है । ऐसे आदतों में पड़े हुए जीव की अपनी कोई स्वतन्त्रता नहीं है । जैसा आदतें कहती हैं, वैसा ही मनुष्य विवश होकर करता रहता है ।

७. भगवान् ने मनुष्य को ही विवेक या सही ज्ञान उपजाने की बुद्धि प्रदान की है, इसी से ही अविद्या टल सकती है और किसी दूसरे जीव को यह बुद्धि नहीं दी गई है । मनुष्य

ही अपने अन्त भले के बारे में सोच व समझ सकता है। प्रकृति की तरंगो से और छोटे मोटे सुख के लोभ से चलायमान हो कर के कोई ऐसा कार्य (काम) नहीं करना चाहिये, जिससे भविष्य (आने वाले समय) में उसके कल्याण (सही भले) की हानि हो । अन्त में मनुष्य को अपने विवेक (सही ज्ञान) द्वारा ही ये सारे सत्य अपने अन्दर समझने पड़ेंगे । इन्हीं सत्यों पर जो पर्दा पड़ा हुआ है वही अविद्या का रूप है। विवेक द्वारा अपनी बुद्धि में इन्हीं सत्यों के ज्ञान द्वारा अविद्या का ढक्कन या पर्दा नष्ट होगा।

८. मनुष्य के अन्दर अच्छे बुरे प्रभाव, करवाने वाली शक्तियाँ, उस समय करवा जाती हैं और उसके परिणाम (नतीजों) का पता बाद में लगता है। यदि किसी मनुष्य को यह पता लग जाये कि बीमारी की अवस्था (हालत) में यह भोजन नुकसान करता है, तो चाहे वह भोजन कितना ही अच्छा, स्वादिष्ट व उसकी रुचि (पसन्द) का हो, फिर भी बीमारी से बचने के लिये वह उस मन पसन्द भोजन को त्याग (छोड़) ही देगा। यदि पता लगने के बाद भी वह छोड़ने की हिम्मत करेगा, तभी उस स्वादिष्ट भोजन को त्याग सकेगा। जैसे किसी ने आपको बता दिया कि आपको मधुमेह का रोग है और इसमें मीठा खाना हानिकारक है अर्थात् ठीक नहीं है। ऐसा बीमारी का पता लगने के बाद भी यदि आपसे हिम्मत नहीं बन पायी कि मीठा छोड़ दूँ या मीठा मेरे स्वास्थ्य के लिये ठीक नहीं है और उस मीठा खाने का लोभ आदतवश बना ही रहा और आपने मीठे का प्रयोग कर ही लिया। ऐसी अवस्था में वह मीठा खाने की सुख की आदत आपको विवश (लाचार) करके मीठा खिला ही गई तो खाने के बाद आपको दुःखी भी होना ही पड़ेगा। इसी प्रकार मनुष्य अपने मान अंहकार में आकर के, जैसा नहीं बोलना चाहिये , वैसा दूसरों से बोल जाता है। ऐसा बोलने से दूसरे बैरी (दुश्मन) बनते हैं और उस बैरी से उसको अपने अन्दर शंका और भय बना रहता है कि

कहीं वह अब मेरा ज्यादा नुकसान तो नहीं कर देगा आदि आदि। ऐसा होने पर उसको रात्रि के समय नींद भी सुखपूर्वक नहीं आयेगी और उसी बैरी की सोचों में पड़ा–पड़ा दुःखी होता रहेगा। ऐसी बन्धन की अवस्था में उसको आत्मा व परमात्मा की कोई समझ ही नहीं पड़ती कि परमात्मा क्या है।

६. सबके अन्दर बैठा हुआ परमात्मा,तो है ही चाहे कोई समझे या न समझे। कारण कि श्वाँस सबके अन्दर वही ज्ञान रूप चेतन परमात्मा चला रहा है। देहों (शरीरों) के कार्य भी वही कर रहा है अर्थात् पशु, पक्षी, पेड़, पौधा व जितने भी मनुष्य हैं, सब के अन्दर देह के कार्य वही कर रहा है। नींद में भी वही श्वाँस को खींचता व छोड़ता है। हमारे अन्दर अन्न को हजम करता है।

यह व्यापक चेतन शक्ति सबमें समान रूप से है। परन्तु समान रूप से होती हुई ऐसी छुपी हुई बैठी है कि किसी को इसका अनुभव नहीं होता। इसका अपना अनुभव आनन्द रूप है। इस चेतन शक्ति में काम, क्रोध तूँ तूँ मैं मैं आदि कुछ भी नहीं है। यह "तूँ तूँ मैं मैं" वहाँ पर है, जहाँ पर कोई किसी का बाप, बेटा, भाई–बन्धु, प्यारा, मित्र या शत्रु बना बैठा है अर्थात् एक दूसरे के सम्बन्ध से बने हुए इस मतलब के संसार में "तूँ तूँ मैं मैं" है। यह "तूँ तूँ मैं मैं" भी तब तक रहती है, जब तक मनुष्य संसार से मुँह मोड़ कर सोता नहीं है। जब मृत्यु (मौत) हो जाती है, तो इस जन्म की बात समाप्त हो जाती है, परन्तु कहीं दूसरी जगह जन्म कर पुनः इसकी धारा बहने लग जाती है। यह संसार अनादिकाल अर्थात् करोड़ों वर्षों से चला आ रहा है और अनादिकाल से यह समाप्त नहीं हुआ तो इसके अन्दर बैठी हुई चेतन शक्ति भी समाप्त नहीं होने वाली है। परन्तु यह बात अवश्य है कि यह ज्ञान रूप चेतन शक्ति छुपे छुपे मनुष्य के साथ आती है और इसको छुपी हुई अवस्था में ही लेकर मनुष्य संसार से चला जाता

है (मर जाता है)। इस शक्ति का उसको जीवन काल में पता ही नहीं लग पाता है। ये भी अविद्या का ही एक महान् पर्दा है।

१०. इस चेतन शक्ति का पता नहीं लगने का नाम ही अविद्या है। इस अविद्या का ही उसके ऊपर पर्दा (ढक्कन) पड़ा हुआ है, जो उस ज्ञान रूप चेतन शक्ति का बोध नहीं होने देता। बाहर संसार में तो मनुष्य सब कुछ पहचानता है कि ये मेरे पिता, भाई–बन्धु, मित्र, शत्रु, पेड़ पौधे, पशु पक्षी आदि हैं। परन्तु उसको यह ज्ञान (विद्या) नहीं है कि इन सबके अन्दर बैठा हुआ कौन श्वाँस को चला रहा है ? इसका अपने आप में स्वयं अनुभव करे, जो कि नींद में तो सुख रूप से यह अपनी दृष्टि (नजर) में आता है। परन्तु जाग्रत अवस्था में यह अपनी नजर में नहीं आता है, कारण कि उस समय तो हम संसार में एक दूसरे को कुछ सम्बन्ध से पहचानते रहते हैं। उस चेतन शक्ति के बारे में मनुष्य खोज ही नहीं करता है और बाहर संसार में ही उलझा रहता है। अपने अन्दर पर्दा पड़ा हुआ है और सब तत्त्व तथा अन्दर के सत्य छुपे हुए उस अविद्या के पर्दों के अन्दर पड़े हुए हैं। ऐसे मनुष्य को यह समझ ही नहीं है कि कैसे अन्दर की कथा हो रही है व कैसे कैसे अन्दर के वृतान्त चल रहे हैं और कौन इस देह के सारे कार्य (काम) चला रहा है, आदि आदि।

इस नासमझी का कारण यह है कि मनुष्य बचपन से बाहर के ही प्राणी व पदार्थें में रंगा हुआ है और केवल यही समझता है कि अमुक (फलाँ) व्यक्ति सफेद या काला है या अमुक (फलाँ) वस्तु मेरे सुख या दुःख के लिये है। इसी संसार के प्राणी व पदार्थों को जानने में वही पंडित हो जाता है। परन्तु इस मनुष्य की यह पंडिताई अविद्या को ही ज्यादा बढाती है।

११. इस अविद्या को नष्ट करने के लिये समय निकाल करके यदि थोड़ा सा मनुष्य विचार करेगा, तो उसको पता

चलेगा कि जिधर यह मन भटका हुआ संसार में बाहर की तरफ जा रहा है, वहाँ पर इसको अन्त में शोक,दुःख रोग व व्याधियाँ ही मिलनी है। फिर इनके साथ रहते हुए, उसकी मरने की इच्छा होगी, कारण कि अन्त में इनका दुःख उससे सहन नहीं हो सकेगा। इन सब दुःखो से बचने के लिये एक ही उपचार (इलाज) है कि जो शक्ति बाहर भटकी हुई है, वह अपने आप में एकत्रित (इकट्ठी) हो जाये अर्थात् उधर संसार से वह शक्ति बिछुड़ कर अपने अन्दर आ जाये । यह शक्ति अन्दर इकट्ठी होने पर ही अपना अनुभव दिखायेगी व कहेगी, कि अब मेरे को पहचान कि " मै कौन हूँ ?" अब आपको पता चलेगा कि इस देह का कार्य कौन चला रहा है और श्वाँस को कौन खींचता व छोड़ता था अर्थात् वह व्यापक ज्ञान की शक्ति ही ऐसा कर रही है, जिसके बारे में पता ही नहीं लगता था। ज्ञानदेव ही ज्ञान रूप से जैसे क्षण क्षण नई नई अपनी झाँकी दिखाता जाता है, वैसे वैसे ही उसकी माया शक्ति भी नई नई तरंगे उत्पन्न करती रहती है। यही उसकी नित्य क्रीड़ा (खेल) चलती रहती है। इस प्रकार से यही जीवों के अन्दर की ही विद्युत शक्ति उस ज्ञानदेव की माया है। यह जो जानना (समझ) रूप है, यह ज्ञानदेव परमेश्वर है, इसका तो आनन्द रूप ही स्पर्श व अनुभव है। इस ज्ञानदेव की कभी मृत्यु (मौत) नहीं है अर्थात् इसकी कभी भी समाप्ति नहीं है, यही खोजने वाले को अपने अनुभव में आयेगा।

१२. इस ज्ञानदेव को पाने के लिये ध्यान में बाहर फैले हुए इस मन को सबसे मोड़ना है। जैसे नींद में चलते हुए श्वाँस का पता नहीं लगता है, ऐसे ही यदि ध्यान मे अपने चलते हुए श्वाँस का भी पता नहीं चले और सारी इन्द्रियाँ मन और बुद्धि के साथ जहाँ जाकर के चुपचाप अपने आप में बैठ जायें, तो वहाँ उस परमेश्वर का आनन्द है और वह अनुभव मे भी आयेगा। इस अवस्था में कुछ देखना, सुनना व सोचना भी नहीं है। यह अवस्था ही आनन्दरूप मुक्ति का

स्वरूप होती है। जीवन में पाने की तो यही आनन्द की अवस्था ही है। इस अवस्था में पहुँचने पर किसी प्रकार का शोक दुःख, रोग व व्याधि आदि भी नहीं रहते हैं उस संसार की उलझन के ही सारे रोग थे। संसार की ही सोचों (चिन्तन) व यादों में उलझा हुआ मन होने के कारण श्वाँस भी घुट घुट कर के चलता है अर्थात् श्वाँस अपने अन्दर पूरा नहीं चल पाता। जब श्वाँस पूरा नहीं चलता है, तो शरीर के अंग व हृदय भी ठीक प्रकार से अपना कार्य नहीं कर पायेंगे। जब श्वाँस ही पूरा नहीं आता है, तो इस देह के काम भी भली प्रकार से नहीं चलेंगे अर्थात् जब श्वाँस ऊबड़ खाबड़ (टेढ़ा मेढ़ा) ढंग से चलेगा, तो शरीर के अंग भी इसी प्रकार अपना कार्य करेंगे अर्थात् उनका पूरा विकास नहीं हो पायेगा। इससे ही शरीर में नाना प्रकार के रोग व व्याधियाँ खड़ी होती हैं।

१३. इन सब प्रकार के रोगों से छुट्टी पाने का एक ही रास्ता है कि अपने मन को शान्त करके, इस बाहर के संसार मे अपनी उतनी ही लगन रखे, जितनी देह की जरुरतें हैं। यदि बाल बच्चें है, तो समय के अनुसार उनका पालन पोषण करना ही है। इस पालन पोषण के कार्य को बच्चों के हीं सुख साधन जुटाने तक सीमित रखे और उससे अपने लिये सुख व स्वार्थ की आशा नहीं रखे अर्थात् इस कार्य को निस्वार्थ भाव से करे। जितना आप ज्यादा बाहरी सुख का रास्ता पकड़ोगे, उतना ही ज्यादा दुःख प्राप्त होता है। भर्तृहरि जी कहते है " भोगे रोगभयम्" इत्यादि अर्थात् जितना आप विषयों के भोगों की तरफ बढोगे, तो उतना ही रोगों का भय (डर) होगा। सुखों के भोग की तरफ भागना ही रोगों को बुलाना है। यदि आपने यह जान लिया कि इन सुख के भोगों का अन्तिम फल रोग व शोक (दुःख) ही है तो फिर इनमे मन को उलझाने की आवश्यकता (जरूरत) ही नहीं है। जो शक्ति बाहर के संसार में उलझ रही थी , यदि वह वहाँ से बिछुड़ कर अन्दर आ जाये तो इसको ही मनुष्य की मुक्ति (छुट्टी)

कहा जावेगा। यदि यह शक्ति बाहर से छुट्टी पाये, तो अपने आप में इकट्ठी होगी , जहाँ अन्दर भगवान् बैठा है। वहाँ पर आनन्द ही आनन्द है और कुछ भी नहीं है अर्थात् वहाँ संसार का कोई दुःख भी नहीं है।

१४. इस सारे कहने का तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी बाहर का भौतिक जीवन है, वह अन्त में जाकर के अनर्थ में समाप्त होता है। यह अनर्थ तृष्णा से शुरू होता है। तृष्णा एक अन्दर की ऐसी आग है, जो हर समय मनुष्य को जलाती रहती है। जैसे एक बार किसी वस्तु से थोड़ा सुख प्राप्त हो गया, तो बिजली का धक्का मारने की तरह, मन में उस वस्तु की याद आते ही तृष्णा रूपी विद्युत् उसको बाहर की तरफ उसी वस्तु को पाने के लिये जोर से धक्का लगायेगी और मन उसी को बार बार प्राप्त करना चाहेगा। अब जहाँ उसकी सुख की वस्तु पड़ी हुई है, मन में यही लगन लगी रहती है कि वही वस्तु चाहिये, चाहे उसमें सुख लेशमात्र ही हो । कारण ! कि तृष्णा मन को उधर ही धकेल रही है, तो उसका ध्यान वहीं उस वस्तु पर है। उस तृष्णा रूपी वस्तु के पाने के ध्यान में उसका श्वाँस भी घुटता है और श्वाँस देह के अन्दर पूरा नहीं चलता है। दुःख से श्वाँस अन्दर की तरफ आता है और श्वाँस अन्दर की तरफ जाने के लिये खींचता तो जरूर है, परन्तु आराम के साथ पूरा श्वाँस नहीं चल पाता, कारण कि मन को तो सुख की तृष्णा ने बाहर ही उलझा रखा है। इसी तरह जिस वस्तु से दुःख होता है, उसको मिटाने की भी लगन है उससे ही क्रोध, दुःख चिन्ता आदि की आग अन्दर जलने लगती है। उसी दुःख की आग के बीच में पड़े हुए मनुष्य का श्वाँस भी ठीक नहीं चलता है। इस प्रकार मनुष्य तृष्णा के कारण राग व द्वेष की अग्नि में ही जलता रहता है।

१५. यदि इन सोचों पर अपने अन्दर उसकी नजर पड़ जाये, तो यह भी एक विद्या है। उसको अपने अन्दर पता

लगेगा कि जिन वस्तुओं के लिये सोच रहा हूँ, उस समय सोचते सोचते उसको स्पष्ट (साफ) दिखाई देगा कि इस प्रकार सोचते हुए उसे श्वाँस लेने का भी अवकाश (फुरसत) नहीं है। इतना मन सोचने में लग गया है कि श्वाँस भी पूरा नहीं चल रहा था। इस प्रकार का श्वाँस चलना स्वास्थ्य के लिये ठीक नहीं है। जैसे ही आप इस सत्य के ध्यान में लगेंगे, तो श्वाँस भी पूरा चलने लग जायेगा। आपकी चिन्ता भी थोड़ी हट जायेगी, क्योंकि मन उस राग द्वेष की आग से थोड़ा टल जायेगा और टलने से अन्दर सुख भी प्राप्त होगा। यदि राग द्वेष रूपी तृष्णा पर आपकी नजर नहीं पड़ी और ज्ञान अन्दर पैदा नहीं हुआ, तो श्वाँस घुटा घुटा अन्दर चलेगा। यदि इस चिन्ता की अवस्था में वह सो गया, तो स्वप्न में भी वह अपनी दुर्गति होती हुई देख सकता है अर्थात् उसको स्वप्न भी खोटे ही आयेंगे।

१६. मौत भी एक लम्बे समय के लिये नींद ही है। इसमें भी मृत्यु के पश्चात् स्वप्न के समान कोई आगे सृष्टि दिखाई देगी अर्थात् वहाँ उसको अपना इस जीवन में किया हुआ व संस्कार रूप से अन्दर पड़ा होने के कारण सब कुछ साफ साफ दिखाई देगा। मरने के बाद न जाने वह क्या क्या देखेगा ? यदि किसी का द्वेष चिन्तन करता हुआ मर गया तो अपनी अगली सृष्टि में शत्रुओं के माध्यम से ही अपने आपको दुःखी होता हुआ देखेगा। ऐसी अवस्था में अपने को बाधाओं व क्लेशों के अन्दर ही देखेगा कि बड़ा दुःख हो रहा है।

राग एक बड़ा भारी बन्धन है और इससे भी मनुष्य की भलाई नहीं होती है। यदि राग का ही चिन्तन करता करता मर गया, तो मृत्यु के पश्चात् वह न जाने क्या क्या दृश्य देखेगा? अर्थात् जो अधिक कामी जीव जन्तु इस सृष्टि में हम देखते हैं वह उनके भी शरीर को प्राप्त हो सकता है। तो यही सब योनियाँ हैं। हमारे अन्दर भगवान् की काम रूप

शक्ति है, अर्थात् जैसी कामना या इच्छा हम अन्दर के मन में करते हैं वैसी ही सृष्टि आगे हम को रची हुई मिलती है। इसके बीच में ऐसी माया है कि जैसा सच्चे हृदय के अन्दर संकल्प होता है, वह शक्ति वैसी ही सृष्टि रच देती है। इस प्रकार मनुष्य जीवन काल में और मृत्यु के बाद भी इन्हीं संसार की उलझनों व बन्धनों में घिरा रहता है।

१७. यदि आप चाहेंगे कि हम अभी सब बन्धनो से मुक्त होकर के उसी प्रभु के अन्दर सदा आनन्द रूप से टिके रहें अर्थात् स्थित रहें, तो अन्दर के सब सत्य अपने आपमें जानने पड़ेंगे कि किस तरह हमारा जीवन प्रकृति की शक्तियों (काम, क्रोध, राग द्वेष आदि) से चलता है और कैसे इसके अन्दर इनकी तरंगे फैलती है ? ये सब अन्दर अपना फैलाव करके मनुष्य को बाहर की तरफ संसार में ही कुछ करने के लिये प्रेरित करती है, अर्थात् बाहर की तरफ चलाती हैं और अंत में दुःखी करती हैं। इसलिये इन सब सत्यों को अपने अन्दर समझ करके इनके चंगुल से निकलने का यत्न करना और अपने श्वाँस को ठीक रीति से चलाते रहना चाहिये। ताकि शरीर ठीक रहे। इन सब बन्धनों को छोड़ने के लिये इन्हीं सब बन्धनों के बाहर फैलाये जाल की तुच्छता समझ करके अपने मन को उनसे निवृत्त करना है। निवृत्त करने का यही तात्पर्य है कि हरिहर की भक्ति हो गई अर्थात् अपने आपको हरना, पीछे लौटाना या हटाना। अर्थात् राग द्वेष आदि सब बन्धनों से और उनके विकार काम क्रोध आदि से अपने आपको मुक्त करना है। ऐसे अपने आपको मुक्त करते श्वाँस लेना और छोड़ना इस प्रकार का अभ्यास करना है। जैसे–जैसे उन सब बन्धनों के जाल से आप पीछे लौटते जायेंगे, मन हल्का होता जायेगा। हल्का होता हुआ मन, यदि कल्याण या परम पद पहुँचने की पूर्ण यात्रा नहीं भी कर पाया अर्थात् इस धर्म के मार्ग पर चलते–चलते मर ही गया, तो वह मनुष्य तब भी उत्तम गति ही पायेगा।

१८ मन की आदत बाहर संसार की ओर भागने की है। हर समय इसकी यही लगन बनी रहती है कि "यह वस्तु चाहिये," वह वस्तु चाहिये," "वह मनुष्य ऐसा वैसा है।" यह सब बाहर की मिथ्या (खोंटी) सोचें है और इनके बारे में सोचने के समय तो मन बड़ा जागरूक रहता है। और बड़ी लगन व इच्छा से संसार का चिन्तन आदतवश करता है। परन्तु यदि आपने विचार किया कि बाहर संसार की ओर भागने में कुछ नहीं रखा प्रत्युत (बल्कि) अंत में दुःख ही दुःख है तो आप अपने मन को संसार से थोड़ा लौटाना भी चाहेंगे। मन उस समय या तो दूसरी तरफ से संसार में ही निकल जायेगा या फिर नींद की तरफ जाना शुरू कर देगा। उस समय वह नींद भी लेनी ठीक नहीं है। उस नींद से भी थोड़ा टलने का यत्न करे, कारण कि वह नींद भी उत्तम नहीं है। अच्छी नींद लेने वाले उस मिथ्या नींद को जीतने का प्रयास करते हैं। जब तक वह संसार में ही भागने वाला मिथ्या मन बना हुआ है, तब तक वे शब्द बोल बोल कर व विचार जगा जगा करके उस मिथ्या मन को तोड़ते हैं और राग द्वेष वाली नींद को भी जीतते हैं, अर्थात् जब राग द्वेष से मन टलता है तो बलपूर्वक उनसे खिंचा हुआ मन निद्रा के सुख की ओर झुकता है ऐसी निद्रा की ओर मनुष्य का झुकना कल्याण के रास्ते से विपरीत है।

१९ मन का संसार की तरफ भागना व संसार से थक कर नींद में चले जाना ये दोनों ही तृष्णा रूप है। एक का नाम भव–तृष्णा और दूसरी का नाम विभव–तृष्णा है। भव–तृष्णा यही है कि संसार में ही कुछ होना या बनना अर्थात् किसी का मित्र या वैरी (दुश्मन) होना, किसी को सुख देने वाला होना, यह सब होना बनना संसार की तृष्णा है, जिसे भव–तृष्णा या भव–सागर भी कहा जाता है। जब संसार से थक कर मन लौटता है, तो आलस्य (सुस्ती) या आराम में जाना चाहता है। यह भी एक बन्धन ही है। उधर संसार से लौटा हुआ

मन अपने आपको नींद में ही डालता है । और निद्रावस्था में भी वही संसार वाला मन छुपा रहता है,नष्ट नहीं होता और फिर नींद से उठने पर मनुष्य को संसार में ही घसीट कर ले जाता है । इस लिये विभव–तृष्णा रूप नींद को भी जीतना ठीक है । एक घंटा, डेढ़ घंटा, दो घंटा नींद से लड़ने पर यदि आपका मन जाग गया और इस जागे हुए मन में ज्ञान पैदा हो गया, तो अपने अन्दर असलियत भासने लगेगी अर्थात् मालूम होगा कि संसार में बाहर प्राणी व पदार्थों के पीछे भागना व उनसे लौटकर नींद में चले जाना व्यर्थ है और अंतिम कल्याण करने वाला नहीं है । सत्य ज्ञान होने पर मन में प्रेरणा भी मिल जायेगी कि इस संसार से हटना चाहिये । पहले वाले ज्ञान तो सारे संसार के बचपन वाले जीवन के थे, जो कि राग द्वेष आदि तृष्णा के जाल को लपेटे बैठे थे । अब सच्चा ज्ञान तो यही होगा कि जितना इस बचपन वाले ज्ञान से बचकर रहे, उतना ही हमारे लिये अच्छा होगा । इस तरह मन को जगा करके व उसको सही रास्ते पर प्रेरित करके फिर यदि आप सोयेंगे, तो यह भगवान् के बीच की उचित (ठीक) निद्रा है । शुद्ध नींद वहीं है, जब मन संसार से टलकर अन्दर जाग जाये व ज्ञान पैदा करने लग जाये और ऐसी अवस्था में यदि आप सो जाते हैं, तो यही भगवान् के रास्ते की सही नींद कही जायेगी ।

२० इस प्रकार आपने सारी विधि मर्यादा अपने अन्दर समझ करके उसके अनुसार अपने जीवन को ढालना है । अपने जीवन को सही दिशा में ले जाने पर ठीक ज्ञान उत्पन्न करना है कि "देखो जी, मन के अन्दर ऐसी तरंगे पड़ती है, तो ये किधर–किधर मनुष्य को ले जाती है । जिधर से तरंगे मन को ले जाती है, उधर संसार में भलाई नहीं है ।"देह बिगड़ता है, रोग बीमारियाँ आती है, मन में शोक दुःख आते हैं, जहाँ पर इनकी समाप्ति होती है, वहाँ पर हाय हाय करके जीवन व्यतीत करना पड़ता है ।" ये सारे ज्ञान उस समय

मन के अन्दर होने लगेंगे, जब निद्रा व मिथ्या तृष्णा से जीता हुआ मन अपने अन्दर ही देखेगा और उसकी बाहर किसी प्रकार की भी लपक नहीं होगी। यही आध्यात्मिक विद्या है। जैसे कोई बाहर संसार के ज्ञान की विद्या जानता है और कई प्रकार की विद्याएँ जानता है, ऐसे ही अपने मनको संसार से मोड़कर व निद्रा को जीतकर अपने अन्दर के सत्यों को जानना ही आध्यात्मिक विद्या कहलाती है।

२१ निद्रा से जागा हुआ मन ही इस तृष्णा के सारे कार्य पहचानेगा। यह तृष्णा मन को किसी वस्तु की याद बार–बार दिलवा करके व उसी को पाने की इच्छाएँ पैदा करके, उसी वस्तु की तरफ दौड़ाती रहती है और उसी को पूरा करने तक बहुत उल्टे सीधे कर्म करवाती है। जहाँ पर ये कर्म समाप्त होते हैं अर्थात् जहाँ पर ये कर्म ले जाकर दुःख के गढ्ढे में पटकते हैं, वह सारा संसार में बदले हुये प्राणी के लिये अभी पर्दे में है। अभी उसका पता नहीं लगता है कि यह मन के बाहर फैलने की तृष्णा बहुत दुःख देने वाली है और अन्त में दुःख व्याधियाँ ही मिलती हैं। इसलिये यह तृष्णा तो फिर ठीक नहीं है। इस तृष्णा के रास्ते जा करके, जो थोड़ा सुख मिलता है, उसके पीछे जो दुःख आयेगा, वह खोटा ही है। ये सब अन्दर के सत्य जैसे–जैसे आप समझोगे,तो वैसे अन्दर पड़ी हुई अविद्या भी तृष्णा की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जायेगी। यही सब आध्यात्मिक ज्ञान या विद्या है, जिसके अन्दर उतरते ही अविद्या का नाश हो जाता है और मन हल्का होकर भगवान् के आनंद का अनुभव करता है। इन सब अन्दर की विद्याओं को समझ करके यहाँ तक अपने मन को प्रेरित करना है कि अंत में बाहर के सब राग द्वेष आदि बन्धन समाप्त हो जायें और मन इनसे अत्यन्त (बिल्कुल) खाली हो जाये वह अपने आप में इकट्ठा हुआ मन ही भगवान् का स्पर्श कर पायेगा अर्थात् परम सुख को प्राप्तकर सकेगा।

२२ भगवान् को सीधा–सीधा कोई भी मनुष्य नहीं पकड़ सकता । उसके लिये रास्ता यही है कि बाहर संसार की उलझन से छुटकारा हो । इस उलझन से छुटकारा यही आध्यात्मिक (अपनी आत्मा के अन्दर का) ज्ञान और अपना अच्छा चला हुआ जीवन ही दिलवायेगा । तो पहले अच्छे जीवन के नियमों को जानना और फिर उन्हीं के अनुसार चलना पड़ेगा । जब आपने जान लिया कि यह तृष्णा की आग है और नाना प्रकार के सुखों को दिखलाकर उधर संसार में ही बाँधती है व मन को बाहर ही भटकाती है, तो उस आग में जलना उचित नहीं है । इस प्रकार बाहर भटकी व बिखरी हुई ज्ञान शक्ति और प्राण शक्ति मन में शोक दुःख व शरीर में रोग व्याधियाँ ही पैदा करती है । यदि आपके अन्दर यह समझ पैदा हो गई, तो समझो आपने आध्यात्मिक सत्य जान लिया । इसके अनुसार आपने अच्छी स्थिति ले ली अर्थात् अपनी अवस्था बना ली, तो धीरे–धीरे ही बाहर संसार की तरफ से लौटना है । अर्थात् मन का मोड़ना सम्भव हो जायेगा । एकदम जल्दी में ऐसा नहीं हो पायेगा और ऐसी जल्दबाजी करने से नुकशान ही होता है । ऐसा करने से ज्यादा तंगी भी मन में आ जायेगी और ज्यादा तंगी वाला मन बुद्धि भी खो बैठता है । धीरे–धीरे बुद्धि को रखते हुए इस बाहर के संसार से निवृत्त होना है अर्थात् लौटना है । ऐसा करते हुए किसी को उसके बारे में पता लगाने की भी जरूरत नहीं है कि वह मनुष्य जिस तरह पहले रहता था, अब उससे अन्य प्रकार के जीवन के मार्ग पर चल रहा है । बड़े आराम के साथ इसी संसार में रहते हुए और सब आवश्यक कार्यों को करते हुए, अपने मन से इस संसार से अलग होता चला जाये । ऐसा होते–होते एकान्त में बैठे हुए आप देखेंगे कि उन तरंगों की अब खिंचावट नहीं है अर्थात् मन शान्त बैठा हुआ है और उसको तरंगे बाहर की तरफ नहीं खींच रही हैं, तो समझो तृष्णा नहीं है । जब तृष्णा की खींच नहीं

है,तो उस समय मन हल्का होगा। इससे श्वाँस भी हल्का और आराम से चलेगा और देह में भी सुख प्राप्त होगा। मन से भी सुख प्राप्त होगा। जिस दिन मन में यह सुख प्रतीत (मालूम) होने लग गया, तो समझो उसी दिन मनुष्य को छुट्टी मिलने लग गई अर्थात् इस संसार के बन्धन से मुक्ति मिलनी आरम्भ हो गई। अब यह छुट्टी मिलते–मिलते एक दिन ऐसी छुट्टी मिलेगी कि वह अनुभव करेगा कि संसार से फुर्सत पाते ही मुझे तो यह सच्चिदानन्द रूप वैकुण्ठ धाम ही मिल गया। परन्तु जब तक यह छुट्टी (मुक्ति) नहीं मिलती है, तब तक वैकुण्ठ धाम नहीं है।

२३ सच्चिदानन्द भगवान् तब जागेगा, जब अन्दर का पूरा ज्ञान हो जायेगा, कारण। कि अभी ज्ञान अन्दर सोया हुआ है। बाहर की वस्तुओं को जानने के लिये तो मनुष्य बहुत बुद्धिमान् है, क्योंकि बाहर की छोटी से छोटी वस्तु को भी वह जानता है। वह दूसरों की सब बातें भी जानता है "कि यह दुष्ट है", "इसके इरादें कैसे है और यह क्या करना चाहता है ?" इत्यादि–इत्यादि। उसी के लिये मन जागता रहता है। यह सब बाहर के बारे में सोचा हुआ सब ज्ञान अविद्या ही ज्यादा फैलाता है। जहाँ पर यह अविद्या अंत में ले जाकर के पटकेगी, वहाँ दुःख के सिवाय कुछ भी नहीं मिलने वाला है। यत्न यही करना है कि अपना जीवन ज्यादा उलझन वाला नहीं बने। मान इत्यादि के चक्कर में न पड़कर व राग द्वेष के कारण ऐसा नहीं कुछ कर बैठे, जो कि इस संसार में ही बाँधने वाला है। क्षमा इत्यादि थोड़ी रखे व मैत्री रखे अर्थात् दूसरों के सुख में थोड़ा सुखी होवे। दूसरों के दुःख में हमदर्दी (दया भाव) रखे व अपना बर्ताव भी यदि सही रख लिया तो ज्यादा उलझन नहीं बढ़ेगी।

२४ उन भगवदगुणों के साथ भगवद्–भक्ति बढ़ानी है। भगवद्–भक्ति यही है कि उस सबके अन्दर बैठे हुये सर्व अन्तर्यामी भगवान् की भक्ति करनी है और इसके लिए सब

उलझनों से छुट्टी पानी पड़ेगी। इन उलझनों से छुट्टी पाना तभी सम्भव होगा, जब अन्दर के सत्यों की परख होगी। अन्दर के सत्यों की परख (खोज) करने के लिये थोड़ा एकान्त में बैठकर के अपनी आत्मा में ज्ञान जगाना पड़ेगा। इसके लिये आलस्य सुस्ती को भी हटाये और नींद को भी थोड़ा जीतना पड़ेगा। जैसे कोई मनुष्य जप करता है और जप का शब्द भगवान् का कोई नाम बोलता है। आप भी थोड़ी निद्रा को जीतने के लिये उसी जप की तरह अपने अन्दर विचार का शब्द जगा लो, कि जैसे अपने आप को देखते–देखते किसी से बदला लेने के लिये मन बाहर चला गया, तो झटपट समझ करके कि मन बाहर के किसी मनुष्य से बदला लेने के बारे में अपने अन्दर आग जला रहा है,तो आपने उस मन से ही विचार का शब्द बोलना शुरू कर दिया कि "देख मना ! तूँ किधर बाहर जा रहा है, जहाँ बदला लेने की सोच रहा है, उसमें कुछ लाभ है या नहीं? यदि लाभ नहीं है, तो अपना नुकसान ही उठायेगा व दूसरा मनुष्य तेरा दुश्मन ही बनेगा।" जैसे आपने ये शब्द अपने मन से बोले,तो यह भी जप ही जैसा है। पहले आपने कुछ शब्द बोले और कुछ उन शब्दों के बारे में समझा और कुछ विचार करने लग गये। जो कुछ शब्द बोलने के बाद आप समझे, तो यह एक प्रकार का चिन्तन हो गया। समझ करके कुछ सीखने के लिए चल पड़े कि किस प्रकार मन अन्दर से आग लगाता है, "देखो ! उस मन ने उस दूसरे मनुष्य की थोड़ी याद करके कैसे आग अन्दर जला दी" इस प्रकार मन की अग्नि में जलना तो ठीक नहीं है, कारण कि मन की आदत तो बाहर भटकना व दूसरों का अच्छा बुरा ही सोचना है। जितना–जितना शब्द बोल बोल कर आप अपने मन को समझाते जाओगे,तो यह विचारमय ध्यान हो गया । अब इस विचारमय ध्यान को इतना अपने अन्दर उपजाना है कि मनुष्य कई घंटों तक अपने आप में जागता रहे और बाहरी संसार के ध्यानों को थोड़ा कम करके,

अपना उत्तम जीवन बनाने का ध्यान अर्थात् इसी प्रकार के आध्यात्मिक ध्यान करता रहे।

२५ अपने अन्दर ध्यान करे कि जिस संसार की वस्तु के लिये सोचने में मन काफी समय से बहता जा रहा है और मैं इसको मोड़ना भी चाहता हूँ, परन्तु यह मन उधर ही बहता जा रहा है, जिसमें कुछ भी अपना हित (भला) होने वाला नहीं है। इस प्रकार अन्दर ही अन्दर यह सब अपने विचार में लाये और उस मन के प्रवाह को देखते–देखते यदि आप पाँच मिनट तक जागते रहे, तो वह उत्तम ध्यान ही समझा जायेगा। फिर आपके मन में चेत (होश) आ गई, तो यही चेतन होना है। अब आपको पता लग गया कि "देखो जी! पाँच मिनट हो गई, जिधर यह मन जा रहा था, उधर कोई मतलब की वस्तु भी नहीं थी, परन्तु आदत का बन्धन बड़ा विकट है",थोड़ा अनुभव किया। इस प्रकार अपने मन को पहचानते–पहचानते अपने अन्दर की आँख खोलते गये अर्थात् सही ज्ञान प्राप्त करते गये। ज्यों–ज्यों अन्दर की आँख खुलती जायेगी अर्थात् अन्दर के सत्यों की समझ पड़ती जायेगी, तो अविद्या समाप्त होती जायेगी और विद्या प्रकट होती जायेगी और उत्तम मार्ग पर चलने की प्रेरणा भी बल पकड़ती जायेगी। मन हल्का होता जायेगा, कारण कि बाहर की उलझनो से अब वह छूट गया है। हल्का मन होने पर आगे–आगे ज्ञान बढ़ता जायेगा। अंत में मन सब अनर्थों से छुटकारा पा करके अपने आपमें शान्त हो जायेगा। अपने आप में शान्त होने का यही तात्पर्य है कि जैसे सारे संसार को ठोकर मारकर मन नींद में शान्त होता है और अन्दर का सुख लेता है, इसी प्रकार मन जागते–जागते यदि शान्त हो गया तो आत्मा का परम सुख पा जायेगा। जब मन अन्दर टिक गया अर्थात् अपने अन्दर ही स्थिर हो गया, तो मनुष्य अनुभव करेगा कि "देखो, कुछ जानने की इच्छा शेष (बाकी) नहीं रही और बड़ा आराम में हूँ"। जब तक अपने आपका सही ज्ञान नहीं है,

तभी तक का बन्धन है। जिस समय अपने अन्दर ज्ञान हो गया, तो समझो मनुष्य को अपने आप में टिकाव (ठहराव) या स्थान मिल गया।

२६ अपने अन्दर की सारी विद्याएँ जानने के लिये थोड़ा एकान्त में बैठने की आदत डाले। अभी भले एकान्त आसन पर कुछ भी पता नहीं लगता अर्थात् चाहे ज्ञान अभी नहीं जागता तब भी धीरे–धीरे आसन पर बैठने का समय बढ़ाने का अभ्यास करता जाये और अकेला बैठे। जब भी मन संसार में जाये, उधर से विचार के शब्द बोल–बोल कर लौटाने का यत्न करे। शब्द यही बोलने है कि "क्या रखा है, जितना करना था, सो कर लिया, अब ज्यादा संसार में क्या है।" यदि मन कहे "नहीं जी, फिर भी सोचने की वस्तु या बात है, हमारा उसके साथ में मतलब है, वहाँ हमारा स्वार्थ है।" तो ऐसी अवस्था में मन से कहना कि " कोई बात नहीं, फिर सोच लेना।" ध्यान के समय में अपने अन्दर के बारे में सोच करके उनको समझना शुरू करे। कुछ सुना हुआ होता है। कुछ शास्त्रों में पढ़ा हुआ होता है। उनके शब्दों का अपने मन में विचार करके ध्यान करे। अपने मन में विचार करते–करते यदि सही ज्ञान उपजता जाये, तो यह अविद्या अन्त में नष्ट हो जाएगी अविद्या को नष्ट करने के लिये साधना होनी चाहिये। इस विद्या से यदि अविद्या नष्ट होने लग गई और फिर यदि उस बाहर संसार के संस्कार भी नहीं जागते है, तो यह अपने आपकी शान्त अवस्था है। संसार के संस्कार मन के खाली होने पर ही जागते है, क्योंकि पत्थर जैसा कोई भी नहीं रहना चाहता है। सब जीव यही चाहते है कि अन्दर कोई न कोई ज्ञान हर समय बना रहे।

२७ जीवन ज्ञानमय है। मनुष्य का रूप ज्ञान है। कुछ ज्ञान उत्पन्न करने के लिये और खाली नहीं रहने के लिये मन तो पुरानी (बीती हुई) बातें और पुराने सुखों के ही संस्कार जगायेगा। उसी बचपन की लगन और रास्ते आदि की याद

दिलायेगा, उधर ही प्रेरणा करेगा और उधर ही ले जायेगा। यदि अविद्या टल गई और उस परमेश्वर का सीधा-सीधा ज्ञान हर समय जाग रहा है, तो ज्ञान तो है,पत्थर जैसा तो नहीं है वह ज्ञान आनन्दमय भी है और दुःख रूप भी नहीं है। यदि ज्ञान दुःखरूप है और मन ऐसे ही खाली शून्य में पड़ा है, तब तो संसार के संस्कार जागेंगे। यदि उस परमेश्वर का ज्ञान हो जाये और अपने अन्दर आनन्द की प्राप्ति हो जावे, तो उस समय मन संसार के संस्कार नहीं जगा पायेगा। इसलिये संसार के संस्कार हटाने के लिये भगवान् की विद्या उत्पन्न करे।

२८ इस भगवान् की विद्या पाने के लिये बन्धनों से छुटकारा पाये। बन्धनों से मुक्ति (छुटकारा) इसलिये नहीं मिलती है कि मन की लगन बाहर संसार की वस्तुओं की है। इस बाहर की लगन व तृष्णा को तोड़ने के लिये शब्द बोल-बोल कर थोड़ा अपने अन्दर सत्य को जानने के लिये ही विचार जगाये। विचार जगाने से आपको सत्य का ज्ञान होगा। ज्ञान होने से अविद्या नष्ट होगी। अविद्या (तृष्णा की माता) के समाप्त होने पर ही परमेश्वर में टिकाव (स्थान) मिलता है। यह सब आध्यात्मिक जीवन की अन्त में होने वाली प्राप्ति है। इसके विपरीत भौतिक जीवन का फल है कि अन्त में रोग, शोक आदि दुःखों की प्राप्ति अर्थात् भौतिक जीवन इसी अनर्थ में समाप्त होता है। आध्यात्मिक जीवन का फल यही है कि दुःखों से छुटकारा हो करके अपनी आत्मा और परमात्मा में स्थिति होना। वह स्थिति सदा शान्त, आनन्दमय या सुखरूप है। इसके लिये दो तीन बातों की आवश्यकता है अर्थात् थोड़ा एकान्त में बैठे, थोड़ा शब्द के सहारे विचार के (शब्द बोल-बोलकर) अपने मन को जगा ले ताकि वह बाहर संसार की और न भागे ओर नींद में भी नहीं पड़े, मन के जगने पर जो अन्दर के सत्य हैं, उनको समझना। यही आध्यात्मिक विद्या है। अन्दर के सत्यों को समझते-समझते अपने मन

को इतना प्रेरित करना कि वह बाहर संसार की तरफ जाने की इच्छा भी नहीं करे। अपने अन्दर के ज्ञान से देख ले कि संसार के अन्दर तो रोग व व्याधियाँ ही हैं। परन्तु अभी वे दिखलाई नहीं देती, कारण कि अविद्या का पर्दा छाया हुआ है। इसी अविद्या को तोड़ने के लिये ये सारे धर्म है। अविद्या के समाप्त होने पर अन्दर ज्ञान रूप चेतन भगवान् अपना आनन्द प्रकट करता है, जो कि परम धाम या परम पद है। यही सुख और शान्ति का पाने योग्य स्थान है,बस यही सारे का निचोड़ है।

प्रवचन

१८—१२—१९८६

मनुष्य को प्रकृति का बन्धन जन्म से ही प्राप्त होता है। उस प्रकृति के बन्धन से मनुष्य के अन्दर की ज्ञान शक्ति और उसके साथ क्रिया शक्ति (प्राण शक्ति) दोनों बाहर इतनी अधिक बिखर जाती है कि अन्त में अपनी देह और मन में इनसे सुख होने की बजाय, दुःख ही उत्पन्न होने लग जाते हैं। इसलिये यह बाहरी संसार का जीवन,यदि विचार के साथ या धर्म के नियमों के अनुसार नहीं चला गया, तो यह बाहर भटकता—भटकता इतना ज्यादा भटक जाता है कि अन्त में यह जीवन दुःखों में ही समाप्त होता है। बाह्य (बाहर का) जीवन हमेशा किसी के लिये भी आनन्द रूप (सुखदायी) नहीं रहता है। इसलिये बाहर के जीवन में शरीर की आवश्यकताओं और अपने कर्त्तव्यों को विचारपूर्वक इस ढँग से आप नियम में बाँधें कि बाहरी संसार के बन्धन इतने पक्के नहीं हो जायें कि जिस समय आप उनको छोड़ना चाहें, तो उस समय भी मन उन्हीं में चिपका रहे अर्थात् बाहरी जीवन रखते हुए ऐसे दृढ़ बन्धन नहीं होने दें, जिससे वे अन्त में त्यागे ही न जा सकें। अपने सिर पर पड़ी जिम्मेवारियों के निर्वाह के लिये तो उचित रीति से संसार में चलना ठीक है। परन्तु इसके अतिरिक्त, जो मन केवल अपने ही सुख के लिये बाहर भागता है, वह मन धर्म के मार्ग के लिये ठीक नहीं है। वह मन तो उन देवताओं अथवा सृष्टि उत्पन्न करने वाली अन्दर की शक्तियों का रचा हुआ है।

२ कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छा से इस संसार में उत्पन्न नहीं हुआ है। इस संसार में जीवन उत्पन्न करने वाली अन्दर कई शक्तियाँ हैं। चाहे उनके नाम शास्त्रों में ब्रह्मा , प्रजापति, इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि प्रसिद्ध हैं। वे बहुत सी शक्तियाँ है।

अष्ट वसु (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र व भावरूप अपनी आत्मा) हैं। ये सारी जितनी भी शक्तियाँ हैं, उनको जैसे–जैसे आप अन्दर समझना चाहेंगे, तो वे अवश्य ही आपकी समझ में आयेंगी अर्थात् कोई भी शक्ति आपकी समझ के बाहर नहीं है। उन सब शक्तियों ने ही जीवन चलाया हुआ है अर्थात् देह की रचना उन्होंने की है। अब देह की रचना जिस तरह की हैं, तो उसी के अनुसार उन्हीं शक्तियों की ही विद्युत् तरंगें है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि ऐसी–ऐसी तरंगे है कि उसी के अनुसार शरीर उसी दिशा में चलता है। यह काम क्रोध से चला हुआ जीवन शीघ्रता से किसी के वश में नहीं आता है, क्योंकि बच्चे को जीवन के बारे में समझना बहुत दिनों के बाद शुरू हुआ है। आपने तो अभी इस जीवन के बारे में पर्याप्त समझ रखा है।

३ बच्चे के अन्दर जब सुख होता है, उस समय एक प्रकार से उसके चित्त में विकास होने से प्रसन्नता भी होती है और जब दुःख होता है,तो रोना आता है और रोने के साथ साथ अश्रुपात (आँसू गिरना) होता है। तो यह सब कोई जान करके करने वाला नहीं है। इसी प्रकार से अन्न का पाचन होना, व देह के अन्दर रक्त आदि का संचार होना आदि भी कोई मनुष्य अपने संकल्प इरादे, इच्छा या शक्ति से नहीं करता है।

४ ये जो अपने अन्दर शक्तियाँ है, ये मुख्यतः दो प्रकार की है, एक ज्ञान शक्ति और दूसरी क्रिया शक्ति। जैसा अन्दर ज्ञान होगा, वैसी ही क्रिया होगी। यदि भय का ज्ञान है, तो उसके पीछे–पीछे क्रिया भी वैसी ही बहेगी। यदि खुशी का ज्ञान है तो उसके पीछे–पीछे अपने ढँग का ही प्राण चलेगा। यदि नाना प्रकार की शंका का ज्ञान हो रहा है, तो उसी के ढँग का श्वाँस चलेगा। राग, द्वेष, मान, मोह आदि का जो भी मन में भाव आयेगा, उसी ढंग की प्राण की क्रिया होगी। जैसा प्राण है, वैसी ही अंगों में क्रिया (हरकत) होगी। जैसी

अंगों की क्रिया (हरकत) है, वही निश्चय करेगी कि देह के अन्दर सुख या दुःख होना है।

५ अब आप यदि चिन्ता (फिकर) में पड़े हुए हैं, और वैसे ही अपने जीवन को बनाये रखने के लिये, जो विपरीत है, उसी का यदि भय भी है, तो ऐसी–ऐसी अवस्था में आपका मन ठीक कैसे होगा? अर्थात् मन ठीक नहीं होगा श्वाँस भी सुखपूर्वक नहीं चलेगा या घुट–घुट कर चलेगा आप कभी भी आनन्द में नहीं हो सकते। यदि बेफिकरी है, कोई चिन्ता नहीं है, मन खुला है, खाया पिया हुआ है, उस अवस्था में आपके शरीर में भी शक्ति होती है और मन में भी सुख होता है। जैसा ज्ञान वैसी उसकी प्राण की क्रिया होगी। जैसी क्रिया, वैसे ही देह के अन्दर सारे अंग अपना–अपना काम करते हैं। हृदय धड़कन भी वैसी ही करेगा, फेफड़े भी वैसे ही श्वाँस खीचेंगे और भी सब अंग अर्थात् गुर्दे,तिल्ली, जिगर आदि सब का काम उसी तरीके से होगा, जैसे मन या ज्ञान है। यदि ज्ञान बाहर संसार में बँधा है, तो समझो मन भी बँधा हुआ है। ज्ञान और मन का बँधा हुआ होने से प्राण की शक्ति का संचार (प्रवाह) भी बँधा हुआ ही होगा। यदि प्राण बँधा हुआ है, तो देह (शरीर) में सुख कहीं भी नहीं होगा और जब शरीर में सुख नहीं होगा तो मन में भी सुख नहीं होगा।

६ ऋषि मुनियों ने इसी सुख पाने के मार्ग के बारे में विचार किया और अपने जीवन में प्रत्यक्ष देखा कि इस मन को इतना अधिक बन्धनों में नहीं डालना चाहिये कि यह अपने जीवन का रास्ता ही बिगाड़ ले और अपनी सुख व शान्ति ही समाप्त कर बैठे। प्रत्येक मनुष्य अपने सुख के लिये जीता है। यदि सुख नहीं मिलता है, तो कई मनुष्य आत्म–हत्या तक करना चाहते हैं। यह सुख ही एक ऐसा निमित्त (शर्त) है,जो कि जीवन रचने के लिये मनुष्य अपने अन्दर बनाये रखना चाहता है। सुख तब होगा, यदि दुःख नहीं हो। दुःख इन्हीं राग, द्वेष, मान मोह आदि बन्धनों से होता है। यदि

ज्ञान बँधा है, तो क्रिया शक्ति भी बँधी है। बँधी हुई क्रिया और ज्ञान शक्ति कं साथ, जो भी परिणाम (नतीजा) होगा, वह मनुष्य के लिये हितकर (भलाई करने वाला) नहीं होगा।

७ इसके लिये ऋषियों ने बताया कि मुक्ति का मन साधो अर्थात् बन्धनों से छुटकारा पाने का मन साधो। सुख व दुःख के संवेदन (महसूस करने) से हम बचपन से इस संसार में बँध गये हैं। कोई वस्तु अपने को अच्छी लगती है, कोई बुरी लगती है। यही सुख दुःख का अनुभव कीट, पतंग, पशु, पक्षी और मनुष्य सबको समान रीति से होता है। जब सुख दुःख का अनुभव सब को होता है, तो उसी के पीछे–पीछे प्राण भी उसी तरह से चलेगा। जिधर सुख होता है, उधर प्राण भी बड़े आराम से चलता है। जैसे विद्युत् की एक तरंग होती है उसी तरह अपने अन्दर काम करती हुई यह राग की ही एक तरंग है। जिधर सुख होता है, उसी ओर राग, विद्युत् की तरंग के समान धक्का देकर, प्रेरित करता है अर्थात् जिससे सुख होता है, उसी के लिये मनुष्य हाथ पाँव पटकता है। यह सब कोई भी मनुष्य जानबूझ करके नहीं करता है। यह देव की ही अन्दर बैठी हुई शक्ति है, जो यह सब कर्म करवाती है। इसी तरह जिससे दुःख होताहै, उससे मन सिकुड़ता है अर्थात् दूर भागता है। उसी दुःख से ही मन में द्वेष और क्रोध होता है और उसी दुःख का प्रतिरोध (रोकना) करना है।

८ यह सारा जितना–जितना कार्य है, यह उस दैवी शक्ति का ही है। सारे ही प्राणी इस दैवी शक्ति के अधीन हैं। चाहे इसके बीच में (जड़ में) रजोगुण का देवताब्रह्मा, परमात्मा रूप से हो। और उस ब्रह्मा का पुत्र प्रजापति है, जो हमारे सब के शरीरों में अहम् भांव (मैं मैं का भाव) के रूप में एक एक में अलग–अलग से बैठा है। ब्रह्मा तो समान रूप से है और उसका प्रभाव रजोगुण है। काम (इच्छा), क्रोध, लोभ, मोह व अहंकार आदि रजोगुण की शक्तियाँ है। जैसा ज्ञान, उसके पीछे जो उसने अपनी तरंग फेंकनी है, जिससे देह को चलाना

है, यह तो ब्रह्मा (रजोगुण की शक्ति) का काम है। अब आप जब तक इस शक्ति को नहीं पहचानेंगे, तब तक जीव तो यह समझेगा कि "मैं कर्म करता हूँ"। परन्तु कार्य करने वाली शक्ति तो रजोगुण है।"मैं" यहाँ पर करने वाला कोई नहीं है। "मैं" आप" एक ही बन सकते हैं, यदि आप अपनी बुद्धि से इन शक्तियों (सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण) को समझ करके और इनके बन्धन से निकल करके अपना हित और सुख साध लें। यदि अपना हित व सुख नहीं साध सकते, तो फिर वही प्रजापति की "मैं" है अर्थात् मनुष्य सब जगह वही "मैं" अहं भाव रूप में लिये बैठा है। वह शरीर में जो अहम् भाव ("मैं" का भाव) है, वह केवल संसार में जीवन बनाये रखने के लिये है इस देह में जो मैं–मैं करके प्रकट रूप से भासता है यह केवल अहंकार ही है। यही केवल मैं सच्ची नहीं है। किन्तु इसके अतिरिक्त जो सबके देहों में सब कार्य चला रहा है उसकी मैं सच्ची है।

६ सब के अन्दर बैठा हुआ माया शक्ति के साथ एक व्यापक चेतन ही है। वही देह के अन्दर रक्त संचार आदि कर रहा है। अन्न का पाचन, श्वाँस का लेना छोड़ना, नींद इत्यादि में भी सब कार्य चलाने वाली शक्ति उसी ज्ञान रूप चेतन भगवान् की है अर्थात् क्रिया शक्ति (प्राण शक्ति) को चलाने वाला वही ज्ञानदेव (चेतन) हैं। जैसे–जैसे वह जानता है, वैसे–वैसे क्रिया शक्ति उत्पन्न होती है। जानना उस ज्ञानदेव का कभी समाप्त नहीं होता है, तो यह क्रिया शक्ति (प्राण शक्ति) भी कभी समाप्त नहीं होती है। इसलिये यह संसार भी कभी नष्ट होने वाला नहीं है। परन्तु इतना अवश्य है कि नींद में इस संसार का कोई पता ही नहीं लगता कि यह कहाँ है ? इसी तरह आप अपने ज्ञान प्रवाह (धारा) को ऐसी अवस्था में जागते–जागते भी ले जा सकते हैं, जहाँ पर इस संसार का कोई पता ही नहीं लगे और भगवान् की परम शान्ति वहाँ मिलती है।

१० जैसा हम चाहते हैं, वह होता नहीं और जो हो रहा है वह हमारे से विपरीत (उल्टा) है अर्थात् हमारी इच्छा के अनुकूल नहीं है, तो इसका तात्पर्य यही है कि आपके जीवन का रास्ता ठीक नहीं है। यदि हम मिथ्या रीति से चलते हैं,तो दुःख ही दुःख हैं, शोक ही शोक हैं। जैसे अधिक खाना खाया, तो बीमारी आ गई, हमने किसी से खोटा वचन बोला, तो उसको भी क्रोध होने से लड़ाई झगड़ा हो गया, और भी अपने स्वार्थ के लिये कई प्रकार से किसी दूसरे को नुकसान पहुँचाया, तो बताओ ! आप कैसे शान्त जीवन व्यतीत कर सकेंगे ? अर्थात् ऐसी अवस्था में आपका जीवन भी सुख और शान्ति वाला नहीं होगा। यदि आपने अपने जीवन में कल्याण साधना है, तो अपने अन्दर यह ज्ञान जगायें कि क्या मेरे हित (भलाई) का है और क्या मेरे अहित (बुराई) का है अर्थात् यह समझे कि मेरे जीवन के लिये अन्तिम कल्याण का मार्ग कौन सा है ? जो दुःख व पतन से भी बचाये। जब यह पता लग गया, तो समझो ज्ञान रूप से भगवान् कृष्ण जी मन में बैठ गये और अब इस देह रूपी रथ को वही चलायेंगे। जिस मार्ग में अन्त में पहुँचकर अहित होता है, आपको उधर नहीं चलना है, चाहे दिखावट में वहाँ कितना भी सुख है। अर्थात् आपने प्रकृति (आदतों की शक्ति) के रास्ते पर नहीं चलना है, जो ऊपर से (बाहर से) सुख दिखलाकर अपने मार्ग में प्रेरित करती है। इस प्रकृति के मार्ग पर चलने में अन्त में दुःख ही मिलता है।

११ यदि आप थोड़ा विचार करके अपने अन्दर ज्ञान उपजा लेते हैं, तो यह ज्ञान रूपी भगवान् इस शरीर रूपी रथ को चलायेंगे। आप अर्जुन (कमाई करने वाले) बन जाओ। संस्कृत में अर्जुन उसी को कहते है, जो अर्जन करे। अर्जन का नाम कमाने का और अपने आपको सही रूप से प्रेरित करने का है अर्थात् जब मन उल्टी दिशा में जाये, तो उसको सही दिशा में लगाने के लिये रचना करना है यही धर्म की कमाई होगी।

इस प्रकार से यदि अपने आप को सही रूप से प्रेरित करते हुए, आप कुछ भलाई की कमाई करते गये, तो भगवान् भी ज्ञान देकर के ठीक दिशा में इस शरीर रूपी रथ को ले जायेगा। वहाँ आपकी विजय भी हो जायेगी।

१२ दूसरी तरफ यही है,जिनको "कुरु कुरु" कहते है (करो करो करो बस वही करो) अर्थात् बचपन से जो आदत पड़ी हुई है, जो कर्म किया है। वही करो। तो यह एक कुरु राजा है। इसकी सन्तान धृतराष्ट्र अन्धा है। अर्थात् जो बचपन से देह का अभिमान मनुष्य के अन्दर "मैं" भाव से बैठता है, उस में भाव में अपनी भलाई का कुछ भी ज्ञान नहीं है। इस–लिये ज्ञान विहीन (रहित) होने से यह अन्धा समझा गया है। इस तरह यह धृतराष्ट्र देह का अभिमानी है, बस अपनी देह को ही "मैं" समझ रहा है। वे जो देवता अन्दर कार्य कर रहे हैं, वे उसको दिखाई नहीं देते हैं। इस राष्ट्र रुपी देह को धारण करने वाला अभिमान अंधा ही है। इसी धृतराष्ट्र की सन्तान दुर्योधन है कि खोटे रास्ते से युद्ध करना। "जो होता है, होने दो, कोई परवाह की बात नहीं, सब देख लेंगे," यही दुर्योधन है। और जो कुछ इस शरीर में खोंटा शासन है, यही दुःशासन है। और जितने प्रकार के छल कपट करने वाला है, यही शकुनि है। इन सबका संस्कृत के शब्दों के अनुसार सही अर्थ (मतलब) है। यदि आप इन सबको अपने अन्दर पहचानोगे और इनसे लड़ाई करके इन पर विजय प्राप्त करोगे, तो इसका लाभ है। ऐसे ही सुन लो, तो मनोविनोद आदि के लिये यह कहानी रूप है। कहानी सुनने से तो थोड़ा ही लाभ है।

१३ अपनी देह के अन्दर पहचानना कि भाई! देवों का यह संसार बनाया हुआ है। जिस प्रकार से सामाजिक जीवन होता है, उसमें कुछ आदतें पड़ जाती है, जो मनुष्य को उसी पुरानी दिशा में ले जाती हैं। ये पड़ी हुई आदतें एक शक्ति रूप बन जाती हैं और वे संस्कार रूप से अन्दर बैठी हुई सब

पहले वाले मिथ्या कर्म करवाती रहती हैं। जैसा कि पहले बताया गया कि कुरु–कुरु का अर्थ है कि जो पहले किया है, वही पुनः पुनः करो, अर्थात् किसी से द्वेष किया है, तो द्वेष करो, किसी से राग किया है, तो राग करो, लोभ किया है, तो लोभ करो, जैसा खाया है, वैसा ही खाओ, जैसा बोला है, वैसा ही बोलो। परन्तु बचपन का यह सब किया हुआ सकल आयु भर एक जैसा हितकर (भला करने वाला) कैसे रहेगा?

१४ अब आपने इसमें थोड़ी अपने अन्दर पंडा उत्पन्न करनी है। पंडा नाम संस्कृत में उस बुद्धि का होता है, जो दो प्रकार से मनुष्य के अन्दर काम करे। एक तो अपनी गति सोचे अर्थात् किस प्रकार से चलना चाहिये, जिससे अन्तिम भला हो अर्थात् परम पद की प्राप्ति हो और एक अपने को खोटी वस्तुओं से बचाये, उसी बुद्धि का नाम पंडा है। उसी से यह पंडित शब्द बनता है। पंडित उसी का नाम है, जिसके अन्दर यही पंडा (बुद्धि) हो अर्थात् पंडा यही है कि धर्म के मार्ग पर चलने वाली अपनी गाड़ी किस प्रकारसे चलनी चाहिये, यह सोचने वाली बुद्धि का नाम पंडा हैं। पाण्डु राजा था,उसकी सन्तान पाण्डव थे। एक तो बुद्धि ज्ञान रूप से और एक वे "करो करो" आदतों की शक्ति रूप से, जो की प्रकृति शक्ति बन गई है। अब इन दोनों (हित की बुद्धि और प्रकृति शक्ति) का झगड़ा है। पुराने किये गये कर्म, संस्कार रूप से बैठे हुए कहते हैं कि इस जीवन में हमारे ढँग से ही चलो, कारण कि उनकी भी आदत रूप में अंदर एक शक्ति बनी हुई है। अब दूसरी ओर बुद्धि रूप ज्ञान कहता है कि मेरे ढँग से कार्य (काम) होना चाहिये, मनुष्य जीवन का कल्याण इसी में है। यदि इस बुद्धि के ढँग से आपने अपने जीवन को साध लिया, तो समझो ज्ञान रूप भगवान् कृष्ण को भी अपने साथ रख लिया अर्थात् आपने ज्ञान जगा लिया। अब जैसा वह भलाई करने वाला ज्ञान कहता है, यदि उसी प्रकार आपने अपनी काया, इन्द्रियों व मनको चलाया, तो वह ठीक रथ को ले जायेगा।

सारे कौरवों पर उसकी विजय होगी। जब ये सब कौरव मारे जायेंगे, तभी इसके अन्दर सुख और शान्ति होगी। कारण कि इन्होंने ही सारी शक्ति को बाहर भटकाया हुआ है और इस शरीर के बीच में थोड़ा भी मन नहीं रह गया है।

१५ अपनी हित साधना (अपना कल्याण करना) तो केवल मनुष्य जन्म में ही सम्भव है, कारण कि इसी में विवेक शक्ति उत्पन्न हो सकती है। थोड़ा चिन्तन करके पीछे किये हुए पर अपनी दृष्टि (नजर) को डाले और अपने मन के अंदर पहले यही सोचे कि "कहाँ कहाँ चूक गया, किससे कड़वा वचन बोला, कहाँ पर किसी के बारे में खोटा सोच गया, "किसी के दुःख को देखकर हँस तो नहीं गया अर्थात् किसी के दुःख पर अपने अन्दर हँसी तो नहीं आ गई, किसी के अच्छे गुण को देखकर जलन तो पैदा नहीं हो गई या उसके गुण की निन्दा तो नहीं कर गया, किसी की निंदा को बढ़ा चढ़ा करके तो नहीं कर गया, और भी कहीं किसी के द्वारा थोड़ा अपने को दुःख देने पर उसका अपराध मानकर उसके लिये मन में खोटा सोच लिया अर्थात् दण्ड देने का विचार कर लिया आदि–आदि। इन सारे मन व आँख, कान, नाक और वाणी इत्यादि के कर्मों को थोड़ा विचार करके अपने दोष तथा मिथ्या प्रवृतियों को यदि मनुष्य पहचान गया, तो अपनी भलाई के लिये दूसरे दिन ऐसा नहीं करने के बारे में पक्का इरादा बना ले कि कल पूर्ण स्मृति में अर्थात् होश में रहूँगा।

१६ यदि होश टिक गया और दोष व मिथ्या प्रवृत्तियों को पुनः नहीं करने का इरादा भी सच्चा है तो समझो अपने जीवन में धर्म प्रविष्ट हो गया। अपने को सही रूप से धारण करने का नाम ही धर्म है। अपने को थोड़ा अन्दर पहचाने पहचान कर के थोड़ी अपनी दुर्बलतायें (कमजोरियों) को भी समझें और समझ करके उनको दूर करने का यत्न भी करें। दूर करते–करते अपने ध्यान योग को जगाये और सत्य को

समझने का यत्न करे। ध्यान द्वारा इस प्रकार एकांत का जीवन बनाये। जब अकेले में सही समझ आने लग गई अर्थात् ज्ञान जाग गया तो एक दिन सबका अन्तर्यामी भगवान् भी आयेगा अर्थात् आनन्द रूप से वह भी प्रकट हो जायेगा। यदि एक बार सब मिथ्या प्रवृत्तियों से निवृत्त (दूर) हो करके आपने उस परमात्मा के साथ योग (मेला) कर लिया, तो उसके सुख में मन कभी भी तंगी नहीं मानेगा और उससे बिछुड़ना भी नहीं चाहेगा। परन्तु यदि अब आपकी इच्छा है कि मैं अपने प्रयोजन की वस्तुओं की जानकारी प्राप्त करूँ, तो वह अलग बात है अर्थात् लोको में आपको घूमना है, तो बात दूसरी है।

१७ मुक्ति का रास्ता तो यही है कि पहले अपने अन्दर ज्ञान जगा करके, आत्म (अपने आपका) संयम द्वारा, थोड़ा सा अपनी बुद्धि को चेतन करके, सारे अच्छे धर्मो को अपना ले और सारे खोटे कर्म और धर्म को छोड़ दे। इस प्रकार यदि उसने अपने आप में कुछ धर्म धारण करके अपना हित (भला) साध लिया, तो ठीक है। नहीं तो केवल प्रकृति का मिथ्या रास्ता ही चलने को मिलेगा। शास्त्रकारों ने उपाय प्रत्यय धर्म के मार्ग पर चलने के लिये ही बताया है। इन पाँचों (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, ध्यान, (समाधि) और प्रज्ञा) का नाम ही उपाय प्रत्यय है। श्रद्धा पहले रखनी पड़ेगी कि "हाँ भई ! धर्म के मार्ग पर चल सकते हैं, अन्त में इस संसार के बन्धनों से मुक्त भी हो सकते है और भगवान् को पाने का रास्ता भी मिल सकता है, जो अनन्त सुखरूप है, जिसका सुख कभी भी समाप्त नहीं होता" ये सब श्रद्धा और विश्वास अपने में दृढ़ बनाये रखना होगा। संसार का कोई भी सुख फीका पड़ सकता है, परन्तु उस भगवान् का आनन्द कभी फीका नहीं पड़ता है।

१८ सही ज्ञान अर्थात् सत्य का ज्ञान पाने के लिये तो ध्यान ही रास्ता बनायेगा। इसके लिये भी वीर्य (हिम्मत) बनाने के लिये एक और दूसरी शक्ति भी चाहिये, जिसका नाम

स्मृति (होश) है यदि चेत रहेगी अर्थात् स्मृति (होश) ठिकाने रहेगी, तो मौके पर खोंटे कर्म भी टाल सकेंगे। यदि स्मृति (होश) नहीं रही, तो बस वे आदते ही पड़ी हुई हैं, जो हम सब को बिजली के धक्के की तरह चलाती रहती हैं। जैसा अवसर (मौका) हुआ, वे आदतें हमारे से अन्दर पड़े संस्कारों के अनुसार अपना काम करवा जायेंगी चाहे, इसमें हमारा हित या अहित कुछ भी हो। जैसे कोई कहने वाला कहता है कि "क्या करूँ जी ? मैं चाहता तो था कि ऐसा कड़वा नहीं बोलूँ, परन्तु उस समय मेरे से बोला ही गया, उसने कुछ ऐसा ही मेरे को दुर्वचन कह दिया कि मैं कितना भी विचार कर रहा था कि मैंने कड़वा नहीं बोलना, परन्तु मेरे से बोला ही गया"। अब प्रश्न उठता है कि वह कौन उसके अन्दर कडुवा बुलवाने वाला था और उससे यह चूक कैसे हो गई? विचार करने पर पता चलेगा कि स्मृति (होश) नहीं रहने से वह प्रकृति (आदतों की शक्ति) ही ऐसा उससे कड़वा बुलवा गई है। फिर स्मृति यही है कि अपनी याद बनी रहे अर्थात् होश ठिकाने रहे। सोधी (बुद्धि) हर समय बनी रहे कि "मैंने क्या करना है, कैसे इस जीवन में चलना है"। यदि इस प्रकार की होश बनी रही, तो अवसर (मौका) आने पर आपसे चूक नहीं होगी। यदि स्मृति ठिकाने नहीं रही, तो पहले बचपन से लेकर जवानी तक की पड़ी हुई पुरानी आदतें ही जिस तरफ धकेलेंगी, आपकी गाड़ी उधर ही चलेगी, कारण कि उस समय जीवन रूपी गाड़ी का ड्राइवर तो प्रकृति (आदतों की शक्ति) है और अभी स्मृति व बुद्धि को अपने अन्दर इस जीवन रूपी गाड़ी को चलाने के लिये नहीं बसाया है। यदि हिम्मत करके सब खोंटे कर्मों से बचना है, तो यह स्मृति रूप देवी भगवती को अपने साथ रखना पड़ता है। यह स्मृति या होश बनी रहने से अर्थात् खो नहीं जाने से मनुष्य की दुष्कर्मों से रक्षा करती है।

१६ सब से पहले धर्म मार्ग पर चलने के लिये श्रद्धा चाहिये, उससे ही हिम्मत बन पायेगी । हिम्मत करने के लिये ही स्मृति चाहिये । यदि स्मृति रूप मनुष्य की होश ठिकाने रहेगी, तो दुष्प्रवृत्ति या खोंटा कर्म, जो आदतों के वश पुनः पुनः (बार–बार) होने जा रहा है, सब टाले जा सकेंगे । यदि होश ठिकाने रहेगी तो हिम्मत भी बँध पायेगी और क्रोध, काम, कामना (इच्छा) और लोभ को भी हटा सकेंगे । यदि ऐसा नहीं होता है तो आदतें वहीं सब मिथ्या कर्म ही करवायेंगी । यदि होश ठिकाने रहा तो, थोड़ा विरोध होने पर भी यदि आप मिथ्या कर्म से टलना चाहेंगे, तो टल ही जायेंगे, कारण कि स्मृति रूप भगवती शक्ति आपके साथ है । अब टलते रहे, टलते रहे, तो मन उसमें जाग जायेगा और अन्दर के सत्यों को पहचानने लग जायेगा । अब आपकी बुद्धि खुल गई, ज्ञान अन्दर जाग गया । और अन्दर के सत्यों को जानते जानते इतना जानने में लग गये कि बाहर का संसार ही भूल गये । यदि बाहर संसार को भूल गये, तो समझो ध्यान योग बन गया । फिर उस भगवान् का आनन्द अपने अन्दर ही मिलेगा, कारण कि वह प्राण शक्ति ज्ञान के साथ अपने अन्दर उस बाहर के संसार को भूल जाने पर अपने अन्दर एकत्रित (इकट्ठी) हो जायेगी ।

२० ऐसी आनन्द की अवस्था में अपने आप अन्दर से प्रेरणा होने लगेगी कि व्यर्थ बाहर की बातों को सुनना व दृश्य (नजारे) देखना भी क्यों है ? अर्थात् मन को अन्दर इस प्रकार की प्रेरणा होगी कि मनोविनोद मात्र या मन बहलाने के लिये क्यों व्यर्थ में बाहर आँख और कान को भटकाना है, इससे अच्छा यही है कि अपने अन्दर ही ध्यान का सुख पाऊँ । परन्तु वह पहले शंका व भय वाला मन बाहर की बातें सुनता था । अब बाहर की सुनने, देखने व व्यर्थ सूँघने, चाखने की भी कोई जरूरत नहीं है । जब बाहर किसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं रही, तो इन्द्रियों को भी किस लिये बाहर की तरफ पटकना है? जब इन्द्रियों द्वारा बाहर की वस्तुएँ जानने में

आती थी, तो उन्हीं के बारे में मन भी सोचों में रहता था। जब इन्द्रियों के ज्ञान रोक लिये गये, तो मन भी उनके बारे में क्यों सोचेगा, तो समझो इस अवस्था में मन मुक्त हो गया। तब उसको अनन्त परमेश्वर का ही घर मिलेगा। परन्तु जो मनुष्य ऊपर कहा हुआ साधन करेगा, उसी के लिये परमेश्वर का घर है।

२१ अब सारे का सारांश यह है कि अनर्थ को पहचानना और टालने का प्रयास करना। यदि अनर्थ टल गया, तब ही इस मनुष्य जीवन की सफलता है। अनर्थ यही है कि बाहर भटका हुआ ज्ञान और उसकी भटकी हुई ज्ञान की प्राण शक्ति। जैसा ज्ञान, वैसी प्राण शक्ति। अब यदि ज्ञान संचित है अर्थात् अपने आप में टिका हुआ है,तो उससे उसकी प्राण शक्ति भी बाहर से मुक्त हो जायेगी। यदि यह प्राण शक्ति बाहर संसार से मुक्त हो गई, तो अपनी आत्मा में एकत्रित (इकट्ठी) हो जाएगी। एकत्रित (इकट्ठी) हुई प्राण शक्ति का आनन्द व्यक्त होता है अर्थात् प्रकट होता है और अपने अनुभव में भी आता है। यह प्रकट हुआ आनन्द किसी भी मनुष्य को प्रिय लगेगा। इसी को पाने के लिये यही सारा यत्न करने का है, बस यही सारे कहे हुए का निचोड़ है।



प्रवचन

१६–१२–१६८६

जहाँ से यह पहले प्रसंग आरम्भ किया था वह यही था कि मनुष्य को बाह्य (बाहरी संसार के) जीवन में चलते चलते कई प्रकार के संकट उपस्थित होते हैं। यही जीवन में उत्पन्न हुआ–हुआ अनर्थ का स्वरूप है। और इसी कारण से मन बाहर ही भटकता रहता है। वह भटका और बिखरा हुआ मन शरीर के अन्दर की सारी शक्ति को भी बाहर ही भटका देता है, उससे फिर उस मनुष्य का मन कहीं पर भी नहीं लगता अर्थात् वह कहीं पर भी प्रीति को नहीं पाता। और वह सदा अशान्त ही रहता है। उस अशान्त मन को शान्त करने का केवल यही उपाय है कि वह बाहर भटकी हुई ज्ञान (समझ) शक्ति अपने में ही (इकट्ठी) हो जाये और उसकी क्रिया शक्ति रूप प्राण भी देह में एकत्रित हो जाये। फिर उसको अपने आप में ऐसी शान्ति और सुख मिलता है, जैसा कि नींद में भी उसको नहीं मिल पाता। किसी प्रकार के बाह्य विषय के सम्बन्ध और कोई बाहर संसार के लाभ से भी इतना उसको सुख नहीं होता जितना सुख उसको अपने मन के अन्दर शक्ति का संचय (इकट्ठा) होने से मिलता है।

२. सुख तो संसार में और भी बहुत से हैं अर्थात् जहाँ जों वस्तु अच्छी लगती है वह मन में सुख रूप से महसूस करने में आती है। यह भी एक प्रकार का क्षणिक सुख ही है। परन्तु जहाँ मन अपने आप में यह अनुभव करे कि यह अवस्था अति उत्तम है इसमें मैं बड़े आनन्द में हूँ मुझे इससे और दूसरा सुख नहीं चाहिये। ऐसी जो अवस्था है यह परम शान्त धाम (पद) है। यह शान्ति का धाम (पद) तब मिलता है जब बाहर भटकी हुई शक्ति यदि अपने आपमें एकत्रित (इकट्ठी) हो जाये अर्थात् संचित हो जाये। यह शक्ति अन्दर इकट्ठी

इसलिये नहीं हो पाती है कि जन्म से ही मन बाहर ही पूर्ण रूप से भटक जाता है बाहर ही उसका सब स्वार्थ है और बाहर ही उसने सब प्रकार का सुख समझ रखा है।

३ उस बाहरी सुख को पाने के लिये और दुःख को हटाने के लिये जो कर्म वह बाहर करता है उसी की सोचें मन में इतनी बढ़ जाती हैं कि पाँचों इन्द्रियाँ मन बुद्धि सब बाहर ही बहते रहते हैं। बाहर बहते बहते वह ऐसा हो जाता है कि जैसे ज्ञान शक्ति व प्राण शक्ति (क्रिया शक्ति) दोनों अन्दर तो शून्य जैसी हो जाती हैं। अब यह सत्य साधारण जन के ज्ञान में तो आता नहीं है। यह अन्दर का सत्य, ज्ञान (समझ) में तब आता है, जब मन चिन्ता में होता है। उस चिन्ता के समय श्वाँस भी पूरा नहीं चलता है और उससे बीमारियाँ भी खड़ी होने लग जाती हैं। तब इस बाहर बहते हुए मन का दुःख प्रकट होने लग जाता है। जैसे कि किसी वस्तु के सेवन करने से किसी को दुःख उत्पन्न हो जाता है और उस वस्तु में इस मनुष्य का राग या प्रीति है। अब यदि बताने वाले बुद्धिमान् मनुष्य उसको बतला भी देते हैं कि अमुक वस्तु का सेवन करना बन्द कर दो, परन्तु दूसरे द्वारा उस समय इस वस्तु का सेवन करना बन्द नहीं होता है। उस बेचारे में इतनी शक्ति ही नहीं है कि वह अपने आप को संयम (काबू) में रख सके। कारण कि उसका स्वार्थ बाहर ही इतना बन चुका है कि वह उस स्वार्थ को छोड़ना ही नहीं चाहता है। बस, वही बन्धन कहा जाता है

४ उन्ही बन्धनों से छूटने का नाम मुक्ति है। यदि आप, आध्यात्मिक या शास्त्र की रीति से, जैसे ऋषि मुनि इसका मार्ग बतला गये है, चलने का यत्न (कोशिश) करेंगे, तो ऐसी बात नहीं है कि इन बन्धनों से छुटकारा नहीं हो। इस छुटकारे का नाम ही मुक्ति कहा गया है, जैसे कोई मनुष्य कारागार (जेल) से छूट गया।

५ यह प्रकृति का बन्धन सहसा (एकदम) नहीं पटका जा सकता। क्योंकि जिस प्रकार से मनुष्य बाहर ही बाहर संसार के रास्ते पर चलता है, चलते चलते इसके अन्दर एक ऐसी शक्ति खड़ी हो जाती है, जो गुप्त रीति से बैठी बैठी बल पकड़ती रहती है। वह शक्ति मनुष्य को अपने हित की ओर चलने ही नहीं देती है। चाहे इसका नाम संस्कारों की शक्ति, अविद्या या माया कहो। परन्तु शास्त्रों में इसका नाम प्रकृति है। क्योंकि बहुत बल से आपने यत्न करके किसी कर्म को एक बार किया, दो बार किया, दस बार किया। इस प्रकार उस कर्म को पुनः पुनः (बार बार) करते करते इतनी ढाल पड़ गई है कि उस कर्म को करने की दिशा में चलने की एक लाईन ही बन गयी। जैसे उसी पर अब आपकी गाड़ी चलेगी। परन्तु जीवन चलने की वह लाईन एक शक्ति रूप में किसी भी काम को बार बार करने से बनी है। इसलिये बार–बार किसी कार्य को करना और उस कृति का आदत रूप में शक्ति बन जाना ही प्रकृति है। अब वह प्रकृति मनुष्य के अन्दर एक स्वभाव रूप में बैठ जाती है। मनुष्य इसी की ही सब तरंगो या जोशों को अपना करके मान लेता है। अब वह शान्ति नहीं लेने देती। वह प्रकृति यही करती है कि नींद में अपने ही ढँग के स्वप्न दिखलाती है और नींद से जागने पर वैसे ही अपने ढँग के संकल्प (इरादे) खड़े करेगी। जाग्रत अवस्था में अपनी ही बुद्धियाँ, भाव व उत्तेजनाएँ (जोश) उत्पन्न करती हैं और इन्द्रियों को भी अपने ही ढँग से चलाती हैं। शरीर भी बिना किसी यत्न के उधर ही बह जाता है। ऐसी ही शक्ति का नाम प्रकृति शक्ति है।

६ गीता आदि आध्यात्मिक शास्त्रों में लिखा है कि एक तो यह पंच–भूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु व आकाश) रूप प्रकृति है और दूसरी यही प्रकृति, जो कि अपने अन्दर का एक स्वभाव बन गया है। अब इन दोनों प्रकार की प्रकृतियों से यदि किसी को मोक्ष (छुटकारा) हो जाये, तो परम पद को

वही मनुष्य प्राप्त करता है। इससे छूटने का मार्ग वही उपाय–प्रत्यय पाँच बल (श्रद्धा,वीर्य, स्मृति, ध्यान (समाधि) और प्रज्ञा) हैं, जैसा कि कल बताया गया था। आज वही थोड़ा सा स्पष्ट करके बतलाना है कि स्मृति को करने योग्य ढंग से मनुष्य कैसे अपने जीवन में अपना सकता है ? और ध्यान को भी किस प्रकार अपने करने योग्य ढंग से बना सकता है ?

७ यह प्रकृति शक्ति तो मनुष्य जीवन के रास्ते में अड़चन बनी खड़ी रहती है। वह कहती है कि "मैने मनुष्य को किसी दूसरे रास्ते पर चलने ही नहीं देना है। यदि रास्ता चलना ही है,तो मेरा ही रास्ता लो अर्थात् जैसा बोले हो, वैसा ही बोलो, आदि आदि।" जैसे कौरवों के दृष्टांत से बताया था, जिसमें वे कहते हैं कि "वही करो, जो पहले किया है अर्थात् नशा पिया है, तो नशा ही पियो, दूसरों से कड़वा बोला है, तो कड़वा ही बोलो, जो वस्तु पहले खाई है, वही खाओ, जैसे आपने जीवन व्यतीत किया है (गुजारा है), वैसा ही अब जीवन व्यतीत करो इत्यादि इत्यादि।" यह सब प्रकृति का काम है जो अब बन गई है, जो बार बार कमा ली गई है। अब यह प्रकृति ऐसी कृति (यत्न) हो गई है जो बिना यत्न के अपने आप चल रही है अर्थात् अपने आप काम में लग रही है। मनुष्य के अन्दर एक ढँग की है और वही प्रकृति शक्ति रूप में, जो सारे संसार की है, वह बाहर की है, हम यह सब देखते हैं कि इसमें बाहर कोई करने कराने वाला दिखाई नहीं देता। अपने आप ही सारे जगत् का काम हो रहा है। पेड़ पौधे उत्पन्न हो रहे हैं। शरीर उत्पन्न होते हैं, मरते हैं और इस बीच में समय समय पर बढ़ते रहते हैं। जो कुछ भी दूसरे से राग, द्वेष लड़ाई, झगड़े, ये सब स्वभाव से हो रहे हैं और दूसरा कोई चलाने वाला नहीं है। यह विश्व की शक्ति प्रकृति ही है, जो बाहर व्यापक रूप में और प्रत्येक जीव के अन्दर अपने स्वभाव रूप से होती है, परन्तु जो व्यापक रूप

में है वह परा प्रकृति कही जाती है और दूसरी प्रत्येक जीव की अपनी अपनी प्रकृति है जो स्वभाव रूप में उसके अन्दर बैठी है।

८ अब यह जो अपने अन्दर की प्रकृति शक्ति है, यदि इससे पहले मनुष्य को छुट्टी मिले, तो मन बाहर भटकना बन्द हो जाये और इससे देह और मन में भी सुख होगा। इसके लिये पहले श्रद्धा रखें, फिर हिम्मत करें। उस प्रकृति को जीतने का रास्ता बनायें। सब बुराइयों से दूर हटें व जीवन में सब अच्छाइयों की तरफ चलें। ध्यान करके अपना भला पहचानें। पहचानने से उसको अपने आप प्रेरणा मिलेगी, कि मेरा हित (भला) इन्हीं सब अच्छाइयों को अपनाने में है, तो इन्हीं को मैं अपने जीवन में अपनाऊँ। परन्तु पहले तो ऐसी प्रेरणा कहने तक की बात है। अपनाना तो तब होगा, यदि ऐसा करने की शक्ति भी हो। अब शक्ति तो दूसरी तरफ बनी बैठी है। निद्रा से उठते ही बाहर संसार के ही संकल्प (इरादे) बनते है। यदि आप उनको रोकना चाहें तो क्रोध, जोश (उत्तेजना) इत्यादि मन में उत्पन्न होते हैं। और उनसे ऐसा संशय पैदा होता है कि यह प्रकृति (आदतों की शक्ति) कहीं मस्तिष्क (दिमाग) ही उल्टा सीधा कर दे। ऐसी अवस्था में वह बलपूर्वक (जबरदस्ती) मनुष्य को अपने ही रास्ते पर चला देती है।

९. अब इस प्रकृति को जीतने के लिये क्या किया जाये? इससे छुट्टी पाने के लिये ही हर समय स्मृति रखें, तो उससे अच्छे कर्म होने लगेंगे। स्मृति का तात्पर्यार्थ यह है कि होश या अपनी याद को ठिकाने रखना अर्थात् टिका के रखना। याद ठिकाने रखने का अर्थ यह है कि इससे यह पता लगे कि "क्या होने जा रहा है और क्या करना चाहिये ?"वह प्रकृति वाला मन थोड़े थोड़े सुखों और दुःखों के कारण उल्टे रास्ते चलना चाहेगा। यदि उस समय आपकी स्मृति ठिकाने पर है, तो आप उस समय वैसा चलते मन को समझ लेंगे

कि "हाँ जी, यह मन उधर की तरफ चला गया।" आप उसको मोड़ने का यत्न करेंगे और उसके कारण से, जो तंगी होगी, वह भी सहन कर लेंगे।

१०. एक छोटा सा दृष्टान्त है, जिससे यह दुःख सहन करने की बात समझने में आ जाती है। एक मनुष्य धूप में चला जा रहा था। गर्मी के दिन थे। उसको धूप बहुत कड़ी लग रही थी। इस चलने की अवस्था में उस प्रकृति के स्वभाव से या तो उसके मन में घर बसा होगा या फिर घर में लगा हुआ कूलर उसके मन में घूम रहा होगा। वह इस प्रकार मन में सोचता हुआ धूप में रास्ता चलेगा कि घर पर जायेंगे और वहाँ कूलर के पास बैठेंगे, और नाना प्रकार का कोई ठण्डा पान भी करेंगे और इससे अपनी आत्मा में बड़ी तृप्ति मिलेगी। इस प्रकार के इरादों मे बहता हुआ व अन्दर मन में घर पहुँचने पर सुख लेने की योजनाएँ बनाता हुआ ही अपना रास्ता चलेगा। अब वह रास्ता चाहे एक या दो मील का है, धूप में तो उसको चलना पड़ गया, धूप बड़ी तेज भी है ऐसी कड़ी धूप में और भी कई मनुष्य चल रहे हैं, परन्तु उसका मन सुख को चाहने वाला है और धूप में चलने के दुःख से थोड़ा परेशान है। यद्यपि धूप में चलने से मौत नहीं है, उसमें और जन भी चल रहे हैं, उसका सिर व सारा शरीर ढका हुआ है, इस प्रकार धूप में चलने में कोई हानि भी नहीं है। केवल उसको धूप में चलने से थोड़ी तंगी महसूस हो रही है। अब दुःख को महसूस करने वाला मन उस दुःख को देख करके व सुख की याद करके, इरादे उस घर में मिलने वाले सुख के बना रहा है। यदि वह मनुष्य स्मृति वाला रहे, तो उसको मालूम होगा कि "मेरा मन तो घर के कूलर की हवा लेने व ठण्ड़ा जल पीने में ही चिपका हुआ है और रास्ता तो आदतवश भूल में ही चला जा रहा है। जिस जगह पाँव पड़ रहा है, वहाँ मन नहीं है। इसलिये मन चलने में जल्दी जल्दी कर रहा है। इस चलने की जल्दबाजी में

उसका श्वाँस भी ठीक नहीं चल रहा है और उससे तंगी ज्यादा बढ़ी है ।" ऐसी अवस्था में यदि वह अपने मन में सोच जाये कि "मैं इस तंगी को ही रास्ता चलते हुए देख लूँ कि कितना ज्यादा धूप में चलने का दुःख है ? जिस तंगी से मैं डर रहा हूँ,वह मन में मानने में ही ज्यादा है और दुःख से डरने वाला मन अपने श्वाँस को भी बिगाड़ रहा है, विचार शक्ति भी भटक रही है, ज्ञान शक्ति भी उपस्थित नहीं हैं। उसी कारण से रास्ता चलने का कर्म भी ठीक नहीं हो रहा है । शरीर को भी उसी अपनी तृष्णा के उद्वेग (जोश) में बड़े बलपूर्वक ही चला रहा है । उससे कोई शीघ्र नहीं पहुँचा जायेगा, पहुँचने के समय में कुछ ही मिनट का अन्तर पड़ेगा ।" वह कितने एक पग इस प्रकार बल से चलायेगा? यदि भागेगा (दौड़ेगा) तो और ज्यादा नुकसान पायेगा । परन्तु मन दुःख से डरता है और आदत के कारण सुख में उसकी लगन है, जो उसको आराम से चलने भी नहीं देती है । वह बाल्यपन से पड़ा हुआ दुःख का संस्कार, प्रकृति के अन्दर पड़ा हुआ है कि "जल्दी जल्दी चल, बड़ी तेज धूप लग रही है ।" यदि उसकी दुःख में स्मृति बनी रहे, तो अपने मन को एकाग्र करके जरा देख लेगा कि "जिस धूप के दुःख से मैं डर रहा हूँ, वह मारने वाली तो नहीं है । मैं तो एक या दो घंटे ही धूप में चलूँगा और कई मनुष्य ऐसे भी हैं, जो धूप में दिन भर काम करते रहते हैं । जरा देखूँ तो सही धूप में चलने में कितनी ज्यादा तंगी है," इस प्रकार यदि विचार करते करते आप रास्ता चलते गये तो समझो आप स्मृति में आ गये । अब कदम कदम पर आपका मन उपस्थित रहेगा । और अपने होश (स्मृति) में होगा । ऐसी अवस्था में, जो पाँव उठ रहा है उसका मन में पता है और जो कदम आगे रख रहा है, उसका भी पता है । वह अनुभव करेगा कि "धूप कोई मारने वाली तो नहीं है ।" इस प्रकार अपने मन के अन्दर से व्यर्थ दुःख के डर को भी निकाल देगा । जैसे ही दुःख का डर बाहर

निकल जायेगा, उसका श्वाँस भी ठीक चलने लग जायेगा, इस प्रकार चलता हुआ वह आराम से अपने गन्तव्य (पहुँचने के) स्थान पर पहुँच जायेगा।

११. बच्चे को तो बचपन से प्रकृति का स्वभाव मिला हुआ है। प्रकृति सुख का अनुभव होने पर उसके चेहरे पर प्रसन्नता दिखाती है अर्थात् छा देती है और दुःख में उसको रुलाती है। जब बच्चा रोता है, तो घर के प्राणी उसकी आवश्यकताओं (जरूरतों) को पूरा करके उसे सुखी बना देते हैं। परन्तु अब उस सुख की, जो आदत पड़ गई है, वह उसके भले के लिये नहीं है अर्थात् अब उसका जो स्वभाव बन गया है, उसको हटाना ही पड़ेगा। यदि वह उसी स्वभाव से चलता जायेगा, तो किसी दिन अपने लिये ऐसा बन्धन खड़ा कर लेगा कि बाहर ही बाहर वस्तुओं का ध्यान करता हुआ अपनी देह में बिल्कुल शून्य हो जायेगा। यह अपने मन में ऐसा अनुभव करेगा कि जैसे वह अभाव–ग्रस्त (घाटे ही घाटे में) है।

१२. यदि आप की स्मृति ठिकाने रहेगी, तो नियम का जीवन बन पायेगा और आदत का रास्ता जीता जा सकेगा। अर्थात् उस समय मनुष्य वीर्य (हिम्मत) करके उससे पार भी निकल जायेगा। इसलिये कोई भी कर्म, चाहे एकान्त का हो दूसरों के संग का हो या सोचने तक का हो, यदि उसमें आपने समझ के साथ चलना सीख लिया, तो मनुष्य को एकान्त का जीवन मिल जायेगा। ऐसा नही है कि वह एकान्त के जीवन के कारण बाहर संसार के जीवन से भटक जायेगा। बाहर का जीवन भी पूरा चलता रहेगा। कहते हैं कि "याद है, सो आबाद है," यदि याद रही, तो वह देह में आबाद रहेगा। अब इसको इस प्रकार समझना है कि मान लो किसी ने बीड़ी पीना छोड़ दिया। यदि उसकी स्मृति आबाद नहीं होगी अर्थात् उसके अन्दर स्मृति बसी हुई नहीं होगी, तो प्रकृति के अनुसार झटपट उसके अन्दर बीड़ी पीने की इच्छा होगी और इसी का इरादा भी बनेगा। उस समय स्मृति

उपस्थित नहीं होने से वह झटपट बीड़ी पीने को चल ही पड़ेगा, चाहे फिर उससे हानि हीं हो। इसलिये स्मृति का मूल्य कल्याण के रास्ते में सब से पहले है।

प्रकृति के बन्धन को जीतने के लिये व उसकी दासता से मुक्ति पाने के लिये प्रत्येक कर्म में अपनी स्मृति बनाये रखे। रास्ता चलते चलते यदि इन्द्रियाँ व्यर्थ के कर्म करती गई, तो मन को बाहर भटकाये रखेंगी। इन्द्रियों को हर समय अपने नियन्त्रण (काबू) में रखने का यत्न करना चाहिये। जो वस्तु देखनी आवश्यक हो, वही देखें, और जो वस्तु नहीं देखनी है, उसको, मन से देखना चाहते हुए भी, नहीं देखें। जैसे कोई साधारण जन बाजार में चला जा रहा है, वह दुकानों के साईनबोर्ड पढ़ता जाता है, और फालतू दुकानों में झाँकता हुआ चलता है। यह सब बच्चे के लिये तो ठीक है, कारण कि उसने वस्तुओं को अभी समझना है। परन्तु उस समय रास्ता चलते हुए मनुष्य को तो इस प्रकार समझना चाहिये कि "मेरी आखें व्यर्थ (फालतू) की वस्तुओं को देखने में जा रही है। रास्ता चलना तो ठीक है, जिस जगह पाँव पड़ता है, वह देखना भी ठीक है और गाड़ी मोटर से अपने आप को बचाकर चलना है।" परन्तु रास्ता चलते हुए यह ठीक नहीं है कि मन को बाहर रखता हुआ यह देखे कि "उधर क्या हो रहा है, वहाँ कौन हैं, उसका चेहरा कैसा है?" इत्यादि इत्यादि। यदि वह इसी प्रकार देखता जायेगा तो यह भटकी हुई स्मृति का काम है। अब इस स्मृति को सही रूप से बनाये रखने के लिये अपने आप में चेतन रहे। फिर उसको अपने मन के बारे में पता लगेगा कि "हाँ भाई, मन किधर जा रहा है, उधर जाना ठीक है या बेठीक ?" यदि उसके विचार में उधर जाना बेठीक समझ में आ गया और वह अपने आप में कुछ हिम्मत भी कर पाया, तो वह अपने आपको रोक सकेगा। ऐसी अवस्था में वह इस देह रूपी रथ को ठीक से चला सकेगा। देह को ठीक चलाने का मतलब यही है कि उससे कर्म खोटा

नहीं होगा, खाना, पीना, बोलना व रास्ता चलना आदि सब कर्म ठीक होंगे।

१३. यह विषयों का जाल ही याद को आबाद नहीं रहने देता। अब इस सत्य को यदि वह पहचान गया, तो दातून करते समय, रास्ता चलते हुए या किसी से बातचीत करते हुए, उसी समय उस विषयों के जाल को रोक लेगा और अपना कर्म भी ठीक कर जायेगा। स्मृति रहेगी, तो हिम्मत बन पायेगी। यदि स्मृति के साथ साथ हिम्मत बन गई, तो समझो प्रकृति का बन्धन जीतने का रास्ता आपका खुल गया। प्रकृति विषयों की तरफ चलाने के लिये जोश पैदा करती है। आपने एक बार उस प्रकृति की तरंग का मुकाबला किया, तो उतना उसका जोश ठण्डा हो गया, दूसरी बार और किया, तो तिल जितना जोश और घट गया, तीसरी बार और किया, तो जोश थोड़ा और घट गया। ऐसा करते करते एक दिन आपको ऐसा मालूम होगा कि जहाँ बड़े तेजी के साथ वह प्रकृति का भाव चलाता था, अब उसका मुझे पता लग रहा है कि "वह विपरीत भाव आ गया और मैं भी इसको बडे आराम से त्याग रहा हूँ।" जैसे ही आराम से उस भाव का त्याग हुआ तो खाली मन में आपको उसके त्याग का सुख होगा। यही मुक्ति का सुख अर्थात् मुक्त आत्मा का सुख है।

१४. प्रत्येक प्रकार की आदत इन्द्रियों (आँख, कान, नाक, रसना व त्वचा (चमड़ी), मन व बुद्धि के रास्तों से पड़ी हुई है। बुद्धि भी निश्चय उसी ढंग से करती है, जैसा उसका आदल का रास्ता है। जैसे किसी से थोड़ा दुःख हो गया, तो बुद्धि भी झटपट यह निश्चय कर लेगी "वह दुष्ट मनुष्य है" परन्तु मिथ्या निश्चय करने वाला मनुष्य तो यह नहीं समझेगा कि "मेरे अपराध से ही मुझे वह दुःख (क्लेश) हुआ है, अगले ने कुछ दुर्वचन बोला है, तो मैं भी तो उसमें जिम्मेवार हूँ।" अपने अपराध का उसको विचार ही नहीं आता है। ऐसी अवस्था में झटपट बुद्धि यही कहेगी "नही जी, वह महादुष्ट

है,वह मेरा वैरी है, यदि उसका सत्यानाश भी हो जाये, तो ठीक है।" यह सारा जितना खेल है, प्रकृति का है। वह उस निश्चय करने वाली बुद्धि को भी अपने ही ढंग से चलाती हैं। मन के अन्दर बसे हुए इच्छा, क्रोध, लोभ, लालच आदि जिस समय आते हैं, तो वे देह रूपी मशीन को ऐसे अपने ही रास्ते से चला जाते हैं, जैसे कि बिजली की धारा मशीन में आते ही मशीन चलने लग जाती है। ये क्रोध आदि प्रकृति की तरंगें आदतों के रास्ते पर ही मनुष्य को बलपूर्वक चलाते रहते हैं। आदतों से चले हुए रास्ते को क्षीण (कमजोर) करने के लिये स्मृति बनी रहनी चाहिये। यदि स्मृति बनी रही, तो मनुष्य हिम्मत भी कर लेगा हिम्मत करते करते वह प्रकृति धीरे धीरे क्षीण (दुर्बल) भी होती जायेगी। जैसे जैसे वह क्षीण होती जायेगी, मन हल्का होता जायेगा और मनुष्य सुखी भी होता जायेगा। इस लिये इस प्रकृति (आदतों की शक्ति) को क्षीण करना ही पड़ेगा।

१५. अब इस प्रकृति को क्षीण ऐसे करना है। यदि किसी व्यक्ति ने मान लो बीड़ी पीनी छोड़ दी, तो वह बीड़ी पीनी पुनः पुनः याद आया करेगी। कभी कभी बड़े कड़ाके (तेजी) के साथ याद आयेगी। अब यदि वह इसको रोकना भी चाहेगा, तो काफी समय तक उसका मन दुःखी रहेगा। परन्तु रोकते रोकते उसने एक, दो, दस दिन या एक महीना (मास) रोक लिया। अब वह बीड़ी यदि याद भी आयेगी, तो वह मनुष्य झटपट अपनी स्मृति को आबाद करके उसको ठुकरा देगा। अब इतना दुःख बीड़ी न पीने का नहीं होगा, जितना पहले दिन छोड़ने से दुःख हुआ था। इस प्रकार वह प्रकृति शक्ति ही क्षीण (दुर्बल) हुई, जो उसने बहुत ज्यादा इकट्ठी कर रखी थी। अब वह बलवती शक्ति इतनी ज्यादा क्षीण (कमजोर) हो गई कि उसमें बल नहीं रह गया। पहले तो ज्ञान उत्पन्न भी नहीं होता था कि "यह कर्म खोटा है।" अब उसको यह भी समझ आ गई और बुराई के दोष भी दिखाई देने

लग गये । जैसे ही उसे बीड़ी पीने की याद आई, तो झटपट उसके मन में अब यह भाव बनेगा " अजी ! छोड़ो ना इस बीड़ी पीने में क्या रखा है ?" बस ! थोड़ी सी दृष्टि उस तरफ फेरने से ही वह बीड़ी पीने की याद टल गई । मन हल्का हो गया । पहले मन में इतना विचारों का बोझा लदा रहता था कि " जी ! पी लो बीड़ी, बिना पिये रहा नहीं जायेगा, इसमें कुछ खोटा तो नहीं है ।" बुद्धि भी उन्हीं आदतों के रास्ते की होती थी और वैसा ही निश्चय करती थी । इस तरह न जाने और भी कितनी ज्यादा आदतें पड़ी हुई हैं व अपने स्वार्थ के लिये प्रत्येक जीव के साथ संग करने की भी आदत पड़ी हुई हैं ।

१६. स्वार्थ से ही मनुष्य इस संसार में बँधा हुआ है । इसी को गीता में काम (इच्छा) कहा है । अब अकेले में तो इस मनुष्य को जीना नहीं आता । अकेले में तो भगवान् नींद के बीच में कितना आनन्द देता है । इस प्रकार यदि जागते जागते मनुष्य अकेला हो जाये, तो उसको किसी भी वस्तु का घाटा (कमी) नहीं है । यदि चाहो तो सारा संसार अपने ध्यान में देख लो । अर्थात् आप अन्धेरे में आँख बन्द करके ध्यान में बैठ जाओ । ध्यान में बैठे हुए, कान खोल दो, तो सारी दुनिया की बातें सुन लो । यदि आप अन्धेरे में भी देखना चाहो, तो जैसे स्वप्न में सृष्टि खड़ी हो जाती है, वैसे ही सृष्टि आपके सामने खड़ी हो जायेगी । वह भगवान् इतना परिपूर्ण है कि उपनिषदों में इसको आप्तकाम कहा है अर्थात् पूर्णकाम कहा है । आप अपने अन्दर उस विश्व की शक्ति को पहचानो तो सही, जो इस देह की मशीन को चला रही है । जीव तो इसको समझते ही नहीं है और " तूँ तूँ मैं मैं" में ही भूले बैठे हैं । वह " तूँ तूँ मैं मैं" भी संसार की एक दूसरे के सामने की ही है । जब कोई सामने पड़ेगा, तो कुछ आपकी 'मैं' बनेगी । जैसे आपका बेटा सामने आ गया, तो

आप बाप बन गये और एक बाप बनने की आपको "मैं" मिल गई।

१७. मनुष्य को कुछ बनने में ही आनन्द आता है अर्थात् सुख की अनुभूति होती है। इसी का नाम भव–सागर या भव–तृष्णा है। संस्कृत में भव नाम होने का है। मनुष्य चाहता है कि कुछ न कुछ संसार में होता रहूँ। कुछ होने में ही उसको बड़ा अच्छा लग रहा है। वह किसी जगह विद्वान्, बुद्धिमान् या धनवान् बन गया। किसी जगह थोड़ा आदर मिल गया, तो आदरणीय महानुभाव बन गया। थोड़ा सुखी हो गया, तो सुखवाला बन गया। यदि दुःखी है तो दुःखवाला भी हो गया और उस दुःख से बचने के लिये यत्न करने वाला भी हो गया। कहीं पर वीर बन गया। तो इस संसार में बनना या होना ही है और इस होने की तृष्णा का नाम भव–तृष्णा है इस तृष्णा का इतना लोभ है कि यदि मनुष्य सत्य के रास्ते कुछ नहीं बन पाता या होता है, तो झूठे रास्ते से बनता है। जैसे किसी ने कोई वीरता का काम तो किया नहीं, परन्तु झूठी वीरता की शेखी मार कर वीर बन गया, इसी प्रकार दिया तो कुछ है नहीं, दानी बन गया, इसी तरह कोई व्यक्ति किसी को बातें सुनाने लग जाये "अजी ! उसने मुझे ऐसा कहा, तो फिर मैंने उसे ऐसा कहा, थोड़ा उसको धमकाया, तो उसका दिमाग ठिकाने आ गया।" अब देखो ! इस प्रकार कहने वाला मनुष्य अपने आप में क्या बन गया? अर्थात् उसने एक प्रकार की झूठी "मैं" पानी चाही है। इस संसार में यही "मैं" उत्पन्न करने का राग है। यह जो "मैं" की संसार में कुछ होने की इच्छा है, यह इतनी प्रबल है कि बचपन से लेकर के बढ़ती ही जाती है। वह "मैं" कहती है कि "मैं सदा बनी रहूँ कभी ऐसा नहीं हो कि मैं नहीं रहूँ।" अब उसके पास रहने के लिये और कुछ नहीं है अर्थात् इस झूठी "मैं" प्राप्त करने के सिवाय उसको अपने आप में अकेला जीने का पता ही नही है कि मनुष्य को अपनी आत्मा में

सुखपूर्वक जीने का जीवन मिल सकता है। जैसे ही संसार में " मैं" पाने वाला मनुष्य अकेला हुआ, तो अपने मन में यही सोचेगा कि " चलो जी ! दो आदमी वहाँ बैठे है, वही पर चलो , कुछ मैं मिलेगी ।" वहाँ जाकर कुछ उनकी बातें सुनने लग गया, बातें करने लग गया, कुछ अपना इरादा (भाव) भी प्रगट करने लग गया। इस प्रकार की "मैं" चाहे सुनने वाले के रूप में चाहे बोलने वाले के रूप में मिल गई। इस संसार में कुछ भी बनना सदा तो रहना नहीं है और अन्त में इसमें धक्के ही है। अपने मन में सोचे, कि बाहर संसार का बनना तो एक दूसरे के सामने होता है।

१८. परन्तु अन्दर जो एक बना बैठा है, जो इस देह के काम चला रहा है, सारे विश्व के काम को वही चला रहा है, तो थोड़ा इसी को पहचानो। यह शास्त्रकारों व ऋषि मुनियों का वह रास्ता है कि यदि इस देव निरंजन पर आपकी नजर खुल गई, तो अविद्या समाप्त हो जायेगी अविद्या का अर्थ है कि सच्चे आत्मा का ढक्कन अर्थात् आत्मा को छुपाने वाला। इसी के कारण से वह अनुभव में नहीं आता है। यद्यपि अपनी शक्ति द्वारा हृदय में धड़कन कर रहा है, अन्न हजम कर रहा है, देह (शरीर) को बढ़ा रहा है, ज्ञान रूप से सारे काम इस संसार के कर रहा है, परन्तु इसका कोई पता नहीं लगता है। इसका पता तब लगे जब मन फालतू वस्तुओं से फुरसत पा जाये।

इसके लिये थोड़ा नींद को भी जीतना पड़ेगा, परन्तु ऐसी बात नहीं है कि आपने बिल्कुल निद्रा (नींद) लेनी ही नहीं है अर्थात् सोने के समय सोना भी है। परन्तु यह ठीक नहीं है कि जब मन खाली हो, तो आप लेट जाओ। ऐसे लेटने से तो आलस्य सुस्ती ही प्रधान रहती है। इस नींद को थोड़ा हिम्मत करके जीतने पर उसके अन्दर की आँख खुलेगी और उसका पता लगेगा, जो अन्दर देव रूप से बैठा हुआ है। एक बार यदि हिम्मत करके देख लिया, तो इस मन के रास्ते सारे

नजर आने लगेंगे। क्षण क्षण की तरंग या स्फुरण को लेकर ही इसका नाम मन है कि थोड़ी –थोड़ी देर में कुछ का कुछ जानता रहता है। असली तो इसका नाम सब में एक रूप से प्रजापति है। यह ब्रह्मा का पुत्र है। सारे जितने भाव हैं, उन सब को यही उत्पन्न करता है। सारी देह की मशीन को एक रूप में यही चलाता है। एक रूप में तो यह जीव के अन्दर मन है और सब के अन्दर भी है। कोई एक के अन्दर थोड़े ही है, तो सबके अन्दर का लेकर के इसको प्रजापति रूप से कहा जाता है। इसके सब बन्धन बड़े कड़े (मजबूत) हैं। यह अपने ही रास्ते ले जाता है। थोड़ा सा बाहर से टलने पर नींद ला देता है। आपकी कमजोरी यही है कि आप नींद का सुख लेने लग गये व ढीले पड़ गये। ढीले पड़ने से आपकी याद उड़ गई और वह ध्यान आपने समाप्त कर दिया, जो प्रजापति देव के बारे में कर रहे थे। आप अपने अन्दर चिन्तन जगा करके, सत्य को समझने का यत्न करें। यदि उस समय उस नींद की मिठास में आप जाग करके अन्दर के सत्य पहचानने लगेंगे, तो आपको यह मालूम होगा कि जैसे ही संसार से मन को मोड़ा है,यह नींद रूप में चला गया। इस नींद में ही यह सारा संसार लिये बैठा है। यह प्रजापति देव है, जो सब के अन्दर ऐसी लीला करता रहता है।

१६. जिस दिन आपको यह अन्दर का देव पहचानने में आ जायेगा, तो आप अपने आपको कहेंगे कि "बस भई! तेरी बातों में मैं क्रोध तो करता नहीं, परन्तु तेरी इच्छाओं के साथ अब मेरी इच्छाएँ नहीं हैं।" फिर जैसा मन करवाना चाहता है, वैसा नहीं करना व उससे प्रतिरोध करके वीर्य (हिम्मत) द्वारा ठीक रास्ते पर चलना ही धर्म का मार्ग है। ऐसी अवस्था में वह मन नींद ला देता है। आपने इस नींद को जीतने के लिये भी इससे मुकाबला करना है। वह आलस्य सुस्ती वाला मन आपके कान भी बन्द करना चाहेगा और यदि आप कुछ बाहर के बारे में सुनने का यत्न भी करेंगे, तो वह चिढ़ पैदा

करेगा । यदि आप उस नींद का सुख छोड़ते हुए उस मन से लड़ाई करेंगे, तो धीरे धीरे आपके कान खुल जायेंगे व बाहर की आवाजें भी सुनने लग जायेंगी । इस प्रकार आपकी नींद उड़ने से मन जाग जायेगा । यदि मन जागने पर विचार करने लग गया, तो विचार करते करते इस ध्यान में सत्य का ज्ञान झलकेगा और वास्तविकता (असलियत) का पता लगेगा । इस सत्य का ज्ञान होगा कि " जीव क्या है, यह संसार में कैसे बँधा हुआ है ? इस जीव पर क्या क्या संकट आते है ? और किस संकट के कारण यह जीव बाहर किधर किधर जाता है ? अर्थात् संसार की तरफ भागता है । " इन सारे अन्दर के तथ्यों (सत्यों) का ज्ञान इस प्रकृति ने छुपा रखा है ।

२०. इस संसार में ही उलझे हुए मनुष्य को अपने अन्दर की कोई होश नहीं रहती है । वह समझता है कि दूसंरों के संग से बाहर संसार में ही जीवन का सुख है और इस सुख को पाने के लिये उन्हीं में ही वह कुछ बन रहा है अर्थात् किसी का पिता, बेटा, भाई, इत्यादि इत्यादि । जब थोड़ा अकेला होगा, तो उन्हीं की यादें करते करते सो जायेगा और फिर प्रातःकाल उन्ही पुरानी यादों को लेकर उठ जायेगा अर्थात् नींद में भी वह संसार को अपने साथ लेकर सो जाता है और फिर उसी संसार के भावों के साथ उठ जाता है । इस प्रकार वह दिन रात संसार के प्राणी व पदार्थों के ही चिन्तन में उलझा रहता है । वह यह थोड़ा समझने का यत्न ही नहीं करता कि अन्दर वह देव सनातन (सदा बना रहने वाला) बैठा हुआ है । और उसके अनुसार ही उसकी शक्तियाँ सारे संसार को चला रही हैं । उन सब अन्दर की शक्तियों को समझने के लिए स्मृति (होश) ठिकाने रखनी पड़ेगी । फिर स्मृति को बनाये रखने के लिये और इस अन्दर के देव को समझने के लिये वीर्य (हिम्मत) भी करना पड़ेगा । यदि स्मृति (होश) ठिकाने रहेगी, तो बन्धनों की खबर पड़ती रहेगी ।

२१. जैसे कोई अपने स्वार्थ की वस्तु है, तो झटपट मन के अन्दर उसकी दृष्टि (नजर) बन जाती है। 'दृष्टि' ही पहला बन्धन है। दृष्टि बनते ही सुख रूप वस्तु को पाने व दुःख रूप वस्तु को दूर हटाने के बारे में कई प्रकार के संशय खड़े हो जायेगे कि " कभी यह ऐसा घटित न हो जाये, जो सांसारिक सुख प्राप्त करने में अड़चन हो।" यही संशय दूसरा बन्धन है। फिर मनुष्य कर्त्तव्य सम्बन्धी सोचों में पड़ जायेगा कि " यह करना चाहिये था, यह नहीं करना चाहिये था, ऐसा करना तो ठीक नहीं है, इत्यादि इत्यादि" । यही तीसरा शील व्रत परामर्श बन्धन है। सांसारिक प्राणी व पदार्थों के साथ प्रीति (प्रेम) व लगाव होने से मन उधर ही सुख के लिये उलझा रहता है और मन से उनकी याद ही नहीं उतरती है अर्थात् मन उधर ही बहता रहता है, यही राग–बन्धन है। जिनसे थोड़ा दुःख प्राप्त हो जाता है, उनके बारे मे भी मन में जहर सा चढ़ जाता है और वह दुःख देने वाला प्राणी व पदार्थ बहुत बुरा लगता है और मन चाहता है कि वह दूर हो जाये। परन्तु वह भी मन से नहीं उतरता है अर्थात् मन को पकड़े रखता है। मन इसी चिन्तन में पड़ा रहता है कि किस प्रकार इस दुःख देने वाले से मेरा पीछा छूटे ? यही द्वेष बन्धन है। यही राग और द्वेष दोनों ही मन की अवस्थाएँ चित्त रूप हैं। चित्त का अर्थ है कि वह चिन्तन (सोचने) की धारा, जो एक विषय के बारे में अन्दर बहती रहती है। इस प्रकार ये राग व द्वेष अर्थात् सुख की वस्तु के पीछे राग रूप से चिपके रहना और दुःख देने वाली वस्तु व स्थिति से दूर भागना व उसको समाप्त करने का द्वेष रूप चिन्तन करना चित्त में जकड़े रहते हैं। जब यह राग व द्वेष रुपी चिन्तन बहुत गहराई में अन्दर चला जाता है और इसकी इच्छा के अनुसार कार्य नहीं बन पाता, तो सुख न मिलने पर उसके लिये विलाप करने की अवस्था का नाम मोह चित्त है। सोचे हुए के अनुसार जब कुछ भी न बन पाये, तो मन दुःखी होता है और इतने शोक

में डूब जाता है कि उसको आस पास की भी खबर नहीं रहती है । वह सोचता है कि " क्या करूँ, अब मेरे वश की बात नहीं है", यही मोह बन्धन है । ऐसी अवस्था में मन को बोल बोल कर समझाये कि " तेरे सोचे अनुसार (इच्छानुकूल) यदि कार्य नहीं हुआ तो कोई ऐसी बिगड़ने वाली बात तो है नहीं इसे जाने दे । जैसा समय व परिस्थितिवश हो गया है, उसके बारे में अब ज्यादा गहराई में सोचने से कोई लाभ नहीं है" ।

२२. आदतों की शक्ति के वशीभूत हुआ मनुष्य कहता है कि " आज तो मेरे साथ ऐसा घटित हो गया कि मैं दिन भर में बीड़ी भी नहीं पी सका व चाय भी पीने के लिये नहीं मिली ।" इस अवस्था में ऐसे अपने मन को समझाये कि "क्या बात हो गई, यदि बीड़ी व चाय नहीं मिली तो क्या हानि हो गई, उनके बिना मरे तो नहीं, यदि नहीं भी मिली, तो कोई घबराने वाली बात नहीं है, जीवन रखने के लिये भोजन की ही तो आवश्यकता है, परन्तु बीड़ी व चाय की आदत जीवन चलाने के लिये आवश्यक नहीं है ।" यह सब राग व द्वेष का चिन्तन (सोच) ही याद (स्मृति) को लपेटे रहता है, यही सब मिथ्या संसार की वस्तुओं का बन्धन मनुष्य को परमार्थ या कल्याण के मार्ग में चलने नहीं देता । ज्यों ज्यों आप होश (स्मृति) को रखकर देखेंगे तो आपको इस संसार में राग द्वेष का जाल ही मिलेगा । और कुछ भी नहीं मिलेगा । मनुष्य इन्हीं के रास्ते संसार में इतना उलझा हुआ है कि अपना जीवन का कल्याण भी उसने अड़चन में डाल रखा है ।

२३. जैसे एक बार किसी ने कड़वा वचन बोल दिया, चाहे वह अपना पिता ही था । ऐसी अवस्था में दूसरे ने उसको कड़वा बोलने वाला ही समझ लिया, परन्तु जो उसने पहले अच्छे शब्द (वचन) बोले थे व उसका पालन पोषण किया था, वह सब किया हुआ उसके मस्तिष्क (दिमाग) में नहीं है । कड़वे वचन सुनकर उसका मन तो यही कहता है कि " नहीं

जी ! देखो ! उसने मुझे ऐसा ऐसा कह दिया, वह मनुष्य ठीक नहीं है । " बस ! एक कटु वचन (वाक्य) से ही उसने उसकी दृष्टि बना ली और वही उसकी नज़र में बसा हुआ है । अब उसको अपने पिता की अच्छाई तो दिखाई देती नहीं केवल वह कटु वाक्य बोलने वाला ही नजर आ रहा है । यही दृष्टि–सृष्टि है अर्थात् जैसी अन्दर दृष्टि बनती है, वैसी ही उसको बाहर सृष्टि दिखाई देती है । अब उसको अच्छी वस्तु याद ही नहीं आती । यह दृष्टि में ही बन्धन है । यदि वह थोड़ा सा अपना मान (मैं) का स्वार्थ छोड़ दे, तो कोई भी कड़वा बोलने वाला व दुःख देने वाला भी नहीं है । फिर उसको एक ही भगवान् दिखाई देगा । एक ही चेतन, एक ही परमात्मा, सब जगह सृष्टि को चलाने वाला, इस काया को जीवन देने वाला व संसार में सारे कर्म करने वाला, वही दिखाई देगा । जब केवल वही दिखाई देगा, तो बाहर संसार में उलझा हुआ मन हल्का हो जायेगा । अब समझो ! बन्धन कोई भी नहीं रहा । ऐसी अवस्था में प्राणी कहीं भी उलझा नहीं रहेगा । जब अकेला जाग रहा है, तो उसी समय उसको शान्ति व सुख होगा और उसी में उसका टिकाव भी होगा । परन्तु जब मिथ्या सृष्टि छूटे , तब यह सत्य दिखाई (सूझ) पड़ेगा ।

२४. बाहर सारे संसार में चेतन व्यापक है और उसके प्रति ही अपना भाव बनाना है । इसके लिये दूसरों के सुख में सुखी होना है (मैत्री) और दूसरों के दुःख में दया भाव रखना है (करुणा) । यह विचार करना है कि कहीं पर भी मेरे बर्ताव से दूसरों को दुःख न हो जाये या उनका सुख न बिगड़ जाये । और दूसरे का अच्छा गुण तो पहचानकर वाह वाह (प्रशंसा) करनी है (मुदिता) और उनके अवगुणों, दोषों व पापों की अवहेलना करनी है अर्थात् उनको अपने ध्यान में बसाये नहीं रखना है, इसी का नाम (उपेक्षा) है । दूसरों के छोटे मोटे अपराधों (गल्तियों) के लिये क्षमा भी रखनी है अर्थात्

उनको दण्ड देने का भाव नहीं रखना और अपने आपको अपने में ही शान्त कर लेना। इस प्रकार यह बाहर की भक्ति भी करनी है। तब बाहर संसार में केवल उसका जीवन ही रहेगा अर्थात् तब ऐसा तत्त्व–ज्ञानी दूसरों में तो केवल देखने देखने में ही है, वास्तव में वह अपनी आत्मा और परमात्मा में स्थिर (सदा टिका) रहेगा। अपनी स्मृति में ही सब कर्म करते रहने से थोड़ा काम तो चलेगा, परन्तु पूर्ण भक्ति नहीं हो पायेगी। जैसे कि "मैं अपनी याद में आबाद रहता हूँ, अपनी मौज में चल रहा हूँ और दूसरों का मुझे कोई ख्याल (विचार) ही नहीं है।" केवल इस प्रकार से ही संसार में जीवन धारण करना अति उत्तम नहीं है बल्कि दूसरों के बीच में रहते हुए बाहर व्यापक जीवन को भी पहचानना है। तो ऐसा होने पर ही आपकी भगवान् की भक्ति आरम्भ हुई समझी जायेगी। आपको यदि अपने सुख का तो ख्याल है परन्तु दूसरों के दुःख व कष्ट की क़ोई परवाह ही नहीं है तो ऐसा समझा जायेगा कि आपकी संसार के सुखों में ज्यादा लगन है और अभी भगवान् का विचार ही उत्पन्न नहीं हुआ है। आप घर में रहते हैं, पड़ोसी की उपेक्षा कर देते है और उसकी आव–भगत (स्वागत) नहीं करते हैं व यही सोचते हो कि " जाने दो, हमने उससे क्या लेना है"? ऐसी अवस्था में उस बेचारे के मन में अवश्य ही तंगी होगी, तो वह आपकी यही दृष्टि बनायेगा " क्या है जी , यह तो किसी की परवाह ही नहीं करता।"यदि आपने इस व्यापक भगवान् की भक्ति करनी है, तो उस पड़ोसी का भी उचित मान रखना है। यदि आपने उसको कुछ प्रीति (मैत्री) का वचन बोल दिया, तो समझो उसके सुख में आप भी सुखी हो गये। वैसा ही प्रेम व मैत्री का बर्ताव भी उसके साथ करें। इसमें आपका कुछ बिगड़ता भी नहीं है। जितनी देर का बर्ताव उसके साथ है, वह केवल उतनी देर (समय) का है। पीछे आपकी उससे छुट्टी हो गई अर्थात् उसके साथ अच्छा बर्ताव करने से वह आपके बारे

में कोई खोटी दृष्टि नहीं बनायेगा व आप दृष्टि बन्धन से मुक्त हो गये। ऐसा धर्म अपनाने पर एकान्त में आसन पर आपका मन हल्का प्रतीत होगा जो कि ध्यान के अनुकूल होगा।

२५. अपना स्वार्थ ही संसार में ज्यादा चिन्तन (सोच) में डालता है। कर्त्तव्य के बारे में वह स्वार्थ ही ज्यादा चिन्तन करवाता है और वह ज्यादातर बाँधने वाला भी है। सर्वत्र (सब जगह) एक ही दृष्टि (नज़र) में रखना कि सबके अन्दर वही चेतन है, जो मेरे अन्दर बैठा है। इसलिये मैंने मैत्री आदि बलों द्वारा उसकी आराधना (उपासना) करनी है। किसी व्यकित में जो सुख हो रहा है उसको देखकर मैने दुःखी नहीं होना है और उसके सुख को बिगाड़ना भी नहीं है। यदि किसी के अन्दर दुःख दिखाई देता है, तो मैंने अपने अन्दर उसके लिये दया भाव भी रखना है। चाहे उसके दुःख को दूर करने मे मेरे से कुछ भी नहीं बन पाया, परन्तु दया भाव का दरिद्री मुझे नहीं होना है और दया के साथ व्यवहार करने में मैंने उसको किसी प्रकार से चोंट नहीं होने देनी है। दूसरे के अन्दर कोई भी छोटा सा गुण है, मैंने उसका गुण ही देखना है। यदि गुण नहीं है और दूसरे में अवगुण है, तो अवगुण की मैंने अवहेलना (उपेक्षा) करनी है।

२६. जैसे एक महात्मा पैदल विचरते थे। एक दिन वह किसी गाँव के बीच में से जा रहे थे। किसी व्यक्ति ने पूछा कि " महात्मा जी, इस गाँव के लोग कैसे हैं ?" महात्मा ने कहा " बहुत अच्छे हैं।" उस व्यक्ति ने कहा " बहुत अच्छे कैसे हैं, क्या आपकी सेवा की ?" उस महात्मा ने कहा " सेवा तो नहीं की।" उस व्यक्ति ने यह सुन कर कहा "फिर गाँव के लोग अच्छे कैसे हैं, जब आपकी सेवा ही नहीं की ?" तब महात्मा ने कहा " ये गाँव के लोग अच्छे इस प्रकार हैं कि किसी ने मुझे पत्थर नहीं मारा, किसी ने भी कोई मुझे दुर्वचन नहीं बोला, और किसी प्रकार से जाने के लिये मेरा

रास्ता भी नहीं रोका। तो बताओ यदि वे अच्छे नहीं होते, तो मेरे को तंग ही करते अर्थात् मेरे को गाँव में से आराम से गुजरने न देते और शंका की दृष्टि से देखते तथा अनुचित प्रश्न पूँछते। इसलिये ये सब गाँव वाले लोग अच्छे ही हैं।" अब देखो! चाहे किसी ने कुछ भी अच्छा नहीं किया है, परन्तु बुरा भी तो नहीं किया है। तो किसी प्रकार की बुराई न करना भी एक अच्छाई है।

२७. जब कोई मनुष्य हमारा बुरा नही करता है, तो ऐसा करने से उसकी अच्छाई ही देखना है। यदि वह कुछ बुरा भी करता है, तो भी उसकी उपेक्षा कर देना कि " क्या है जी ! उस बेचारे से बुरा हो गया, कारण कि मनुष्य का मन न जाने कितने चक्करों में पड़ा रहता है ? अपने सुखों के चक्कर में न जाने व्यक्ति क्या क्या कर बैठता है ? कर गया होगा कुछ, छोड़ो। इस बात को अब ध्यान में क्या लाना है"? इसी का नाम उपेक्षा है। इस प्रकार से दूसरों के साथ बर्ताव करने में यदि आप सही रह गये , तब आपको इस धर्म के रास्ते में चलने के लिये आराम मिलेगा और बल भी मिलेगा। यदि सही नहीं रह सके, तो समझो प्रकृति शक्ति है, जो केवल अपना ही सुख चाहती है अर्थात् पड़ी हुई सब आदतों वाला स्वभाव ही है, जिसमें अधिक खोंटापन है। थोड़ा सा अपना सुख बिगड़ा नहीं, बस प्रकृति भड़क गई। थोड़ा सा दुःख आ पड़ने पर भी प्रकृति भड़क जाती है। अब उल्टे ही इरादे करवाने लग गई, उल्टी बुद्धि आने लग गई, मिथ्या जोश आने लग गये व मन उल्टे कर्मो के लिये सोचने लग गया। यदि सोचों में पड़े पड़े यही जीवन संसार में चलता रहा, तो इस जीवन में बाहर ही बाहर भटकना है और अन्त में उत्तम तो कुछ मिलना नहीं है। फिर मन तो एकत्रित (इकट्ठा) नहीं होगा व अपने आप में नहीं आयेगा तो शान्ति व सुख कैसे पायेगा ?

२८. इस संसार में सब सुख व शान्ति चाहते हैं। शान्ति पाने का रास्ता ऋषि मुनियों ने भी यही बताया है कि बिना निमित्त (शर्त) के मन बाहर से छूट जाये। निमित्त (शर्त) के साथ तो ऐसे भी छूट जाता है कि बीड़ी पीने वाले का मन बीड़ी मिलने पर आदत के सुख की शर्त के साथ थोड़ी देर के लिये उस आदत से मुक्ति पाता है अर्थात् अब बीड़ी मिल गई, तो थोड़ी देर के लिये उस बीड़ी पीने के बन्धन से छूट गया। और भी कोई वस्तु अच्छी खाने पीने की है और जैसे खाने के लिये मिठाई का मन हुआ व आपने वह मिठाई बजार से लेकर के प्रयोग कर ली। इस प्रकार आपका मन थोड़ी देर के लिये इच्छा रूप दुःख से मुक्ति पा गया। इसी तरह आदर गौरव आदि के भाव से छूटना है। यदि किसी ने आदर मान दे दिया, तो मन खुश हो गया। ये छोटे मोटे सुख तो बाहर के निमित्तों (शर्तों) से बँधे हैं अर्थात् बाहर के कारणों से हैं। परन्तु यह जो बिना कारण के अपना मन शान्त हो जाये तभी कल्याण है इसका नाम ही निर्निमित्त, निरुपाधि , बिना किसी उपाधि या शर्त के सब विषयों व वस्तुओं से मन का शान्त होना व परम सुख प्राप्त करना है।

२६. निरुपाधि सुख तो भगवान् परमेश्वर का है। बाहर से उलझा हुआ मन यदि छुट्टी पा जाये और छुट्टी पाया हुआ मन उस प्राण शक्ति के साथ एकत्रित (इकठ्ठा) हो जाये, तो फिर जागती हुई अवस्था में, जो सुख मिलेगा, वह देव (भगवान्) का सुख है। इस सुख को पाकर के मनुष्य कहेगा " बस भाई ! जो पाना था सो पा लिया। अब मुझे कुछ भी जानने करने व पाने की आवश्यकता नहीं है, संसार चाहे कुछ भी कहता रहे।" परन्तु जब तक यह सुख नहीं मिलता है, तब तक ये ही निमित्तों के सुख बाहर संसार के हैं। मन की भड़कन ही है कि " अजी ! यह तो हुआ नहीं, चलो वहीं चलो, वहाँ देख लो, यह काम कर लो, वह कार्य कर लो।" कोई भी बाहर का सुख, किसी भी प्राणी व पदार्थ

से मिला हुआ, सदा रहने का नहीं है। यही एक अन्दर का सुख ऐसा है, जो परमात्मा चेतन का है, जागते हुए भी है, बुद्धि भी पूरी है और जिसमें कोई अभाव अर्थात् किसी प्रकार का घाटा टोटा भी नहीं सूझेगा और परिपूर्ण शान्ति है।

३०. इस सुख व शान्ति को पाने के लिये ही यत्न करना है। प्रत्येक कर्म में स्मृति रखनी है। जैसे धूप में चलने के दृष्टान्त में बताया गया है, इसी तरह और सब कर्मों में स्मृति रखनी है। देह और मन का भी ख्याल रखना है। मन के बीच में उलझनें आ जाती हैं। जैसे बातचीत का दृष्टान्त देकर बताया है कि बातचीत में ही मन भड़क गया, कुछ का कुछ बोलने के लिये चल पड़ा। यदि वहाँ स्मृति ठिकाने रहेगी, तो वह अपने निकलते हुए मिथ्या (गलत) शब्दों को भी रोक लेगा। इस प्रकार से प्रत्येक अवस्था में उसको अपने आपमें इतनी स्मृति रहनी चाहिये कि बाहर कोई भी खोंटा कर्म नहीं बन पाये, यही सारे कहे हुए का निचोड़ है।



प्रवचन

२०–१२–१६८६

अभी एक दो दिन से यही बात चल रही थी कि अपने अन्दर का मन यदि सब प्रकार के क्लेशों से और बन्धनों से मुक्त हो जाये, तो हल्का मन अपने आप में प्रसाद (प्रसन्नता) और आनन्द को अनुभव करता है, और यदि वह इस जगत् में बँधा रहे, तो उसकी प्राण शक्ति और उसका मन (ज्ञान) बाहर इतना भटक जाता है कि मन में शोक तन में रोग, बस ! इसी का ही दुःख उसको बना रहता है। इसके लिये मनुष्य को उपाय यही करना है कि हर समय स्मृति को ठिकाने में रखे। थोड़ा ध्यान द्वारा यह भी समझना है कि जिसके लिये मन बाहर भटक रहा है, उसमें कोई सार नहीं है, अन्त में निस्सार ही सिद्ध होगा। जहाँ तक आप बाहर का कोई भी साधन या बाहर की सामग्री अपने सुख के लिये इकट्ठी करके रखते हैं, उनका सुख थोड़े समय तक का ही होगा। सदा (हमेशा) तो रहने वाला है नहीं। कोई भी बाहर का सुख कभी भी असीमित नही है, कोई आयु के साथ बँधा है, जैसे बचपन का सुख बचपन तक है और जवानी का सुख जवानी तक बँधा है। कोई सुख शरीर की शक्ति के साथ बँधे हुये है, जैसे खाने पीने का सुख, आदर मान का सुख, और कोई ऐसे सुख हैं जो कुछ समय तक स्वास्थ्य के साथ हैं। बाहर भटके हुये मन में श्वाँस भी ठीक नहीं चलता, उस समय उसके देह के अंग भी ठीक अपना–अपना काम नहीं करते, तो ये बातें कहते आ रहे हैं। अपनी जो आदते हैं उनको सुधारना, उसमें थोड़ी तंगी क्लेश भी हो जाये तो उसको सहन करना, और थोड़ा सा अपना सुख भी जो बाहर का है आदत का है, नहीं मिला तो कोई परवाह नहीं, उसका भी त्यागी बनना। तो यह तो है अपने आप में करने के लिये,

किन्तु हम संसार में रहते हैं समुदाय में, उस समुदाय के प्रति भी मनुष्य का कर्त्तव्य है। यदि वह समुदाय के बीच में ठीक नहीं चलेगा, तो वह समुदाय का मन भी बाँधेगा। बाहर ठीक रीति से यदि नही चला जायेगा, तो दूसरे बाँधते हैं। अब इन दूसरों से भी छुट्टी (मुक्ति) पानी पड़ेगी, तब जो है निरुपाधि मन अपने आप में स्थिर होता है, जैसे मान लो आपके द्वारा किसी दूसरे मनुष्य के प्रति दुर्व्यहार (खोटा बर्ताव) हुआ, जैसा बोलना चाहिये था, वैसा आपसे नहीं बोला गया। आप अपनी चिढ़ में थे, क्रोध में थे, कोई इच्छा पूरी नहीं हुई थी, तो भड़का हुआ मन शायद वह ठीक तरह से अपना सही बर्ताव भी न कर सके। बहुत स्मृति ठिकाने रहेगी, मन काबू में रहेगा, तो समय पर ठीक बर्ताव बन पायेगा। भगवान् सबके अन्दर इस ढंग से बैठा है, दीखता नहीं है, पर प्रतीत कर करके (महसूस करके) अपनी माया रूपी शक्ति को इसी तरह से चलाता है कि जैसे आप सामने से प्रकट होंगे, उसी ढंग का दूसरे से बर्ताव मिलेगा। यदि आप अपने मन को रोकते–रोकते उस अवस्था में सही बर्ताव करेंगे, तो वह भी दूसरे के अन्दर बैठा भगवान् पहचानेगा, कि यह मनुष्य अपने को वश में करता हुआ बोल रहा है, तो उसके अंदर आपके प्रति श्रद्धा प्रीति बनी रहेगी। यदि आप भड़क करके अहंकार में, क्रोध में बोलेंगे, तो वह भी अन्दर बैठा ज्ञानदेव महसूस करेगा। संवेदन (महसूस) करने वाला वह ज्ञानदेव है, फिर आपके लिये भी वह ऐसा ही बर्ताव करवायेगा, जिससे आपको सुख तो हो नहीं सकता।

सही ढंग से अपने आपको बाहर समुदाय या समाज में चलाने के लिये दस बलों की भक्ति करनी है। ये बल क्यों कहे जाते हैं? इनको अपने आप में टिका लेने से बाहर संसार में मनुष्य मन से दुर्बल नहीं रहेगा। जैसे अगला व्यक्ति अपने सुख के लिये दूसरे को अधिक ऊँचा भी बोल जाता है। और परेशान भी कर जाता है, आपको दो बातें ज्यादा भी बुला

जायेगा, क्योंकि उसकी उसी में प्रसन्नता है, उसका अकेले में मन नहीं लगता। अब आप चिढ़ गये और ऐसा मानने लगे की मेरा इसने ध्यान खराब कर दिया, मेरा समय खराब कर दिया। ऐसी अवस्था में आप उसके सुख में चिढ़ करके उस चिढ़े मन से चाहे आप जप में बैठें, चाहे प्राणायाम में, चाहे और किसी काम में–आपका मन वहाँ लगेगा नहीं क्योंकि आपके मन में उस समय इस प्रकार की विचारधारा चलेगी कि "अजी ! यह अपने अहंकार में मस्त है और हमको दुःख दे रहा है।" यदि इस प्रकार की विचारधारा चले, तो यह विचार करें कि "कोई बात नहीं, यदि यह बेचारा इसी में सुखी है, और इसको दूसरा रास्ता सुख का लेना नहीं आता, तो कोई नहीं, मैं भी इसके सुख में सुख की ही भावना करूँ। उसके सुख में मैं दुःखी नहीं होऊँ और इस प्रकार अकेले में भी उसके दोष न देखें। व्यापक की भक्ति करनी है, ये पक्षी बोलते रहते हैं, मोटर चलती रहती हैं, हवाईजहाज चलते रहते हैं, रिकार्ड बजते रहते हैं, यदि इन सबमें तंगी या दुःख न मानकर आपका मन मुक्त हो करके अपने आप में आनन्द से बैठ गया, तो उसका नाम मुक्ति है। इसका आनन्द जो है, कभी समाप्त होने वाला नहीं है।

एक महात्मा थे। बाहर खेतों में एक कुटिया में रहते थे। उनकी कुटिया के कुछ दुरी पर फैक्टरियाँ भी थी। वे भी रात को चलती थी तो उनकी घरड़–घरड़ की आवाज होती। जब महात्मा आधी रात को उठकर ध्यान में बैठते तो तब उस महात्मा के ध्यान में थोड़ा सा विक्षेप होता। "लो जी ! मैं तो आधी रात को इसलिये उठकर बैठता हूँ कि मेरे मन में विक्षेप नहीं होगा।" "दुनिया रात को सोई हुई होती है, और मैं अपना ध्यान करूँगा, परन्तु ये फैक्टरियाँ रात को भी चलती रहती है।" देखो। ये लोग अपने लोभ लालच के कारण कैसे–कैसे दुनियाँ को दुःखी करते हैं। क्या–क्या दृष्टियाँ (नज़रें) बनाने लगे ? अब बताओ, उस अवस्था में

इस संसार के दोष देखने और सोचने से क्या होगा ? फैक्टरियाँ तो बन्द होने की नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि उसका ध्यान लगने का नहीं, तो फिर और संसार में कहाँ–कहाँ भटकेगा। और जहाँ भी वह जायेगा, वहाँ भी इससे भी अधिक विघ्न मिलेंगे। इस प्रकार अपने ध्यान के विघ्नों के बारे में बहुत प्रकार से सोचता रहा। ऐसा सोचते–सोचते वह बड़ा दुःखी सा हो गया। ऐसे अपने चक्कर में पड़े हुये को किसी दिन उसको एक महात्मा मिल गये और उनसे उन्होंने कहा, "देखो जी ! क्या करें? हम तो यहाँ एकान्त में आ करके पड़े थे, परन्तु आजकल ऐसी ये फैक्टरियाँ खुल गई, जिससे यह कुटिया एकान्त भी नहीं रही, रात भर घरड़–घरड़ होती रहती है, उससे ध्यान भी ठीक नहीं लगता है।"

ऐसा कहने पर उस दूसरे महात्मा ने कहा कि "आपको ध्यान से ही क्या ज्यादा प्रेम है ?"

पहले महात्मा ने कहा, "अजी ! ध्यान में तो आनंद आता है।"

फिर दूसरे महात्मा ने कहा, "यदि आनन्द ही लेना है, तो नींद में ले लिया। यदि धर्म की कमाई ही करनी है, तो ऐसे विचार करो कि फैक्टरियाँ चलती हैं तो उनमें सैकड़ों आदमी काम करते हैं उससे उनको महीने में पैसा मिलता है और उन पैसों से अपने बच्चों के लिये कोई कपड़े ले जाता है, कोई मिठाइयाँ ले जाता है, कितने मनुष्यों को सुख होता है।" "उनके सुख को विचार करते–करते अपने मन को तो भूल जाओ, और उनके सुख में ही अपने मन को सुखी करो, इसी का नाम मैत्री भावना है, इस प्रकार अपने मन को बलवान बनाओ"। यह भी तो ध्यान है। जिस प्रकार परमात्मा में दुनियाँ बस रही है, उसके विरोधी क्यों बनें, व्यापक की भक्ति करनी है। तो महात्मा ने वैसा ही किया। उसने विचार किया कि "बात तो महात्मा ठीक ही कह गये है। कितने मनुष्य बेचारे काम कर रहे हैं और उनकी हँसी की आवाजे भी आ

रही हैं। जब ये घरड़–घरड़ की आवाज उनकी खुशी को नहीं बिगाड़ती, तो मैं क्यों यहाँ बैठा–बैठा चिढ़ रहा हूँ। मनुष्य तो वे भी हैं इनके सुख में मैं भी रंग जाऊँ, कोई बीड़ी पीता होगा, कोई हँस–हँस करके बातें करता होगा, कोई कुछ करता होगा, बेचारे गरीब आदमी है, इन फैक्टरियों में काम करने से इनको समय पर वेतन मिलता होगा जिससे अपने परिवार का पालन पोषण करते होंगे।" ये ध्यान करते–करते उनके सुख में सुखी और उनके दुःख में दया का भाव मन से चिन्तन या ध्यान करने पर उसी महात्मा को वह घरड़–घरड़ की आवाजें भी सुननी ही बन्द हो जायेगी।

योगदर्शन में कहा है कि जब तक मैत्री, करुणा, मुदिता व उपेक्षा इन चार भावों की ठीक प्रकार से भक्ति नहीं हो लेती, तब तक ध्यान के योग्य मन नहीं बनता, चेतन ध्यान यह है कि संसार जिस भी अवस्था में बस रहा है वह भले वैसे ही बसे, परन्तु सही भावना द्वारा अपना मन इससे खींच ले। अब उस महात्मा ने दूसरों के सुख में सुखी होना रूप मैत्री भाव करते हुये अपने मन को खींचा तथा महात्मा के वचनों को भी याद किया जैसे कि महात्मा कह गये थे कि फैक्टरियों में काम करने वालों को वेतन मिलता होगा, उस वेतन से बेचारे गरीब मजदूर अपने बच्चों के लिये खिलौने, मिठाइयाँ, कपड़े इत्यादि, वस्तुएँ उनके भरण पोषण के लिये ले जाते होंगे और उनके घर वाले भी बेचारे सुखी होते होंगे। बस! यह विचार करते–करते लगभग घंटे–डेढ़ घंटे के बाद वह ऐसे ध्यान में चला गया कि फिर उसको याद आया कि "क्या फैक्टरी बन्द हो गयी ?" जो आवाजें सुननी बन्द हो गयीं। बस, ध्यान में लगे हुए उसका मन इतना एकाग्र हो गया, जैसे नींद में सोये हुये मनुष्य का होता है। काफी देर सुनने के बाद उसने आवाज सुनी कि फैक्टरी तो चल रही है, परन्तु मालूम होता हैं कि उसकी आवाज घट गयी। फिर उसने विचार किया कि आवाज कैसे घट गयी? अन्त में वह

ध्यान वाला मन जब पूरा उधर को आया तो वही घरड़–घरड़ की आवाजें जोर–जोर से सुनने लगी। तब वह कहता है कि बस ! मैंने उस महात्मा द्वारा बतायी ध्यान करने की युक्ति पा ली। यह तो मन को खींचने का नाम ध्यान है। इसको एक ओर लगा दो। हमारा ही मन जो द्वेषी था, उसी कारण से क्रोधी था, दूसरों के लिये खोंटी दृष्टि बनाता था, इसलिये उसी के बीच में संशय करता था, "लो जी ! ऐसे–ऐसे यह संसार चल रहा है, यह बड़ा दुःख रूप है, इसमें अपने सुख के लिये देखो ! दूसरों को तंग करते हैं, इनको क्या पुण्य मिलेगा।" ये सब खोंटी या बुरी दृष्टियाँ ही तो हैं। इन दृष्टियों के कारण बस द्वेष से उखड़ा हुआ मन और उखड़े हुये मन के बीच में सब इन्द्रियाँ आदि भी खोंटे ढंग से चेतन हुई–हुई उस छोटे शब्द को ज्यादा ऊँचा करके सुनाती हैं। और जब उसने ध्यान समेटा तो उनसे वैर बन्द हो गया, द्वेष नहीं रहा, क्रोध नहीं रहा और आवाज की ओर मन गया नहीं। ध्यान करते–करते इधर इन्द्रियाँ भी उधर से लौट आयीं। जब इन्द्रियाँ उधर से लौट आयी तो कहीं आवाजें नहीं रही। उसने सोचा "अरे ! ध्यान क्या करना, जितनी मेरे मन को इस अवस्था में शान्ति है इतनी पहले ध्यान से भी नहीं होती थी। तो यह है "मुक्ति का सुख"। ध्यान नाम ही यह है कि एक किसी वस्तु के चिन्तन में, स्मरण में मन इतना एकाग्र हो जाये कि और तो और मन.का भी पता न रहे, तब ध्यान है। परन्तु यह मैत्री बिना नहीं होता। इसलिये मैत्री की प्रथम आवश्यकता है। इससे संसार वैरी भी नहीं बनेगा और अपना ध्यान भी सध जायेगा।

इसी प्रकार एक और भी ध्यान करने वाला था। वह कहता था कि "लो जी ! ये सुबह सबेरे मन्दिरों में रिकार्ड बजते रहते हैं कइयों की नींद को खराब करते हैं और जो ध्यान करने वाला है, उसका ध्यान भी नहीं होने देते, और पढ़ने वाले परीक्षार्थियों की पढ़ाई में भी विघ्न डालते हैं। उसको

थोड़ा नींद का भी विचार आ गया। अब यह दोष दर्शन संसार का करके भला कोई मनुष्य इससे मुक्त हो सकेगा? और ज्यादा उलझेगा ही ! ध्यान में सुख तो कहाँ मिलेगा? उसको भी पूछने पर किसी महात्मा ने बताया——"अरे ! देखो इन रिकार्डो के सुनने से कइयों को लाभ भी मिलता होगा और सुख भी प्राप्त होता होगा तभी तो लगाते हैं। कइयों की बेचारों की यूँ भावना बनती होगी कि भाई भगवान् का गीत है, सुन लो। महात्मा ने उस साधक को पुनः कहा "आप उनके गुण क्यों नहीं देखते और उनके सुख में सुखी क्यों नहीं होते। पहले इस लम्बे चौड़े भगवान् से मैत्री कर लो। तो सबसे पहला पुण्य कर्म तो यह जागेगा ! इससे ध्यान मिलेगा और आपको सुख शान्ति भी मिलेगी। तो यह पहला बल है, यह मैत्री भगवन्त लोगों का, उन भगवानों का गुण है, जिन भगवानों ने संसार को जिस प्रकार से भी चल रहा है चलने दिया और अपने मन को इस तरह से शान्त कर लिया, कि "भई ठीक है ये सब बच्चे समझ लो," "चाहे अपने आप में मन के दुर्बल समझो। संसारी जीव हैं। इनको रास्ता नहीं मिलता। इसलिये अपने सुख के लिये सब ढंग के काम करते हैं। तो. इनके सुखों के बीच में हम दुःखी क्यों हों ?" किसी का भी सुख हो, जो इसमें सुखी होना है इसका नाम मैत्री भाव है।

संसार जिस अवस्था में बस रहा है, बसने दो। उनके सुख में सुखी होवो और आपको यह आवश्यकता नहीं होनी चाहिये कि उनका सुख मुझे चाहिये। आप उनसे लिये जाने वाले सुखों से वैराग्यवान हो जाओ, परन्तु उनके सुख में सुखी होवो दुःखी न हो और उनके दोष न देखो। और उनका यदि दुःख याद आ जाये, तो करुणा भाव (दया भाव) ही मन में बसाना। चाहे आप से उनका दुःख दूर करने के लिये कुछ नहीं बन सकता——आपने पैसे नहीं देने। सारे संसार के दुःख कौन दूर कर देगा ? भाव के दरिद्री न रहे। थोड़ा भाव बना

लिया कि "ओहो ! बेचारा दुःखी है ।" उस दुःख का विचार करते–करते जैसे उस महात्मा ने फैक्टरियों के कर्मचारियों का सुख याद करते करते फैक्टरियों की आवाजों तक को भी नहीं सुना और उनके दुःखों का विचार करते–करते अपने मन में दया बसायी । दुःख किसी का भी हो चाहे अपने बैरी का ही हो तब भी अपने मन में दयाभाव ही बसाये । जैसे मान लो ! कोई आपको तंग करता था, निकट में बसने वाला था, आपको उसके प्रति शिकायतें हैं । यदि मन में उसका दुःख याद आ जाये, तो मन खुश भी होता था कि "अच्छा है ! भगवान् ने ऐसे दुष्ट को दण्ड दिया ।" यदि ये भाव मन से निकाल दें तो आपने भगवन्त लोगों का रास्ता अपना लिया । भगवन्त लोग जो है, दूसरों से होते हुए दुःख को मनोमन सहन करते हैं । परन्तु दूसरे के दुःख को देखकर सुखी नहीं होते । यह नहीं है कि कोई मरने लायक दुःख देता हो । ये मनुष्यों का समाज है इसमें एक दूसरे को कोई मरने मारने लायक दुःख नहीं दे सकता । कई बार बात होती हैं और आप देखते हैं कि जिन लोगों ने घर बनाये हैं,वे ही उनमें बस रहे हैं । कोई धक्का थोड़ा ही कर सकता है ? परन्तु ये पक्षियों में तो है कि एक के घर को दूसरा तोड़ फोड़ जाता है, क्योंकि उनके अन्दर कोई न्याय नहीं है, कोई बल नहीं है । परन्तु ये जो मनुष्यों का संसार है, यह पुरुष का लोक है इसमें इतना भय नहीं है, जितना कि आप का मन खड़ा कर देता है । मन कह देता है कि "अजी ! ये तो जीने ही नहीं देता ? "कोई नहीं, जीने क्यों नहीं देगा ?" जी ही रहे हैं । थोड़ा सहन शक्ति की ही आवश्यकता है ।" भड़कने की आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार थोड़ा अपने मन को शान्त करने की आवश्यकता है । कोई भी व्यक्ति कैसे अपनी शक्ति से संसार को अपने मन के अनुसार ढाल लेगा । दूसरी ओर से भी प्रतिरोध (रोकना) और विरोध चल पड़ता है और वह उस अन्याय करने वाले की सत्यानाश की जड़

बन जाती है। चाहे कोई अपने कर्मों से ही दुःखी हुआ है, हमने अपने मन में दया ही बसानी है, यह ठीक है कि हमारे से सहायता तो कोई नहीं बन पाती। मान लो ! यदि आप उसके दुःख में सुखी भी हो गये, तो आपको क्या मिलेगा ? खाली मन ही खोटा होगा और कभी आप पर भी यदि दुःख आ पड़ा, तो वह भी प्रसन्न होगा। तो दुःख में दया भाव ही बसायें, चाहे एक क्षण का हो। किसी को भी सुखी होने पर अपने मन में भी स्वयं सुखी होने का भाव उपजाना है, चाहे सुखी होने वाला किसी रास्ते से भी सुखी हो रहा है। हमने तो अपने मन की रक्षा करनी है। हमको क्या लेना है, इन बातों से ? "अजी चोरियाँ करता है या झूठ बोल रहा है इत्यादि ?" आप फिर क्यों उसके लिये दुःखी हो रहे हो, इतना अवश्य है यदि वह सुन सके तो प्रेम से समझा दो और उसको जता दो। यदि वह मान जाये, ठीक है, नहीं मानता तो फिर क्या करना है। आप दुःखी हो करके, चिढ़ करके भी क्या बनाओगे? इस प्रकार का मन में भाव बनाओ कि "मैं तो इतना ही जानता हूँ कि ये ऐसे सुखी हैं तो मैं दुःखी क्यों हूँ ?" और यदि इसके दोष दीख रहे है तो उनके दोषों को ध्यान में न बसा कर उनकी उपेक्षा करो, अर्थात् उनके बारे में अधिक सोचने का कष्ट ही न करो। वहाँ तो यही नीति होती है। इसलिये किसी के सुख में भी सुखी ही होना है, दुःखी नहीं होना। क़िसी के दुःख में भी दया ही रखनी, प्रसन्न नहीं होना और जहाँ तक भी है किसी का अच्छा काम तो देख लेना, खोंटे काम पर ज्यादा दृष्टि नहीं रखनी। यदि खोटे पर दृष्टि रखेंगे तो मन के अन्दर दोष जो हैं, द्वेष पैदा करेगा, क्रोध पैदा करेगा। एकान्त में ये सब आपको शान्ति नहीं लेने देगें। ये सारे उत्तम बल है। ये पहले चार मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा ये बाहर लोगों से बर्ताव करने के लिये है। क्योंकि जैसा मन, वैसा आप दूसरों के साथ बर्ताव करेंगे। यदि मन भड़का हुआ है, दूसरे के सुख

में सुखी नहीं है, तो बोल करके देखो, उसको वह बोल अच्छा नहीं लगेगा, और उससे बात करोगे तो ऐसा मालूम होगा कि आप अन्दर और बाहर दो है, आप जैसे होना चाहिये, ऐसे व्यक्ति नहीं है, क्योंकि अन्दर मन में तो कड़वा या विपरीत भाव है, और ऊपर से किसी प्रकार मीठा करके बोलते है। अकेले में तो उसका दुःख चिन्तन करते है और उसके सुख को सहन नहीं करते और सामने चाहे वह कैसा भी आदमी है, फिर आप दीन भी बनते है, और बर्ताव में उसके लिये नम्र भी बन गये। दो प्रकार का मन ले करके कोई भी व्यक्ति अपने आप में शान्त नहीं होता और बाहर संसार में भी सुखी नहीं हो सकता। ये आप निश्चय जाने, जो आप प्रकट हो रहे हैं, उससे दूसरा भी आपके अन्दर के भावों को पहचानता है और उसी के अनुसार पहचान करके वह अपना व्यवहार भी करेगा, भले वह अच्छा हो या बुरा हो। यदि आपने इस प्रकार चिन्तन किया कि चाहे ये कैसा भी है, उसके सुख में मैं दुःखी नहीं, तो आपका एक रूप भाव वाला मन, एक रूप वाली आँख जब उस पर पड़ेगी तो वह भी मित्र हो जायेगा। ये बल हैं सारे। जैसे अपने अन्दर रहकर ध्यान को बल देते हैं, बाहर दूसरों पर ऐसा प्रभाव डालते हैं, जिससे कि बाहर भी जीवन सुखी होता है और अपने आप में उत्तम भी प्रतीत होता है। इस रीति से कोई भी व्यक्ति सुखी है, उसके सुख में सुखी होना है, ये पहला मैत्री बल है, और इसी तरह दुःख में दया भाव रखना, ये दूसरा करुणा बल है। किसी से थोड़ा बहुत दुःख हो गया, अगले का मन तो दीखता नहीं। इस अपराध के बीच में क्षमा रखनी है और इस क्षमा को मन में बसाने के लिये इस प्रकार से विचार करना है कि "चलो हो तो गया ही है", अब लड़ाई झगड़े से क्या बनेगा, जोर जबरदस्ती करेंगे, तो वह कौन सा पीछे रहेगा, दूसरा भी वैसा ही कुछ करने की सोचेगा, तो सदा के लिये एक ऐसा रास्ता चल पड़ेगा की उस रास्ते से ये आध्यात्मिक सुख या अपने

मन की शान्ति कभी भी नहीं मिल सकेगी। थोड़ा सा एकान्त में बैठ करके, सहन करके मैत्री चिन्तन किया, धीरे–धीरे आपका प्रभाव ऐसा ही हो जायेगा। फिर उधर से भी कोई किसी प्रकार विरोध नहीं आयेगा तो आपने क्षमा भाव रख लिया, और यदि दोष पर ही दृष्टि डालेंगे, तो वह एकान्त में ध्यान में आपको बैठने नहीं देगा, तो फिर किस तरीके से आप संसार के सत्य को पहचानोगे

क्रोध स्मृति को ठिकाने नहीं रहने देता। यदि स्मृति ठिकाने नहीं रहेगी, तो मन के बीच में उन खोंटी आदतों को आप कैसे जीत पायेंगे। बाहर यह जो व्यापक जीवन है, इसी का नाम परमेश्वर है। इस व्यापक जीवन के बीच में भी ऐसा कोई अपराध न हो जाये, जिससे हमारा मोक्ष का रास्ता रुक जाये। संसार के ढंग से चलते–चलते हमारा प्राण और मन, इतना बाहर भटक गया है कि अब अकेले में शान्ति नहीं मिलती, अकेले में आनन्द ही नहीं मिलता। सब प्रकार से अपने मन को बाहर से मुक्त करना हैं। बाँधने वाले यही ऊपर कहे गये राग द्वेष आदि बंधनों से होने वाले बर्ताव आदि है। दूसरा कैसे भी करता है, परन्तु हमारा स्वभाव श्रेष्ठ होना चाहिये। किसी को यह नहीं दिखे कि मैंने गलत किया है। चेतन मन के बन्धन कटते हैं। सब शास्त्र यही कहते हैं कि "चेतन की मुक्ति होती है, चेतन ही मुक्त है, जड़ मुर्दा कोई मुक्त नहीं है", चेतन नाम चेतने का या अपने आपको चेताने का है मुर्दा रखने का नहीं, यह जितनी माया प्रकृति है, यह मन को मुर्दा बनाती है। जैसे दूसरे के सुख को देख करके जल गया, परन्तु विचार इस प्रकार करना है,"अरे मना ! तू क्यों जल रहा है।" थोड़ा ऐसे बोला, यहीं मन को चेताना है। चेतन या जगाना ही मन को चेतन करना है, "तेरे जलने से क्या उसका सुख बिगड़ जायेगा ?" उसका सुख तो बिगड़ेगा नहीं, तेरा ही खाये पिये का भी सुख बिगड़ जायेगा, तेरा श्वाँस ठीक रीति से नहीं चलेगा, इसलिये दूसरे के सुख

में जलता क्यों है ? सुखी हो ले, और दुःखी व्यक्ति कोई भी है वह दया का ही पात्र होता है। दुःख उसके कर्मों के कारण से हुआ है। तो ये सब भावनायें हैं इस प्रकार जो मन को भावित करता है अर्थात् सही प्रकार से भाव युक्त कर लेता है, उसका मन अपने अन्दर से ही इतना जाग जाता है कि फिर उसको ध्यान कोई समस्या नहीं रहती। बड़े आराम से ध्यान कर लेता है। यदि ये भाव नहीं जाग पाते, तो सांसारिक भाव सारे मन में घूम रहे हैं। किसी के सुख को देख करके चिढ़ गया दुःख को देख करके हँस पड़ा, गुणों को देख करके सहन नहीं कर सकता, तो ये संसारी भाव हैं, जो बालक के मन में ही प्रायः उत्पन्न होते है। जो अपने मन को भावित करता रहता है अर्थात् अपने मन को सही प्रकार से सही भावों से युक्त करता रहता है। तो उसको यह अन्दर का जीवन अपने आप में उत्तम मिल जाता है।

उस बड़े फल को दृष्टि में रखते हुये, जो छोटा फल है, उसको बलिदान कर दो,। बड़ा फल यह है कि अकेले में जागता हुआ अपने आप में बैठ करके अपना आत्मा का आनन्द और शान्ति पाये। यदि मन के अन्दर भाव ठीक नहीं है तो बर्ताव दूसरे के साथ कैसे सही होगा? बाहर अपना बर्ताव सही करना, यह शील कहा जाता है। हम नहीं जानते दूसरा कैसे रहता है लेकिन हमारा स्वभाव बाहर भद्र होना चाहिये अर्थात् श्रेष्ठ व्यक्ति का होना चाहिये। यद्यपि अपने में वैसा गुण है नहीं, परन्तु फिर भी दूसरों के लिये अपने आपको गुणी रूप जताना, ऐसे मिथ्या अहंकार के चक्कर में न पड़े। ऐसी जो "मैं" रूप अंहकार है, इस "मैं" का दान कर दे अर्थात् त्याग दे, भगवान् को अर्पण कर दे कि "प्रभो ! यह मैं तेरी है जो तूँ समझ लेगा वो ही मैं हूँ, जैसे आप गुणी हैं, बाहर अच्छा बर्ताव करते हैं तो लोग आपको गुणी की ही "मैं" देंगे कि यह व्यक्ति बड़ा गुणी है तो यह "मैं" आपकी मीठी है क्योंकि ये बाहर दूसरों में बैठा हुआ भगवान् स्वयं मुझे दे रहा

है। बस अपने आप में ये ही गुणों की "मैं" बनायें, अब यदि भगवान् के गुण और बल धारण करेंगे, तो वे ही सबको दीखेंगे। बस, वही दूसरे ही जो हमको कुछ समझें भले समझें। हम अपने आप में कुछ भी न बने केवल अपने भले रास्ते पर चलना मात्र बनाये रखें अपने आप में कुछ बनने बनाने की "मैं" है उसको त्याग दें या भगवान् के ही अर्पण कर दें। इसको भगवान् के अर्पण कर दें कि भगवान् तू मेरे को जो समझ लेगा मैं वह ही हूँ। इसका तात्पर्य यह है कि दूसरों में बैठा हुआ और दूसरे के गुणों को पहचानने वाला भगवान् दूसरों द्वारा ही जो कुछ हमें पहचाने वही संसार में मेरा है या वही "मैं" संसार में हूँ। अपने बच्चे के, साधारणतया प्राणी संसारी जन, छोटे गुण को भी बढ़ा करके बोलता है, दूसरे के बड़े गुण को भी दबाता है। चाहे किसी ने छोटा भी अच्छा काम किया, तो वह अच्छा ही है। गुण तो गुण ही रहेगा। पाप तो प्रकृति करवाती है, अपनी दुर्बलता करवाती है, स्वभाव करवाता है, केवल जीव नहीं करता। किसी ने एक अच्छा काम किया, तो उस अच्छे काम की सफाई देखनी, किन्तु वो खोंटे कामों को नहीं देखना। दोष तो अपने देखने चाहिये। सबके शरीर गंदे है। यदि अन्दर की गन्दगी देखे, तो क्या हम सब एक दूसरे से मिल कर बैठ सकते है? चेतन देखते है। ज्योति देखते है। ज्योति जग रही है, देख रहे है, सब जी रहे है, वो ही ज्ञान रूप चेतन ही सबमें अच्छा लग रहा है। इसी प्रकार दूसरे के मन की गन्दगी भी क्या देखनी, अच्छाई देखें। यदि यह भाव नहीं जगाओगे, तो जैसे व्यक्ति नशे में पड़ा रहता है ऐसे ही अविद्या के नशे में पड़े रहना पड़ेगा। इसी अविद्या से अपने आपको जगाने का नाम चेतन करने का है।

जिसके हाथ में क्षमा का शस्त्र है, उसका दुर्जन क्या कर सकता है ? हर समय क्षमा रखनी। जैसे साधु महात्मा विचरते है, यदि मन में क्षमा होगी, कहीं भी चला जाये कोई परवाह

नहीं । यदि क्षमा से विपरीत क्रोध है, तो कहीं भी वह नहीं टिक सकता, अपनों में भी मित्र प्यारे बन्धु लोगों में भी ठीक से नहीं रहा जा सकता । इसलिये क्षमा एक बड़ा बल है, यह भगवन्त लोगों का है । जो भगवान् हुये है, जिन्होंने यह धर्म का रास्ता चलाया है, यह भी उनका बल है ।

शील का तात्पर्यार्थ (मतलब) यही है कि ऐसा कोई बर्ताव नहीं करना, जिसके लिये दूसरा अपनी ओर अंगुली करे, और दूसरा मन में बसा करके, उसके लिये कोई बदले की भावना रखे या और किसी प्रकार से खोंटा सोचे, ये शील होता है, अर्थात् अपना प्रत्येक अवस्था में सही बर्ताव रखना, इसका नाम शील होता है । कामना आ गई मन में वैराग्य उत्पन्न किया, अरे मना ! खा–खा करके इतने दिन देख लिया फिर भी इसके पीछे भाग रहा है, और भी जितने सुख है क्या तूने देखे नहीं है?" ध्यान करके अपने मन को प्रेरित करते रहे । इस तरह से चेतन करते–करते एक दिन व्यक्ति का मन चेतन भी हो ही जायेगा, यदि यह करते–करते व्यक्ति मर भी गया और यदि उत्तम मुक्ति का फल नहीं भी मिला, तो कभी तो मिल ही जायेगा ।

ये सब बल है, उपजाने से उपजेंगे, बच्चे के अन्दर नहीं होते, जन्म से किसी को नहीं मिलते । यदि ये बल है, तो कोई परवाह नहीं, संसार कैसा भी हो, कोई चिन्ता की बात नहीं । जैसे एक बार महात्मा के रूप में विचरते हुये भगवान् को किसी ने आकर के व्यर्थ में तंग करना शुरू कर दिया । उन्होंने सोचा कि कितना ज्यादा तंग करेगा ? मैंने ध्यान में बहुत तंगी आसन पर सहन की है । देखें ! कितना यह तंग कर लेगा । बस वो देखते–देखते उस सारे दुःख को मन में पचाते (हज़म करते) गये, अन्त में उसी दुःख देने वाले के मन में ही ये भाव उत्पन्न हो गया कि मैंने इनको बिना कारण के तंग किया और क्षमा याचना करने लगा, जो यह सब कुछ दुःख (भगवान् स्वरूप महात्मा) सहन करते गये । यही सब

सहन शक्ति है उस भगवान् ने पुनः उसके बारे में ये भाव बनाया कि "यह बेचारा अपने सुख के कारण से, नादानी से कुछ कर रहा है तो थोड़ा अधिक सहन शक्ति का अभ्यास बढ़ा लेना चाहिये।" ऐसे ही ये सहन शक्ति जैसे–जैसे मनुष्य के अन्दर बढ़ती जाती है, तो ये गुण बढ़ते–बढ़ते अन्त में क्या हो जाता है कि उसका मन इतना बेपरवाह हो जाता है कि बाहर उसको कोई वैरी नहीं दीखता। किसी को वह दण्ड देने का भाव मन में नहीं रखता। यही क्षमा का स्वरूप है। जहाँ भी संसार जैसा रंग रहा है, रंगा रंगने दो। परन्तु ऐसे क्षमादि बल वाला जब चाहेगा वह ध्यान अपना समेट कर अपने में ले आयेगा।

थोड़ा यह विचार भी मन में धारण करना चाहिये कि अपने स्वार्थ की भक्ति नहीं रहनी चाहिये। जितनी शरीर की आवश्यकता है वह आपका स्वार्थ नहीं है, वह तो शरीर के धारण करने के निमित्त है। यह तो थोड़े में पूरा हो जाता है। परन्तु जितना मन का जाल है, वह पूरा किसी का भी नहीं होता। मन को तो सब चीज़ ऐसी चाहिये, जो सबसे ऊपर की है। जो दूसरे के संग से सुख लेना है, उसका नाम स्वार्थ है। दूसरे के संग का सुख कोई भी सदा रहने वाला नहीं है, चाहे वह सुख किसी प्राणी के या पदार्थ के संग हो। यह शरीर बचपन से लेकर बदलता जाता है।

यदि आपके अन्दर ऊपर कहे गये भगवान् के बल और गुणों की मात्रा नहीं है, तो सब स्थानों पर विरोध ही मिलेगा। इस विश्व व्यापक जीवन रूप परमेश्वर की भावना करना है, तो यही उसकी भक्ति हो जायेगी। उसी के लिये दस बल बताये, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, क्षमा, दान, शील, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा। ये उन भगवन्त लोगों के बल हैं, जिन्होंने इस संसार के बीच में रहते हुये अपने मन को ऐसे सही किनारे निकाल लिया और सबसे उत्तम सुख देखा। किसी को वैरी नहीं बनाया, और जिस समय अपने एकान्त में बैठते,

कभी भी यह नहीं होता कि उनके मन में अन्दर सुख नहीं है। अब उनके लिये मौत भी कुछ नहीं, मृत्यु जैसी उनके लिये कोई भी वस्तु नहीं होती, तो यह मुक्ति का मार्ग है।

इन दस बलों में ध्यान और प्रज्ञा का नाम भी आया है इन दोनों के बारे में आगे स्थान–स्थान पर चर्चा की जायेगी। सामान्य रूप से तो ध्यान का अर्थ यही है कि संसार की दिशा में बहते हुये मन को या निद्रा आलस्य आदि के सुख लेते हुये मन को उधर से हटाकर के अपने अन्दर के सत्यों के ज्ञान पाने की ओर एकाग्रता पूर्वक निरन्तर (लगातार) जुटाये रखना अर्थात् मन जिस एक दिशा की ओर बहाया जा रहा है उसको छोड़कर दूसरी किसी दिशा में न जाये, यही ध्यान शब्द का तात्पर्य है।

यदि इसी ध्यान का विषय अन्दर के सत्यों को बनाया जाये अर्थात् अन्दर के सत्यों को जानने या सही रूप से समझने के लिये एकाग्रता पूर्वक चित्त या मन को जुटा दिया जाये, जिससे कि अन्दर के सत्य सही रूप में प्रकट होने लग जायें और प्रकट होकर सही मार्ग पर चलने की प्रेरणा भी दे, तो यही अन्दर के छुपे हुये सत्यों का सही प्रकट अपने मन में जो ज्ञान है, इसी का नाम प्रज्ञा है। ऐसी प्रज्ञा की भक्ति के बिना मनुष्य का अज्ञान या अविद्या नहीं टलती, इसी अज्ञान या अविद्या से सारे सत्य ढके हुये हैं। ये अविद्या नासमझी ओर विपरीत समझ के रूप में सत्यों को छुपाकर मिथ्या रूप से कुछ का कुछ दिखाती है। अन्त में दुःख देने वाली वस्तुओं को या कर्मों को भी सुख रूप से भी प्रकट कर देती है। यही विपरीत ज्ञान या विपरीत समझ है। इसी से ही सत्य ढका रहने से मनुष्य अपने लिये अनर्थ को ही खड़ा कर लेता है।

अब यदि कोई मन को एकाग्र करके संसार से और नींद से थोड़ा मोड़कर एकान्त में दृढ़ आसन पर बैठकर सत्य के बारे में चिन्तन करता हुआ सत्य की खोज करे, तो उसे अन्दर के सभी सत्य प्रकट भासेंगे, जिससे कि उसको सही रूप से

प्रेरणा मिलेगी। तो ऐसा ध्यान एक दो दिन में तो सही फल को उत्पन्न कर नहीं सकेगा। अभ्यास द्वारा इस ध्यान को करने का अभ्यास बढ़ाता जाये और दीर्घ काल तक ऐसे अभ्यास में अपने जीवन को लगाये रखे तो अन्त में ये पूर्ण सफलता को देगा। जिन वस्तुओं को, जिन कर्मों को मनुष्य अभी सुख रूप से समझ रहा है, सत्य के ज्ञान हो जाने पर या सत्य के ज्ञान द्वारा उनको दुःख रूप से जताये जाने पर स्वयं ही छोड़ने का उत्साह करेगा और वह इस प्रकार से अपने आपको सही रूप से प्रेरित करता रहने पर एक दिन पूर्ण सत्य को पाकर और सब बन्धनों को टालकर अपनी आत्मा और परमात्मा की एक रूपता पहचानता हुआ सदा के लिये अपने आप में ही सुखी हो जायेगा। यही ध्यान और प्रज्ञा का अन्तिम वरदान है, जो कि दोनों मिल करके करेंगे। वैसे तो सब बलों की आवश्यकता है, जिससे सकल जीवन पवित्र और निर्मल बनेगा। परन्तु अन्तिम अविद्या का बन्धन त्यागने के लिये तो ध्यान में उपजी हुई प्रज्ञा की ही हेतुता है (कारणता है)। अर्थात् सत्य ज्ञान रूप प्रज्ञा के बिना अविद्या का कलंक नहीं धुलेगा। इस अविद्या ने ही आत्मा के सुख को ढाककर मनुष्य को संसार खड़ा करके, मिथ्या सुख पाने के लिये धकेला हुआ है, जो कि बना रहने का तो है नहीं, इसके लिये फिर मरना पड़ता है। मर कर पुनः इसी में जन्मना पड़ता है, परन्तु अपने अन्दर के सुख की तो खबर नहीं लगती। इसलिये मौत में भी सदा बने नहीं रहा जा सकता। जब वहाँ अपने आपका कोई ज्ञान नहीं होता, तो इसी अपने आपके ज्ञान को पाने के लिये पुनः संसार में आना पड़ता है। संसार में ये सकल प्राणी हैं। उन्हीं के बीच में जो जन्मेगा वह अपने आपको समझेगा कि "मैं भी बना हुआ हूँ।" पर यह बना हुआ सदा रहेगा नहीं। यह मरेगा भी, मरेगा तो फिर वही "मैं" पाने के लिये उपजेगा। यह जन्म मरण का चक्कर सदा चलता रहेगा। है यह केवल इसीलिये कि अपनी आत्मा के

सुख के ऊपर या दूसरे शब्दों में यूँ कहा जाये कि अपने आपके सही स्वरूप तथा आनन्द रूप ज्ञान के ऊपर एक अंधकार छाया हुआ है, जिसका नाम अविद्या है। वही इसकी खबर न लगने देकर पुनः जीवन को संसार में पटकता और मारता रहता है। इसलिये इस आत्मा के ऊपर पड़े हुये पर्दे को हटाने के लिये विद्या की या सत्य के ज्ञान की आवश्यकता है, जिससे कि अपना आपा या आत्मा नित्य ज्ञान और नित्य आनन्द रूप से प्रकट होकर सदा के लिये इस जन्म मरण के चक्कर से छुड़ा ले। बस ! इसी के लिये ध्यान और प्रज्ञा की आवश्यकता है।

प्रवचन

२१–१२–१९८६

मनुष्य जीवन की सफलता इसी में है कि उसको ऐसा सच्चा आनन्द प्राप्त हो जाये जो कभी वियुक्त न हो (विछुड़े नहीं। संसार में जो कोई भी सुख मिलता है, वह अल्पकाल का ही होता है। यदि कोई इस सुख को बनाये रखना भी चाहे वह बना नहीं रहता, क्योंकि बाहर के जितने सुख होते है, किसी निमित्त से होते है। वे निमित्त सदा बने नहीं रहते। जैसे आयु है, एक जैसी आयु नहीं रहती, एक जैसी देह में शक्ति नहीं रहती एक ज़ैसी इन्द्रियों में शक्ति नहीं रहती, तो जब ये सारी बदलने वाली है, तो इन निमित्तों (कारणों) से जो होने वाला सुख है वह टिका कैसे रहेगा? इसलिये बाहर जो कुछ भी बच्चे को जन्म से प्राप्त हुआ है, वह सदा बना रहने वाला नहीं है। मनुष्य जीवन की ठीक सफलता इसी में है कि कोई वस्तु उसको ऐसी प्राप्त हो, जो कि उसको अच्छी लगती है और कभी उससे बिछुड़े नहीं। तो इसको शास्त्रकार ऋषि मुनि लोग कहते थे कि यह है "मोक्ष का आनन्द, मुक्ति का सुख"। मुक्ति का नाम है "छुटकारा"। छूटना किससे होता है? बन्धन से। बँधा हुआ ही छूटता है। प्राणियों में और पदार्थों में, और कई, प्रकार के कर्मों में, मन जन्म से बाहर बँध गया है। अब ये बन्धन इस प्रकार का हो गया है कि जैसे किसी कागज को गोल करके रख दो और उस पर धागा बाँध दो, और कई दिन तक उसको वैसे ही पड़ा रहने दो तो यह कागज गोलाई पकड़ जाता है। इसी प्रकार से यह मन बचपन से ही बाहर बहता हुआ तृष्णा रूप गोलाई (मरोड़) पकड़ गया है। उस समय (बचपन में) तो बुद्धि नहीं थी, ज्ञान नहीं था, विवेक शक्ति नहीं ज़ाग सकी, जो केवल समय पाकर आयु के अनुसार मनुष्य में ही हो सकती है,

इसलिये जिधर उस बच्चे को अच्छा लगा, चाहे थोड़ी देर का ही था, वह बेचारा उसी की ओर चलता गया, और जिधर दुःख रूप मालूम हुआ, उधर से पीछे हटता गया। सुख की वस्तु मन से नहीं उतरती, उस के प्रिय लगने के कारण उसका चिन्तन सदा बना रहता है, इसी का नाम राग है, और दुःख देने वाली वस्तु अप्रिय लगने के कारण मन से नहीं उतरती, उससे बचने के लिये भी मन सदा चिन्तन करता रहता है, यही द्वेष बन्धन है।

इसी प्रकार से राग और द्वेष और इन्हीं दोनों की संतान काम और क्रोध केवल इन्हीं के चक्कर में पड़ा हुआ प्राणी सारा जन्म अपना इन्हीं में खो बैठता है। जैसा कि इन ऋषि मुनियों या भगवान् ने गीता और उपनिषदों में ज्ञान दर्शाया है, यदि उसके अनुसार विवेक उत्पन्न नहीं हुआ, तो यह प्रकृति का मार्ग लाँघना बड़ा कठिन है। तो बन्धन यह प्रकृति का है। प्रकृति उस शक्ति का नाम है, जो दिखती तो है नहीं, परन्तु अपने आप वह ऐसी कृति है, अर्थात ऐसा यत्न है कि शान्त नहीं होता, और ऐसा मशीन की तरह चल रहा है– अपने नियम के अनुसार कि उसको रोकना भी बड़ा कठिन है। ये सारे विश्व को उत्पन्न करने वाली, स्थिर करने वाली, और नाश करने वाली जो शक्ति है, शक्तिरूप से इसका नाम प्रकृति है। प्रकृति–प्रकर्ष से जो सदा ही बहते रहने वाली कृति है अर्थात् यत्न है, यही है भगवान् की माया। यदि ज्ञानदेव है, चेतन है तो हर क्षण जानता रहता है, तो ही यह नाना प्रकार से उत्पन्न होती रहती है। यदि उसका जानना बुझ जाये तो प्रकृति करके कहीं भी नहीं है। है यह उसी की माया, परन्तु वह तो ऐसे रूप में है, जैसे कोरा आनन्द रूप, चेतनरूप, ज्ञानरूप, पर यह उसके पीछे–पीछे हर एक चक्र में क्रिया करती हुई न्यारी–न्यारी दिखती है। जैसे बच्चा उत्पन्न हुआ, उसकी अवस्था बदलती जाती है, पेड़ पौधा किसी को भी देखलो, ये हर समय परिवर्तनशील हैं, यही उसका स्वभाव हैं।

अब इसका बन्धन इतना कड़ा है कि यदि यह कहे प्रीति, तो प्रीतियाँ करो यदि ये कहे वैर, तो वैर करो, मान, मोह, राग, द्वेष, संशय, भय, और खोटे कर्म करो, तो वो ही करो। अब ये जो बन्धन हैं, इसमें मन इतना बाहर बिखर जाता है कि अन्दर थोथा (पोला) हो जाता है, और इसके कारण श्वाँस भी सुख से नहीं चलता, अंग ठीक काम नहीं करते, यदि शरीर में सुख नहीं है, तो चाहे आप संसार की सब विभूति धन सम्पत्ति, मित्र, आदर, गौरव और नाना प्रकार के अधिकार, लिये बैठे रहो, पर वह कोई एक भी आपके काम का नहीं। वह मनुष्य यही चाहेगा, मर जाये, तो अच्छा है। कई वृद्धों को पूँछने पर कहते हैं कि अब हम जीना भी नहीं चाहते, क्योंकि अब कोई किसी प्रकार का जीने में सुख नहीं रह गया, किन्तु दुःख ही दुःख बढ़ता जा रहा है। यदि कोई उनको पूँछे कि "तुम्हारे बाल बच्चे और धन परिवार आदि सब सुख के साधन तो हैं, फिर आपको सुख क्यों नहीं ?" तो उसका उत्तर वह यह देता है कि "मेरे लिये अब इनका कोई सुख भी नहीं रह गया।" इसका तात्पर्य यही है कि ये है प्रकृति का खेल, जन्माना, कुछ समय तक इतना प्यारा लगना, इसका हरएक वृतान्त, कि मनुष्य समझता है कि ये पाने से पता नहीं मेरे को क्या मिल जायेगा ? परन्तु इसके रास्ते से जितना उत्साह (हौसले) से वह बाहर की ओर फैलेगा, तो समझना, अपने अन्दर से ज्ञान शक्ति भटकेगी और उसके पीछे–पीछे चलने वाली क्रिया शक्ति भी भटकेगी। क्रिया शक्ति तो है प्रकृति, और ज्ञान शक्ति है यही जो कि "जानना।" यदि हमने जाना कि वहाँ सुख है, यह जाना, तो उसके पीछे–पीछे हमारा श्वाँस भागेगा। यदि जाना कि यह मेरा वैरी है, इसका पता लगा तो उस पर क्रोध आ गया। यदि यह जाना कि इससे मेरा भला होता है, तो बस ! उसके लिये चापलूसी करना आरम्भ कर दिया। जो कर दिया, वह प्रकृति का काम, जो समझ लिया, वह ज्ञानदेव का काम है। अब

ज्ञानदेव यदि बाहर भटकेंगे, तेरे मेरे में, ३६ हजार व्यक्तियों में, पदार्थों में, तो भटकते–भटकते इतना है कि जहाँ जीवन रखना है, जहाँ आनन्द होना है, यहाँ खोखला (थोथा) हो जायेगा, जैसे कि किसी की बैटरी के सैल समाप्त हो जायें। उस अवस्था में दुःख ऐसा होता है कि चिन्ता ही नहीं मिटती। कहने वाले कहते हैं कि "भई! चिन्ता छोड़ दो"। परन्तु छोड़ना क्या अपने बश की बात है? यह मन बँधा हुआ है, बँधा हुआ मन, जिस रास्ते एक बार चल गया, उधर ही बहता रहता है। बस यही बन्धन यदि छूट जाये, तो मन सब जगह से छूट करके, जैसे नींद में अपने आप में एकाग्र (इकट्ठा) हुआ–हुआ आनन्द सुख पाता है, ऐसे ही जागते–जागते इसको सुख मिलेगा।

इसलिये सबसे उत्तम गति यही है कि बाहर ज्ञान और उसकी शक्ति क्रिया (प्राण) भटकी हुई यदि अपने आपमें एकत्रित हो जाये (इकट्ठी हो जाये) हमारी देह के अन्दर इन दोनों शक्तियों के प्रतिनिधि कौन हैं ? ये ही जो समझ और उसके अनुसार प्राण शक्ति। ये इतना बाहर भटक जाती हैं कि जिससे यह प्रतीत होता है कि निद्रा में तो थोड़ा सुख और स्वस्थता मिलती है, परन्तु जागते–जागते तो क्लेश और तंगी ही है। परन्तु निद्रा प्राणी को कहाँ तक सदा सुखी और स्वस्थ बनाये रखेगी? नींद भी अंत में सुख की नहीं आती। वृद्धों को देखो! कइयों को नींद भी नहीं आती। कई यौवन (जवानी) में भी बेचारे चिन्ता (फिकर) में सो नहीं पाते, सोने के लिये औषधियाँ खाते रहते है। तो यह सब अधिक भटकी हुई ज्ञान शक्ति का ही काम है ओर उसके पीछे–पीछे प्राण शक्ति या क्रिया शक्ति भी भटकी हुई का परिणाम है कि कोई अंग ठीक काम नहीं करता, कहीं सिर के रोग, कहीं हृदय के रोग, कहीं पेट के रोग और ये लम्बी बीमारियाँ मौत के साथ जाने वाली। ये सब भटका हुआ मन करता है, और उसके पीछे–पीछे भटकी हुई प्राणशक्ति, अब यदि ये एकत्रित हो

जायें तो मन में और तन में दुःख संकट आदि नहीं होते। परन्तु एकत्रित तब हों, यदि बन्धन से मुक्त हो जायें। ऐसे तो बन्धन से मुक्त करने के लिये ठीक है, जप भी करते हैं और प्राणायाम इत्यादि भी करते हैं, परन्तु यदि ज्ञान बँधा हुआ है, तो जप प्राणायाम आदि थोड़ा ही लाभ करेगा। ज्ञान द्वारा ही मुक्त होवे, समझ ले कि उधर कुछ नहीं रखा। जैसे इन पक्षियों को भी पता है कि ये घास फूस हमारे खाने के नहीं है, इनको देखते भी नहीं। इसी प्रकार व्यक्ति को पता लग जाये अर्थात् इसका अपने अन्दर सत्य का या असलियत का ज्ञान हो जाये कि जितनी ये बाहर चीजे हैं ये मन को भटकाने वाली हैं। इनमें समय के अनुसार कुछ नहीं रखा। यदि रखा है, तो दुःख ही रखा है, केवल एक समय का थोड़ा सा सुख दिखाई देता था।

इस तरह से भटकी शक्ति को पीछे हटाना, ज्ञान द्वारा भी और क्रिया द्वारा भी। ज्ञान को शुद्ध करना और भटकी हुई प्राण–शक्ति को भी अपने देह में एकत्रित करना (इकट्ठा करना)। इन में दोनों रास्तों से इस शक्ति को देह के बीच में ऐसा संचित कर लेना कि जीवन काल में ही पता लगे कि हमको जागते–जागते अपने आप में या आत्मा में सुख मिल गया, वह अपने आत्मा का सुख प्रकट हो गया, अविद्या टल गई। आपको जो पाने का था, वह पा लिया, वहाँ मौत करके कुछ दिखेगी नहीं, जो उस समय अन्दर रहने वाला तत्व है, वह सारे विश्व की आत्मा ज्ञान रूप से है। उसी की ही शक्ति को एक ही व्यक्ति के अन्दर नहीं, सबके अंदर समान है, जो हमारा खून का दौरा करती है, अन्न का पाचन (हज़म) करती है और अंगों को धड़कन देती है, नींद में भी कार्य कर रही है और जागते–जागते भी कर रही है। सब में वह समान रूप से है। पशु पक्षी में भी वह ही है, पेड़ों में भी वह रस चलाती है, घास फूस में भी वही रहने वाली है, उनमें उसकी अविकसित (विकास रहित) अप्रकट (विचार

रहित) दशा है। पशु पक्षियों में थोड़ी ज्यादा विकसित है और मनुष्यों में पूर्ण विकसित है, ज्ञान की उन्नति ज्यादा है। मनुष्य जीवन में इसको बुद्धि विवेक भी मिला है, जिससे प्रकृति के बन्धन से छूटने का रास्ता भी वह पा लेता है।

पहले प्रकृति के रास्ते को समझना कि सुख दिखाकर बाँधती है कि उधर ही सुख है, अर्थात् संसार में पुरानी आदतों को पूरा करते रहने में ही सुख है। उस सुख का जीव को राग होता है, खींच होती है, और उधर ही चल पड़ता है और वह वस्तु मन से उतरती नहीं, और उसी से उसके अन्दर तमन्ना (कामना) ऐसी होती है, वह जीव को ऐसे धकेलती है, जैसे डण्डे से कोई पशु को हाँकता है, तो मनुष्य उसी ओर चलता रहता है। बच्चे के अंदर जिस तरह से सुख मालूम हुआ हँसा, आनन्द माना और उधर ही बह गया। और जहाँ दुःख माना, रोया, क्रोध किया और उधर से भाग लिया। बड़ा व्यक्ति रोता तो नहीं है परन्तु क्रोध करके दुःख के कारण को नष्ट करना चाहता है, तो ये सब प्रकृति की तरंगे है। प्रकृति की ही सारी तरंगों के अनुसार मनुष्य के कर्म है, और उधर ही प्रेरणा मिलती है। अब इसमें विशेष क्या है? प्रकृति के ऊपर ईश्वर भगवान् है। उसका दर्जा क्या है? जो मनुष्य के अन्दर उसकी कला बैठी है, बुद्धि। गीता में स्थान–स्थान पर कहा गया है कि बुद्धियोग का सहारा लो, बुद्धि के साथ जुड़े रहो। बुद्धि का तात्पर्य यही है कि जिस समय अकस्मात् (एकदम) प्रकृति की तरंग आयेगी झट बुद्धि उपस्थित हो करके निश्चय कर जायेगी कि जिधर यह धकेल रही है, उसका परिणाम ठीक नहीं है। बस। यहाँ यदि विचार कर गये, तो समझो भगवान् की वह सही ज्ञान की शक्ति आ गई, जो कि आपको बचाने वाली है, वही ऐश्वर्य है। ईश्वर इसी का नाम है, जो सामर्थ्यवान् है तो, सामर्थ्य क्या है? वह शुद्ध समझ, जो कि प्रकृति के ऊपर है और समझ के अनुसार फिर अपनी क्रिया शुद्ध, जो कि प्रकृति के बन्धन से निकालने

की है। तो समझ पहले शुद्ध कैसे हुई? जिस समय जान लिया कि जिधर यह प्रकृति की तरंग ले जा रही है इसमें अन्त भला नहीं, संस्कार बढ़ जायेंगे, यह बल पकड़ जायेगी। जैसे एक दिन बीड़ी पिया दो दिन, दस, पन्द्रह दिन महीने के बाद वह ऐसी आदत पड़ गई, उसका विषय यदि नहीं देते, अर्थात् आदत पूरी नहीं करते, तो दुःख देती है।

यह जो पीछे दुःख पा करके समझना है, यदि यह पहले ही समझ में आ जाये तो समझना उस बुद्धि का उपयोग हो गया। मनुष्य के अन्दर यह योग्यता है कि वह विवेक शक्ति या भले बुरे का ज्ञान उत्पन्न करके, प्रकृति के रास्ते को माप सकता है और माप करके यह समझ सकता है कि जिधर ये ले जा रही है, उधर सुख तो नहीं है, उल्टा दुःख ही है। इसलिये उससे निकलने के लिये, अच्छा इरादा बना सकता है, इरादा बना करके समझ के साथ यदि चलेगा तो ही प्रज्ञायें (छिपे हुये सत्य का ज्ञान) बतायेंगी तथा ध्यान बतायेगा। जब तक वह प्रज्ञा तथा ध्यान उत्पन्न नहीं हुये सत्य का प्रकट ज्ञान नहीं हुआ, स्पष्ट दर्शन नहीं हुआ, तब तक व्यक्ति को श्रद्धा से ही चलना पड़ेगा। क्योंकि चलने वाले पहले वैसा चल गये, अनादि काल से। उपनिषदों में वे सारे धर्म लिखे हुये हैं। गीता आदि स्मृतियों में भी लिखे हुये हैं, और भी नाना प्रकार के शास्त्र उनकी चर्चा करते हैं। पहले थोड़ा सुन करके, श्रद्धा करके, अच्छे मार्ग पर चलने के लिये पहले तैयार तो होवे, और खोंटी तरंगों को मन से हटाकर ध्यान में बैठे, और ध्यान में सत्य का ज्ञान उपजा करके प्रत्यक्ष देखे कि प्रकृति कैसे बाँधती है?" जब उसको प्रत्यक्ष दिखाई दे गया तो उसने युक्ति पा ली। जब तक उसको वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हुआ, अज्ञान अविद्या नहीं टलेगी।

जो भगवन्त लोग हो गये हैं, उनके ऊपर श्रद्धा करके और निश्चय करके, उत्साहहीन न होते हुये अपने आप को तैयार करे, यदि एक बार लगन उसको लग गई तो उसको एकान्त

में बैठने की आदत भी पड़ जाएगी, और अपने आपको झाँकने की भी। क्योंकि जितने अपने खोंटे कर्म सुधारने हैं वो अपने आपको झाँके बिना नहीं सुधरते। ये ठीक है कि मन की आदत है या प्रकृति का स्वभाव है कि संसार की ओर ही बहना .जैसे की उपनिषदों में लिखा है कि ब्रह्मा ने जीव की इन्द्रियों को बाहर की ओर प्रेरित कर दिया। इसलिये बाहर तो सब कुछ जानता है, परन्तु अपने अन्दर का इसको कुछ भी नहीं पता, तो जीव का प्राकृत रूप से अपना स्वभाव अपने आपको परखने का या समझने का नहीं है, दूसरे के बारे में तो छोटी सी वस्तु भी जानता है कि "इसके मुख पर कालीस लगी हुई है", "इसका स्वभाव ऐसा है", "ये ऐसा बुराई वाला है" इत्यादि–इत्यादि, परन्तु अपने बारे में कितना भी कुछ है, उस पर उसकी अपनी दृष्टि ही नहीं पड़ती। अपने आप के लिये अपने में अज्ञानी रहता है।

धर्म का रास्ता यह है कि थोड़ा आत्मदर्शी होना, आत्मा नाम अपने आप का है और दर्शी माने देखने वाला इस प्रकार **मनुष्य अपने आपको देखने वाला "हो," मैं क्या करता हूँ अर्थात्** किधरं मेरी आँखें देखती है और क्या चीजें बाहर से लाती है,कान क्या सुनते है, वाणी कैसे बोलती है, मन क्या सोचता है और जो कुछ भी मैं कर रहा हूँ मेरी लगन किधर है और जिधर मेरी लगन है उसका अन्त भले में होगा या बुरे में होगा। यह थोड़ा विचार करना, यह एकान्त में पहला ध्यान है, जो कि अपने आत्मदर्शन द्वारां आरम्भ होगा। तो इस रास्ते से थोड़ा प्रकृति के बन्धन से निकलने के लिये पहले वह विवेक रूपी सामर्थ्य उपजायेगा। विवेक यही है कि दो वस्तुओं को, जो आपस में मिली हुई है, उनको न्यारा–न्यारा करके (छानबीन) करके सही रूप से देख लेना कि "प्रकृति किधर ले जा रही है" और "उसका बन्धन कहाँ तक ले जायेगा"? और "फिर आखिर इससे छूटने का सत्य का मार्ग कौन सा है"? यह विवेक का मुख्य कार्य है। अब यह मनुष्य

ही कर सकताा है और जिसमें विवेक या सत्य का ज्ञान पूर्ण बैठा हुआ है, यह वह सर्वज्ञ भगवान् है। उसका विश्वास अवश्य रखना, नहीं तो व्यक्ति अकेला पड़ जाता है अकेले में जीवन नहीं है, तो उस अवस्था में भगवान् का सहारा अवश्य रखना। वह जो पहले अनन्त अनादि काल से पहुँचा हुआ है, जिसका ये धर्म चलाया हुआ है। ऋषि मुनि लोग बताते हुये आ रहे हैं और हम भी सुन रहे हैं, यह सब उसका है, वह प्रभु अनन्त परमेश्वर और उसके न जाने अनन्त भक्त भी हो चुके है, ओर आगे भी न जाने कितने होगे, मैं अकेला नहीं हूँ। यह मन में रख करके अपना उद्योग करे, यत्न करे अर्थात् मेहनत करे, प्रबलता से अपने आपको इसी कार्य में लगाये। बलपूर्वक अपने आप में जुड़ना पड़ता है। थोड़ा अपने को देखे। फिर अपने कर्मों को सुधारे। नहीं सुधारते तो अच्छाई का रास्ता नहीं है तो, अन्त में खोंटे में पहुचेंगे। तो इस रास्ते से थोड़ा अपने आपको प्रेरित करता हुआ प्रकृति के बन्धन से निकलने का रास्ता सोचे। स्मृति रहेगी तो हिम्मत–वीरभाव बन पायेगा।

जिस समय मन भड़का हुआ है कोई तमन्ना तृष्णा जागी हुई है, उस समय जल्दी से मन को ये इच्छा नहीं होती कि मैं कल्याण के रास्ते पर चलूँ। आदत से तो वही मिथ्या संस्कार जाग करके वे बल रूप से ऐसा धक्का देते है कि पुराने आदतों के रास्ते पर जाना ही प्रिय लगता है। जिधर उनके विषयों का सुख है, उस समय उसके अन्दर ये विवेक नहीं होता कि इसका परिणाम क्या होगा ? तो इस अवस्था में यह वीर पुरूष का ही काम है कि उसके साथ लड़ करके किनारा पा लेना, उसको अपने ऊपर सवार नहीं होने देना। आप उसको मन से निकाल दें। परन्तु यह तब होगा, यदि समय पर याद रहेगी, होश टिकी रहेगी। यह होश को भी समाप्त कर देते है। तो ऐसी अवस्था में यही होश रूप स्मृति बनाये रखने के लिये यह बताया गया था कि, जो भी कर्म करे वह ध्यान और स्मृति से करने की आदत डालें, चाहे

छोटा मोटा कोई भी कर्म हो और सकल जीवन ही इस प्रकार साधने का यत्न करे कि आदत से ही सर्वत्र जीवन भर में सम्भल–सम्भल करके चलना बन पाये। उससे उसका कुछ नहीं बिगड़ता। यदि कर्म करते हुये आप अपने मन को ढीला छोड़ेंगे तो आदतों के ही अनुसार इधर उधर की ही सोचेंगे। कहीं आँख इधर घुमा दी कही मन से उल्टी सीधी बात सोच ली इत्यादि। इसलिये कोई भी कर्म करे, स्मृति से करे। ध्यान से यदि करेंगे, तो वह भी एक एकाग्रता बनाये रखने का अभ्यास है। उससे मन की खबर पड़ती रहेगी, "लो जी ! मैं तो दातून कर रहा था मन किधर उड़ गया," "मैं तो रास्ता चल रहा था, यह अपने ही रास्ते बह रहा था।" इसी प्रकार से बाजार में चलते हुये भी देखो। "आँखे किधर भाग रही हैं।" देखने की जो चीज नहीं है उसको भी देख रही हैं, पाँव जहाँ पड़ना चाहिये, उधर ध्यान नहीं है। उस समय तो स्मृति रखनी, फिर पीछे एकान्त में ध्यान के समय देखें, वह मन किधर–किधर को जाता था, बाजार में चल रहा था तो किधर था ? दातून कर रहा था तो क्या सोच रहा था? किसी की बात थोड़ी सी कड़वी लग गई तो कैसे बोला? थोड़ा–थोड़ा सारे अपने कर्मों का ध्यान करना। ये आत्म दर्शन करते–करते अपनी दुर्बलताओं का पता लगेगा। ऐसा ही ज्ञान बढ़ाने में अपना दिनों दिन जीवन साधे, जिससे कि यह मोक्ष का रास्ता या शुद्धि का मार्ग हमारा जीवन का ही साथी बन जाये।

अब इन्हीं दुर्बलताओं से उल्टे सारे भगवान् के गुण और बल हैं। अब इन भगवान् के गुणों को याद करते हुये देखें कि "दुर्बलताओं से भरा हुआ ये यही पुतला जीव है और भगवान् वह है जो इन सबसे उठा हुआ है"। हम सबका परमेश्वर वही है, जिसने यह अनादि काल से धर्म का मार्ग चला रखा है। धर्म किसे कहते है? जो आपने धारण किया। बल से धारण किया, अपने आप तो होता नहीं है। अपने

आप तो प्रकृति चला रही थी, जो स्वाभाविक कृति है, सब जगत् की है वंह ही काम करती थी। अब आपने बल से (जबरदस्ती) नियम धारण किये, क्योंकि हित हमारा इन्हीं में है। अब ये धर्म बल पकड़ता जायेगा और एक दिन वह धर्म अन्त में ध्यान जगा करके, छिपे सत्य का ज्ञान आपके अन्दर मन में प्रकट कर देगा। जैसे कोई इच्छा हुई, संकल्प हुआ कि यह मैंने पूरी करनी है, ऐसा भाव बना, ऐसी अवस्था में अब अपने ध्यान द्वारा ज्ञान जगा करके उस इच्छा को निर्बल कर दिया (टाल दिया)। अर्थात् इच्छा को पूरी करते रहने से अन्त में यही इच्छा को पूरी करते रहना दुःख रूप बन जायेगा और इन इच्छाओं को पूरा करने का जो कभी थोड़ा सुख हुआ था व केवल कल्पना में ही बना रहेगा, ऐसे प्रकट ज्ञान को मन में जगाये रखना है। मान लो इच्छा के संस्कार पाँच मिनट तक बहते रहे, वह याद रही, प्रेरित करती रही। "पाँच मिनट तक आपने भी अपना ज्ञान टिकाये रखा" जब इसका सुख है ही कुछ नहीं, तो फिर इसके लिये सोचना भी क्यों"? यही प्रकृति क्षीण करना है, प्रकृति को निर्बल करना है। अब धीरे–धीरे इतना उसका बल क्षीण होता जायेगा कि अंत में संस्कार इतने दुर्बल पड़ जायेंगे कि आपको उनको टालने के लिये कष्ट तो क्या बल्कि सुख होगा। इस प्रकार यह प्रकृति की तरंगें अपने रास्ते से बहती जायेगी। यह उस पर दृष्टि भी नहीं करेगा क्योंकि टालना तो उसका स्वाभाविक हो गया, जब स्वभाव से ही ये संस्कार अपने आप मर्दित होने (मिटने) लगे, तो यही कहा जाता है, त्याग या मुक्ति का सुख।

मन खाली तो रहेगा नहीं। यह प्रकृति अनन्त है, यह कभी मरने वाली है नहीं, इसकी तरंगें बहती रहेगी, और उधर वह अपने आपको सही रूप से धारण करना रूप धर्म इतना प्रबल हो गया कि जैसे इस प्रकृति की तरंग उठी नहीं कि उधर इसका टालने का यत्न भी अपने आप चल पड़ेगा। व्यक्ति

को कुछ भी करने के लिये सोचना भी नहीं पड़ा, तो यह तो मुक्त ही रहा। बस अपने आप इसका आनन्द सुख बना रहेगा। इस रीति से अपने आप को प्रेरित करते हुये चलना यही सब अपने आपको धारण करते रहना रूप धर्म है। सबसे पहले तो वैराग्य अर्थात् बाहर के सुखों में तृष्णा तथा कामना को त्यागना, वैराग्य का तात्पर्य सब सांसारिक सुखों के राग से मुख मोड़ लेना, उन सुखों की तृष्णा को छोड़ना। लेकिन छूटेगा सही ज्ञान से, यदि सुख लेते भी हो तो इतनी मात्रा में लो, जितना हानि नहीं करता, और यदि हानि करने वाला है, उसे पहले ही त्याग दो। त्यागी पहले बनो, फिर जितनी वस्तु शरीर को धारण करने के लिये चाहिये उतनी ग्रहण करो। तृष्णा के हजारो स्त्रोत है, कहीं मान की कहीं अधिकार की, कहीं धन की और कई एक प्रकार के सांसारिक और इन्द्रियों सम्बन्धी और मानसिक सुखों की इस तृष्णा का कहीं भी अन्त नहीं है। इस तृष्णा की एक एक शाखा को क्षीण करते जाना, जो–जो मन में उत्पन्न हो, धीरे–धीरे ज्ञान द्वारा समझते जाना उसको पूरा करने के अन्त में होने वाले दुःख को भी दृष्टि (नज़र) में बसाये रखना और त्यागी बनने का प्रयास (यत्न) करना, जैसे अवतार हम लोग मानते है, ये ही अवतार होते हैं, जो कि कल्याण के मार्ग के सकल (सारे) गुण अपने में उतारते हैं, इन्हीं अवतारों के चलाये हुये ये धर्म के रास्ते हैं। सृष्टि के आदि काल में जिसने ये धर्म प्रवृत किया (चलाया) और स्वयं उसी अवतार रूप में धर्म पर चला है। ये धर्म उसी में परिपूर्ण हैं, जब उसने ये धर्म जीव के लिये बताया है, तो उससे बन पाने की योग्यता भी है, अर्थात् मनुष्य के द्वारा चला भी जा सकता है। श्रद्धा रखी और हिम्मत (वीर्य भाव) करते गये। हिम्मत करता भी मर गया, तो उत्तम गति को प्राप्त होगा, परन्तु यदि प्रकृति के रास्ते गया, तो पता नहीं जिधर प्रकृति ले जायेगी, उधर ही जायेगा। प्रकृति के रास्ते अनन्त है सब पशु, पक्षी, कीट पतंग प्रकृति

के रास्ते पर है । जैसा भी किसी का भाव होगा उसी प्रकार का उसका जन्म होगा । केवल जो विचार द्वारा अपने आने वाले समय के हित को समझ कर वैसा करने की शक्ति को बनाये रखेगा वैसा करने की शक्ति को धारण कर सकेगा, वही प्रकृति के मार्ग से निकल कर भगवान् द्वारा बताये मार्ग पर चल सकेगा मनुष्य थोड़े से सुख बिगड़ जाने पर अधीर हो जाता है, भगवान् के अन्दर पूर्ण धैर्य है, कितना भी उसको किसी का कुछ दुःख हो जाये, क्या भी बिगड़ जाये, वह अपना धैर्य नहीं छोड़ता और धैर्य भी कैसा ? अनन्त, जिसका कहीं अन्त नहीं है तो अपने अन्दर भी थोड़ा धैर्य को बसाया, यह भी भगवान् का गुण है ।

इसी प्रकार से भगवान् के बल हैं किसी के सुख में भगवान् दु:खी नहीं है, किसी के सुख को बिगाड़ना नहीं चाहता, किसी के दु:ख में वो निर्दयी नहीं है, दयालु है । इस तरह उसके ये दस बल है । मैत्री, करूणा, मुदिता, उपेक्षा, क्षमा, दान, शील वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा । ये कई एक स्थानों पर कहे जा चुके हैं । इनका अर्थ सहित निरूपण भी किया जा चुका है । और प्रसंग के अनुसार आगे भी किया जायेगा । अब वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा इन तीनों को छोड़कर जो पहले सात है, ये बाहर हम लोगों को करने के हैं । भगवान् की भावना करने के लिये, दूसरे के सुख में व्यक्ति को सुखी होना चाहिये, दूसरे के दु:ख में दयालु होना चाहिये । दया मन में जरूर उपजाये । बस इससे आपकी भावना हो गई । नहीं तो साधारण जन के मन में क्या भाव उपजता है? "अजी यह तो वैरी है, यह दु:ख देने वाला है, अच्छा है, यदि भगवान् ने इसे दु:खी किया", तो ये सब इस प्रकार के भाव मोक्ष मार्ग से विपरीत है और ये प्रकृति के है । इन भावों से आपको कुछ मिलना नहीं, और दूसरे का कुछ बिगड़ना नहीं, परन्तु धर्म के रास्ते का ये पूरा विघ्न (अड़चन) है ।

ये चेतन अनन्त है, जो एक मनुष्य के अन्दर है, दूसरे के अन्दर भी है और जीवों में भी वही है। यदि सबके अन्दर यही आपकी भावना हो गई, तो आप ब्रह्म को पहचानने वाले है, और परमेश्वर की भक्ति करने वाले हैं। यदि उनके प्रति अत्यन्त निरपेक्ष हैं और अत्यन्त ऐसे है जैसे उनके दुःख सुख की कोई परवाह ही नहीं, "जो होना है होने दो।" "हमको क्या लेना है ?" "हमारा वह क्या लगता है ?" तो आप बँधे हुये जीवन में है, छोटे वृत्त (दायरे) में है। इतने वृत्त (दायरे) में आपको वह बड़ा प्रसन्नता रूप प्रसाद नहीं मिल सकता, जो परमपिता परमात्मा का है या परमेश्वर का है। उसको लेने के लिये, यह भाव बनाना ही पड़ेगा, यदि किसी के दुःख पर दृष्टि पड़ ही गई, किसी का दुःख समझ में आ ही गया तो फिर उसके प्रति रूखे होकर नहीं निकल जाना। दुःखी के प्रति दया का भाव मन में बसाना और किसी का सुख दृष्टि में पड़ जाये या समझ में आ जाये तो अपने मन को भी सुखी बना लेना, चाहे हमने उससे प्रकट रूप में मित्रता नहीं गाँठनी उसको बुलाना नहीं। और किसी का गुण देखा वाह–वाह, शाबास, वाह भई, वाह, गुणी है। इस प्रकार से अपने मन को प्रसन्न कर लेना, तो यह भगवद् भावना है, बाहर गुणों के रूप से और बलों के रूप से भगवान् की करनी पड़ी है, उससे आप बाहर संसार में नहीं बँध पायेंगे। यदि बाहर आपके ये भाव नहीं रहेगे, तो आप बहुतों के बीच में, रहने के योग्य नहीं है, फिर कहीं आपको डर भी लगेगा क्योंकि विपरीत भाव उधर से आयेंगे इससे आप स्वयं भी संसार में भली प्रकार से नहीं रह सकोगे। लोगों को शंकायें आप में होगी, क्योंकि आपके चेहरे पर वह रूखापन दीखेगा, उससे विपरीतता सी दीखेगी। और यदि आप सरल भाव के है तो आप गुणी जैसे दीखोगे। दुःख में दयालु हैं तो आप मित्र जैसे दीखोगे। यदि उनके गुण पहचानने वाले हैं तो वे आपका आदर करेंगे, और यदि आप उनके अवगुणों की ओर दृष्टि भी नहीं करते,

तो वो आपको पिता जैसे मानेंगे। ये परमेश्वर के बल हैं, ये साधारण जन में नहीं आते है, क्योंकि स्वार्थी है, छोटी मोटी कामनाओं के पीछे पड़ा है, परन्तु जो इनके बलों को उपजाता है, वह इस विश्व–जीवन को, इस व्यापक भगवान् को अपने साथ रखता है, और इसी को सब में पहचानता है और उसको राग–द्वेष नहीं होते। और इनको समझने से, उसको डर भी नहीं रहता, नहीं तो आप जब कहीं ध्यान में बैठेगें, कहीं से कड़ी आवाज आई, तो आपके अन्दर भी दोष भावना है, आपके अन्दर भी दूसरों के दुर्गुण देखने की आदत है, तो आपको वही द्वेष की भावना डरायेगी। यदि अपना मन अपवित्र है तो ये शंका भय भी उसी से होते है। इस ब्रह्म की या परमेश्वर की सृष्टि को पहचानना कि इसमें बिना किये कोई फल नहीं मिलता है। यदि अपने आपको शोध लिया, उसको पहचान लिया, तो पुरुष मात्र से किसी से भय नहीं है।

अपना बर्ताव किसी अवस्था में भी खोंटा नहीं होने देना, अपनी "मैं" ज्यादा नहीं आने देना, छोटी–छोटी बातों में मनुष्य "मैं" को दिखाता है, कहीं वीर बनता है, क्या–क्या बनता है? जो नहीं है वह भी बनता है। इस "मैं" के ज्यादा चक्कर में नहीं पड़ना। इसी तरह से मान लो कहीं थोड़ा दुःखी सुखी हो गया "मैं" आ जाती है। कि वह मेरे को दुःख दे गया, तो ऐसी अवस्था में यही भगवान् के गुणों की भावना रखनी, इस "मैं" को भी त्याग देना। इसका नाम त्यागी या सन्यासी है जो अपनी "मैं" को भी त्याग देता है ये सबसे बड़ा दान है ये त्याग और तप क्या है ? किसी भी दुःख को बुद्धिपूर्वक सहन करना, जिसका परिणाम (नतीजा) अपना अन्त का भला है यही तप शब्द का यहाँ अर्थ है और जिस थोड़े से सुख को लेने से अन्त में बड़ा दुःख होता है उस सुख को भी बुद्धिपूर्वक सत्य का ज्ञान उपजा कर त्याग देना ये ही यहाँ त्याग शब्द का अर्थ है। इनमें पहले पहले ही थोड़ा कष्ट का अनुभव होता है पीछे अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर मन

इसी तप और त्याग को अपने में प्रसन्नता पूर्वक धारण कर लेता है। ये अच्छे गुणों की भावना क्यों नहीं हो पाती? तथा अपनी "मैं" क्यों नहीं त्यागी जाती? क्योंकि मनुष्य को मालूम पड़ता है कि ये दुःख है। परन्तु वह विवेक बताता है कि यह दुःख भी किसी दिन सुख रूप होगा। जैसे खाई हुई कड़वी दवाई रोग को हटायेगी, तो ऐसी अवस्था में उस दुःख को स्वीकार करने में क्या हानि है? इस प्रकार से अपने मन को समझा करके थोड़ा दुःख स्वीकार कर लेना, उसको सहन कर लेना, उसमें मन का धैर्य (धीरज) नहीं खोना, यह तप कहा जाता है। तप नाम उसका है जहाँ मन खिन्न हो, खेद में हो, "देखो जी ! यह ठीक नहीं है।" कहीं भोजन छोड़ने में लाभ होता है तो छोड़ता है कि नहीं। उसको पता लग गया कि इससे मेरी बीमारी ठीक होती है।

सारे संसार के सुख प्राणी और पदार्थों से बँधे हुए हैं, निमित्त वाले हैं, तो जो निमित्त से बिना है उसी का नाम निर्निमित्त है, यही आत्मा परमात्मा का परम सुख और शान्ति स्वरूप है। यह कभी नष्ट भी नहीं होता। ऐसे उसकी भावना करते हुये, ये सारे भगवान् के गुण अपनाना और थोड़ा तपस्वी होना, तप नाम थोड़ा दुःख सहन करने की शक्ति का है। प्रकृति कहती है "न भई ! जिधर सुख है, उधर भागो, दुःख से तो उल्टे चलो।" ये जो छोटे मोटे बाहर के सुख की बस्तुयें हैं, जो हमारे जीवन के काम की भी नहीं है और हानि करती हैं, उनको त्यागना और त्यागने से जो दुःख होगा, उसको सहन करना, इसी का नाम तप है। तो यह त्यागी तपस्वी अपने आप में बनने का है। बस ! अपनी वाणी को भी रोकना और मन को भी रोकना। जो वस्तु छोड़ी है, जो खाना, छोड़ दिया, वह अपनी रुचि की वस्तु नहीं खाई, क्योंकि खोंटा करती थी, इसलिये हो सकता है आपका मन दूसरों को चिढ़ा हुआ सा भी दिखाई दे। मान लो, हमको उस अवस्था में देखकर कोई हँस भी रहा है, क्योंकि वह खाया पीया अपनी मौज में है, और उसकी

हँसी खुशी देख करके आप चिढ़ गये, कि पता नहीं, मेरा ही मजाक उड़ा रहा है, क्योंकि मेरे चेहरे पर खुशी नहीं है। तो ये सब घटनायें व्यापक जीवन में (संसार में) एक दूसरे के सम्बन्ध से घटती हैं। तो यह शील वहाँ पर रखना पड़ता है अर्थात् सही बर्ताव, कि कहीं ऐसा न हो, जिससे कोई मेरे बर्ताव की ओर दोष युक्त उँगली भी करे, और मन में बसा करके वैरी बन जाये। इसलिये यही कर्त्तव्य है कि अपना जीवन ठीक रखने के लिये बाहर सही बर्ताव (शील) होना चाहिये। ये भी अवतारों का बल है जो कि अपनी शक्ति के अनुसार हमको भी अपनाते जाना है। मैत्री आदि तो मन के भाव हैं, और ये जो बाहर है शील, यह दूसरों से सही बर्ताव रूप हैं, ये अधिक (ज्यादा) वाणी के बर्ताव रूप में भी हैं और कर्म रूप में भी हैं। सही बर्ताव करने की ऐसी आदत ही पड़ जाये, स्वभाव ही पड़ जाये कि किसी का भी खोंटा तो करना ही नहीं, तब शील हुआ। तब इतने में मन बहुत जाग चुका होगा। जगे मन में जब अपने आपको समझने की शक्ति प्राप्त हो गई तो अपने आपको सुधारने का भी प्रयत्न होने लगेगा और अपने मन के अन्दर दिखने वाले बन्धनों का भी पूर्ण परिचय मिलेगा और उनका परिचय मिलने पर उनकी दुःखरूपता प्रकट भासेगी। ऐसा करने पर उनको त्यागने की भी प्रेरणा स्वयं उपजेगी, ऐसी प्रेरणा होने पर इनके त्यागे जाने पर अपने अन्दर का अपनी आत्मा में परम सुख भी अनुभव में आयेगा, यही सब मोक्ष या मुक्ति की यात्रा पूर्णता को प्राप्त हो जायेगी। यही पूर्ण यात्रा उस भगवान् तक पहुँचाने वाली है। ध्यान कोई दुर्लभ नहीं है अर्थात् जगा हुआ मन अपने आपको भी खूब समझ सकेगा। अपने आपको समझना ही संसार से मन को मोड़ लेना है। ये सब ध्यान का ही रूप है।

जब तक ज्ञान अधूरा है, पूरा विकसित नहीं है, पूरा जागृत नहीं हुआ ओर विकसित (उंम्नत) हो करके सारे बन्धन उसने

नहीं पहचाने, न ही टाले, तब तक समझो उसको अपनी आनन्द स्वरूप मुक्त आत्मा का ज्ञान नहीं हुआ, यही अविद्या अभी बनी हुई है। अन्त में जब यही अविद्या भी टल गई तो अपने आपकी उसकी समझ कभी भी मिटती ही नहीं। जो सबके अन्दर ये सारे देहों के काम कर रहा है, यदि उसमें समझ जग गई, तो वह अपने आप प्रकट हो जायेगा, जैसे नींद में सुख रूप से। ऐसे ही जागते–जागते भी उसका सुख या आनन्द रूप से अनुभव होने लग जायेगा। तो ऐसी अवस्था हो जाने के बाद संसार के सुखों की ओर जाने की आवश्यकता ही नहीं है। तो यहाँ तक है मनुष्य की पहुँच। जो कोई भी मनुष्य इस विवेक शक्ति को जगा करके प्रकृति के बन्धन से मुक्त होगा वही इस आनन्द को प्राप्त करेगा, नहीं तो यह मन बाहर ही जानने के लिये ही बिखरता रहेगा, और उसी के पीछे–पीछे भागेगी कृति शक्ति। जो वस्तु समझी है, उसी के अनुसार कर्म होता है। जैसे बच्चे ने समझा कि मेरा बाप आ गया, उसके हाथ में खिलौना है, समझ के साथ ही उसके अन्दर ऐसी तरंग फैल गई कि चेहरा खुश हो गया, हँसी खिल पड़ी और बड़े आनन्द से पिता की ओर भागने लग गया। तो ये सारी क्रियायें (हरकतें) बच्चा जान करके थोड़े ही करता है? उसको क्या पता कैसे देह की मशीन चलती है? बस! उस बाप के हाथ में खिलौने के ज्ञान ने उस बच्चे के अन्दर ऐसी बिजली की तरंग चला दी कि चेहरा खिल गया आँखें उसकी बड़ी हँसती हुई, सब चेष्टायें बड़ी अच्छी लग गई। इसी तरह कोई किसी का मित्र आ गया इसका ज्ञान होते ही दूसरे को प्रसन्नता होती है। इसी प्रकार कोई खोंटा करने वाला आ गया, इसका भी ज्ञान हो गया, यह भी ज्ञान ही है। पता लग गया कि यह तो मुझे दुःख देने वाला है, बस, प्रकृति का दूसरा चक्र चल पड़ा। बच्चे का रोना प्रकट हो गया, आँख से अश्रु आने लग गये। अब ये आँसू जान करके कोई ला सकता है आँखों में? ये सब प्रकृति की तरंगे

है, ये कर्म करती है प्रकृति, जिसको वह ज्ञानदेव प्रेरित करता है। परन्तु जैसा ज्ञान, वैसी उसकी कृति। मुक्त ज्ञान है, तो मुक्त कृति (यत्न)। बँधा हुआ ज्ञान है, तो बँधी हुई कृति (यत्न)। तो ये ही प्राणी और पदार्थों में ज्ञान खोया रहता है, अपने आप में थोथा–पोला, मरके ही शान्ति पाना चाहता है।

जब तक बच्चा है, तब तक तो बहुत सुखी है, कैसे सुखी है? चिन्ता नहीं, फिकर नहीं, राग नहीं, द्वेष नहीं, थोड़ा खाया और मौज मस्ती में है। इसीलिये उसका स्वास्थ्य भी अच्छा है। जैसे–जैसे आगे बन्धन बढ़ते गये, और बढ़ते हुये बन्धनों ने न जाने क्या का क्या रच दिया ? बन्धन माने ज्ञान ही उलझा ना, समझ ही उलझी ? समझ उलझी तो कृति के (प्रकृति से होने वाले यत्न) परिणाम (नतीजे) भी वैसे ही होने लगे। तो बस समझ को ही मुक्त करना है। इसके लिये ये ही मैत्री आदि बल पैदा करना और ध्यान द्वारा बन्धनों को जानना। यदि ऐसा करते गये, तो यह जीवन ध्यानमय बन जायेगा। भावना होनी शुरू हो गई तो मन चेताना शुरू हो जायेगा। चेताने से चेतन होता है। चेतन ही मुक्त है। चेते नहीं, तो चेतन कैसे? यह मन का चेताना है कि वह जड़ मन है, जो केवल प्रकृति के रास्ते बह रहा है और उससे निकलने के लिये इसके अन्दर अभी कोई प्रेरणा नहीं, ऐसे इसको चेताते–चेताते या जगाते–जगाते यहाँ तक चेता या जगा लिया अर्थात् धर्म–मार्ग में जगा करके उन्नत कर लिया कि अन्त में यही मन चेता हुआ शुद्ध भगवान् को जागती हुई अवस्था में देखे या अनुभव करे। निद्रा के सुख का भी अधिक लोभ न रखे। उसका भी ज्यादा सुख का राग छोड़े, जितनी आवश्यकता है उतनी तो नींद ले। बाकी थोड़ा संतोष करे, थोड़ा वैराग्य करे, यदि तंगी हो तो तपस्वी बन जाये। और उस प्रकृति के सुख को त्याग दे। चिढ़ आदि को मनोमन शान्त करता जाये। इस प्रकार समझते–समझते यदि वह साधन को पुष्ट करता जायेगा, तो उसका रास्ता खुल जायेगा।

यदि ऐसे करते–करते वह पूर्णता को प्राप्त नहीं हुआ और मर गया तो वीरगति पायेगा, अर्थात् उत्तम लोकों को ही प्राप्त होगा, स्वर्ग मिलेगा। भावना जाग गई, ब्रह्म लोक को जायेगा। ज्ञान जाग गया, भगवान् विष्णु का लोक अर्थात् वैकुण्ठ प्राप्त होगा। यदि जीते जी अपने आप में शान्त हो गया, तो मुक्त हो ही गया। तो ये सारे जितने हैं, इसी रास्ते वाले के लोक हैं। यह उत्तम गति है। यदि यह नहीं है, विवेक नहीं जागा, बुद्धि नहीं जागी, यदि प्रकृति ही बहाती रही, तो फिर जैसे ये बेचारे पशु पक्षी है, एक शरीर छोड़ा तो वैसे ही कोई दूसरा अज्ञानमय जन्म ले लिया, दूसरा मरा तीसरे में। यदि मनुष्य भी इसी मार्ग में चला, तो इस बेचारे की दुर्गति ही कही जायेगी। और इस प्रकार पश्चात्ताप होगा कि बुद्धि मिली थी, किन्तु विवेक नहीं जगा, प्रत्युत (बल्कि) बुद्धि को इस प्रकृति की तरंगों से प्रभावित करके उन्हीं के कर्मों में बहता रहा। राग में, द्वेष में, बुरा करने में, और वह भी केवल संसार के सुखरूप उस स्वार्थ के कारण से ही। संसार के सुख का स्वार्थ भी वह, जो कि कभी रहना नहीं, उसी से अपने कल्याण का मार्ग खो दिया।

ऐसी सब दुर्गति इत्यादि को समझते हुये, संसार के या प्रकृति के सुख के मार्ग को त्याग कर, इन गुणों का चिन्तन करके, इन बलों का चिन्तन करते–करते अपने मन को जगाये। जागा हुआ मन ही ध्यान पायेगा और संसार से मुक्त होगा। समझ तो एक ही है, अब इस संसार में रुल रही है, तो अन्दर नहीं समझ रही। यदि अन्दर कुछ समझ जागने लग जाये अर्थात् अन्दर के सत्यों के बारे में जागने लग जाये, तो संसार खो गया, संसार नहीं रहा। संसार खोया रहा, तो उसके दुःख सुख भी नहीं व्यापेंगे। मुक्ति मिल गई। अन्त में संसार से मुक्त हो गया, तो अब बुद्धि भगवान् के आनन्द को प्रकट करेगी। जैसे कि नींद में सबको ठोकर मारी, सुख प्रकट हो गया। ऐसे जागते–जागते में यदि सबको ठोकर

मार दी तो क्या तब सुख प्रकट नहीं होगा? यह सब मनुष्य को अपने आप में करना है, तो इसके लिये अपने आप ही निश्चित करे कि कैसे जीवन में चलना है? तो ये सारे का सार क्या हुआ? कि बाहर से अपनी शक्ति को समेट करके अन्तरात्मा में इकट्ठा करना, उसके लिये भगवान् के जितने गुण हैं समझ करके अपने अन्दर उन्हीं के शब्दों को ध्यान करके, एक–एक उपजाते जाना, और उपजाते–उपजाते संसार को भी भूल जाना। क्योंकि चिंतन में ऐसी शक्ति है, जैसे कि आप कोई रस वाली पुस्तक पढ़ने लग जाओ तो सारा संसार भूल जाता है, क्योंकि उसमें रस–युक्त विषय है। इसी तरह यदि इन ध्यानों में आपको रस आने लग गया, तो प्रीति ध्यान जाग गया। जब तक बोल–बोल कर आप ध्यान कर रहे हैं, चिन्तन कर रहे हैं, तब तक वह वितर्क विचार ध्यान है, परन्तु जब प्रीति जाग गई, अपना मन लगने लग गया तो प्रीति का ध्यान जाग गया। जब उस समझ में आनन्द आने लग गया, तो ठीक है, अभी ध्यान पूरा साफ तो हुआ नहीं, परन्तु यह बहुत उत्तम कोटि का ध्यान है। उस समय मन संसार से बिछुड़ा हुआ होगा। जब आनन्द में भी आपकी "मैं" उत्पन्न नहीं होती, आनन्द के अनुभव में भी आप खोये नहीं, स्मृति बनी रही, तो आनन्द वाली इस "मैं" को त्याग करके आपने परम शक्ति तक पहुँचना है, तो समझो यही उपेक्षा परिशुद्धि नाम वाला पाँचवा ध्यान आपको उस तक पहुँचा देगा। तो यहाँ तक मनुष्य की पहुँच होनी चाहिये। चाहे वह हजारों जन्मों में करले, चाहे सौ में, चाहे एक जन्म में, चाहे कुछ सालों में, अपने आप करने का है, यही सारे कहे हुए का निचोड़ है।

प्रवचन

२३–१२–८६

जैसा कि नित्य प्रति सुनते है जो मन (अन्तःकरण) बाहर भटक गया है, बाहर ही ऐसा रुल या खो गया है अथवा अपने अन्दर से अनुपस्थित (गैर हाजिर) हो गया है तो ऐसी अवस्था में मन की शक्ति बाहर बिखर जाती है। सामान्य (आम) मनुष्य जो दूसरों के संग (सम्बध) से अर्थात् दूसरों से मिलजुल करके जीवन जीना जानता है। उसको अपने आप(अकेले) में कहीं जीवन ही प्रतीत (मालूम) नहीं होता है जब मनुष्य अपने आप में अकेला होता है तो उसे अविद्या (अज्ञान) (ज्ञान शून्य सी अवस्था) तंग करेगी या फिर वह नींद आलस्य सुस्ती का सुख लेता रहेगा। और यदि नींद नहीं लेता, तो फिर वही मन संसार की उन्हीं 'तेरी' 'मेरी' संसार की कल्पनाओं में ही उलझा रहेगा। इस प्रकार उसकी जीवनी शक्ति अकेले में भी क्षीण (नष्ट) होती रहती है, जैसे कि पहले संसार के कार्यों में हुई है। कारण कि, बाहर जो कुछ भी इतना लम्बा चौड़ा फैलाव है जिसने सब खोना ही खोना (नष्ट होने वाला) है, इस अनन्त संसार के फैलाव का कोई ठिकाना ही नहीं है।

२. जितना आप बाहर सोचेगें, भाव बनायेंगे , संकल्प रखेंगे, इन्द्रियों को बाहर चलाते हुए शरीर से भी बाहर ही कर्म ही कर्म करेंगे, तो फिर उन्हीं कि स्मृति (यादें) व ध्यान होगा, जो सब मन को बाहर ही भटकाता है। बच्चा इसके अतिरिक्त (अलावा) दूसरा कोई एकान्त का जीवन जानता भी नहीं है। बाहर का जीवन केवल तंगी, परेशानी चिन्ता,अनिद्रा (नींद न आना) व अशान्ति का ही है और इस बाहर के जीवन से मनुष्य शरीर व मन से दुःखी होता रहता है। बाहर भटका हुआ मन सुख (जो मन को अच्छा लगता है) की तरफ भागता

है और दुःख (जो मन को बुरा लगता है) से डरता है। परन्तु उसको इतना ज्ञान (समझ) नहीं है कि वह सुख कहाँ और कब तक बना रहता है ? ये दो सुख व दुःख की वेदनाएँ(कुछ महसूस करना) तो स्वभाव से सब ही जीव पशु, पक्षी कीट व पतंगो में समान रूप से होती हैं । परन्तु इसके अतिरिक्त यानी सुख दुःख को छोड़ कर एक दूसरा ज्ञान भी है, जो केवल मनुष्य में है व मनुष्य का ही विशेष इसमें अधिकार है। "ज्ञानं हितेषामधिको विशेशः) " ज्ञान ही मनुष्य के बीच में विशेष है कि अपने आप में अकेला बैठ कर, भूत ,भविष्य (पीछे व आगे) की बातो को सामने रखकर व विचार करके, अपना हित (भलाई) व अहित (बुराई) समझ सके, यह ज्ञान मनुष्य में अधिक है ।

३ प्रकृति या कुदरत का छोटा मोटा सुख, देखने में तो अच्छा लगता है , परन्तु वह अल्प (थोड़ा) सुख सदा के लिए अच्छा नहीं होता है। जैसे मीठा ज़हर भी अच्छा लगता है, परन्तु उसकी अच्छाई किस मूल्य की है, यदि उस ज़हर को खा करके मनुष्य मर गया । इसलिए उस प्रकृति के सब वृन्तान्त व खेल को, जो जानने पहचानने वाला अन्दर का ज्ञान है, यह जिसमें पूर्ण था, वह सर्वज्ञ (सब कुछ जानने वाला) भगवान् ही है ।

परन्तु अल्प–अल्प (थोड़ा) इस ज्ञान की भक्ति करने वालों को भी, इस प्रकृति का पता लगना चाहिए कि यह प्रकृति किस स्वभाव व आदत वाली है, जो अपने सुख व दुःख दो वीरों को सामने स्खकर मनुष्य को अचानक (एकदम) सुख दिखा कर अन्धा कर देती है सुख वाली वस्तु में प्रीति या राग उत्पन्न हो जाता है । राग में उसी सुख के लिए सोचे, दृष्टियाँ,(नज़रे) संकल्प, भाव आदि व उसी के लिए शरीर (देह) से कर्म करता हुआ मनुष्य उन्हीं की स्मृति (यादों) व घ्यान में रुलता (रोता) रहेगा। यह सब प्रकृति का खेल जानने से पता लगेगा कि सामान्य (आम) जीव को वह प्रकृति

अपना परिचय (जानकारी) नहीं देती । परम पूज्य भगवान्, जिसे हम परमेश्वर करके कहते हैं, वही इस प्रकृति को पूर्ण रूप से जानता था। और जान करके इससे रूला बैठा हुआ भी सदा अपने ध्यान में आनन्दमय था और अभी भी है। परन्तु वह भगवान् कहाँ बैठा है , इससे हमें ज्यादा प्रयोजन (मतलब) नहीं है क्योंकि वह सामान्य जन को तो दृष्टिगोचर नहीं होता अपने अन्दर यदि हम उसको धारण करें, उसके मार्ग (रास्ते) को बसाएँ और ज्ञान को अल्प–अल्प (थोडा–थोड़ा) अपने में स्थापित (स्थिर) करके उसके अनुसार हम चल सकें, तो समझना भगवान् की भक्ति भी ठीक है वही ज्ञान, रूप भगवान् जिसने प्रकृित के ऊपर वश (काबू) पाया था, व इसके दुःखमय बन्धनों से पार हो गया था, तो बस, उसी ज्ञान रूप भगवान् की भक्ति हमें करनी है ।

४ मनुष्य के अन्दर ही केवल ऐसी बुद्धि है, जो सब वस्तुओं को जैसी वे हैं वैसी ही पहचान सकती है। इन सांसारिक वस्तुओं से प्राप्त होने वाला सुख थोड़ी देर का है , और अन्त में दुःख में ही समाप्त होने वाला है यदि वह सुख प्रकृति का सुख दुःख में ही बदलने वाला है तो यह समझने का प्रयास (यत्न) करें कि सदा रहने वाला वह कौन सा सुख है, जो कि अन्त में दुःख रूप नही होता यह सारा ध्यान का कार्य है जिससे कि थोड़ा एकान्त में (अकेले में) जीवन को समझना है। ध्यान तो सभी मनुष्य कर सकते हैं, चाहे वह किसी भी क्षेत्र में हो। जैसे डाक्टर, अध्यापक, वकील, नौकरी पेशे वाले, ध्यान करके ही अपने–अपने व्यवसाय (धन्धों) को सफ़ल बनाते हैं। परन्तु ये संसार का जो कुछ भी है , यह तो एक स्वाभाविक है । परन्तु इस संसार से थोड़ा मुख मोड़ करके अर्थात् उसकी तरफ से ज्ञान को थोडा घुमा कर के अपने अन्दर की वास्तविकता (असलियत) को पहचानना। यह ज्ञान उसी को होगा, जो कि थोड़ा सा इस संसार के प्रलोभन ,लालच व खिंचाव को जीत सकेगा। खिंचाव इसके ज्यादा

दो ही हैं , (१) मीठी वस्तु के लिए मन का चिन्तन व सोच (२) कड़वी वस्तु (जो दुःख देती है), उससे ऐसा हटाव , अप्रीति व द्वेष कि मन उधर जाना भी नहीं चाहता । जिसने थोड़ा सा प्रकृति के दोनों प्रभावों, सुख और दुःख (अच्छा लगना और बुरा लगना) के बीच में अपने ज्ञान को बनाये रखा और वास्तविकता (असलियत) को पहचान सका, तो समझना कि वह भगवान् के रास्ते पर उन्हीं की बुद्धि का उपासक है चाहे उसे ज्ञान योगी , ध्यान योगी या कर्म योगी कुछ भी कहो । बाहर के सब अच्छे कर्म व बर्ताव के बिना, बाहर वाले प्राणी मनुष्य को ध्यान करने के लिये अवकाश तक भी नहीं देंगे । जैसे कि यदि किसी के साथ कड़वा बोला गया, तो जब हम अकेले में आराम से बैठे हैं , तो उसी मनुष्य का (जिसको कड़वा बोला गया है) भय ही लगा रहेगा, कि पता नहीं वह क्या सोचेगा या मेरे विपरीत (खिलाफ) क्या करेगा ? अतः बाहर सब अच्छे कर्म मन को जोड़ कर करने पड़ते है इसका नाम कर्मयोग्य है । यदि इस कर्मयोग को न करें, तो ध्यान योग सफल नहीं होगा ।

५. कर्मयोग से थोड़ा ध्यान लगने लगेगा, तब जाकर के अन्दर की वास्तविकता (असलियत) की खबर पडेगी, और उसी से सत्य का ज्ञान होगा । अब ज्ञान के साथ जुड़ करके, जैसा अपने आपको चलाना चाहिये, यदि मनुष्य अपने आपको चला गया, तो वह पक्का ज्ञानयोगी कहलायेगा । वह भगवान् का भक्त होकर के व सब बन्धनों से पार होकर के अपने आपमें ऐसा सुख और शान्ति पायेगा, जो परमेश्वर के अन्दर अनादि काल से बसे हुए हैं । इसी परम शान्ति के मार्ग को वेद और शास्त्र एक स्वर से कहते है ।

६. जैसा कि पहले बोला गया है, कि प्रकृति के दो सहज प्रभाव (अच्छा लगना और बुरा लगना) सब के अन्दर जन्म से आ जाते है । अच्छा लगने का नाम ही सुख है और बुरा लगने का नाम ही दुःख है । इनको सुख दुःख भी नही कहना

चाहिए, ये तो सुख व दुःख का एक संवेदन (महसूस) होना है। सुख तो सत्य (असली) वह होगा, जो परमात्मा का है। सत्य (असली) दुःख भी यही है कि जो सुखों के पीछे आता है। अर्थात् जिन प्राणियों से प्रीति या प्रेम मिलता था, उन्ही से अनादर मिलने लग जाता है यही मिथ्या सुख के पीछे लगे प्राणियों को यही दुःख प्राप्त होता है। मनुष्य अपनी मिथ्या अवस्थाओं व अभ्यासों में मिथ्या सुख के पीछे लगा रहता है और उसके अन्तिम परिणाम (नतीजे) में यही तो होना है रोग, शोक, व्याधियाँ, अनादर, इत्यादि। अतः असली दुःख वही है, जो सुख के बहाने मिला है, और सत्य (असली) सुख वह है जो इन सब सुख, दुःख के संवेदनाओं से मुक्त होकर अपने आत्मा में मिलता है।

७. प्रकृति के दो मार्ग ऐसे हैं कि एक में तो सुख प्रदर्शन (दिखाना) करना, कि " यह कैसा अच्छा (बढ़िया) है " और दूसरे में दुःख को अनुभव (महसूस) करवा देना, "ओह यह अच्छा नहीं है। " बस इससे सारे जीव, कीट,पतंग पशु पक्षी सब चलाये जाते हैं। जैसे कि किसी पशु पक्षी को भी अनुभव(मालूम) होगा कि "ठण्डी लग रही है, तो अचानक (एकदम) धूप को देखकर धूप में जा बैठेगा। यदि धूप कड़वी लग रही है, तो छाया में चला जायेगा। " अपने सुख के लिये पशु, पक्षियों में एक दूसरे को मार करके खाने का स्वभाव है जैसे कौआ दूसरों के बच्चे खाता है, इस प्रकार ये सब जितने जीव हैं, एक दूसरे का भक्षण करते है और दूसरा किसी का वैरी बनता है यह सारा इस प्रकृति ने अपने दो खेलों से ही रचाया हुआ है।

८. प्रत्येक मनुष्य भी इन्हीं प्रकृति के दोनों प्रभावों से चलाय–मान होता है, जैसे किसी की बोली हुई बात बुरी लग गई व क्रोध आ गया। क्रोध में मिथ्या (खोंटा) बोल गया, तो उसको पता नही कि इस मिथ्या (खोंटे) बोल का क्या परिणाम (नतीजा) होगा ? यही अज्ञान (अविद्या) है। इस

अविद्या को पहले अपने अन्दर की समझे। सारी प्रकृति अपनी माया के साथ इसी अविद्या (अज्ञान) रूपी अन्धकार के कारण रचना व विनाश करती रहती है। चेतन व ज्ञान स्वरूप आत्मा के सत्य को प्रकट नहीं होने देती अर्थात् सत्य छुपा रहता है। बस एक परमेश्वर ही ऐसा है, जिसके अन्दर प्रकृति के सब सत्यों का प्रकट ज्ञान है। प्रकृति के बन्धनों से मुक्ति भी उसकी स्वाभाविक ही है। परन्तु मनुष्य अपने आपमें यह निश्चय करे कि अपने अन्दर भी मैनें उस भगवान् की भक्ति करके इस अविद्या को जड़–मूल से उखाड़ देना है। इसके लिए यह आवश्यक है कि उसको भले बुरे का पता लगता रहे तथा अपने चलने का रास्ता भी ध्यान (ख्याल) में रहे चाहे उस रास्ते चलने में तंगी,(दुःख) भी हो, तो प्रकृति की नहीं सुननी। जैसे बीमारी की अवस्था (हालत) में न चाहते हुए भी स्वादिष्ट भोजन छोड़ना पड़ता है और भी नाना प्रकार की प्रिय वस्तुएँ छोड़कर संयम रखना पड़ता है। यदि ऐसा न कर सका, तो बीमारी बढ़ जायेगी और मृत्यु भी आ सकती है। बीमार मनुष्य की दृष्टि (नजर) में मीठा खाने का सुख तो बसा हुआ है, परन्तु उस सुख के पीछे जो दुःख आता है। उसका उसको ज्ञान नही है। मीठा खाने की इच्छा पूरी न होने से उसे दुःख होता है। और यही दुःख उसको भड़का जाता है जब वह मन के अनुसार (मुताबिक) मीठा नहीं खाता है। इस दुःख को जीतकर जिसकी बुद्धि बनी रही व प्रकृति की इन दोनों धाराओं में नहीं बहा और उस से बचने के लिए विवेक जागता रहा, तो समझो भगवान् की भक्ति उनकी चल पड़ी।

६. वास्तव (असलीयत) में भक्त व ज्ञानी (सर्वज्ञ) तो वही है, जो इस मन की खींच को अपने अन्दर ही पहचाने कि "जिधर मुझे यह मन सुख दिखलाकर ले जा रहा है, इसका अन्त क्या और कहाँ होगा" बच्चे तो नहीं पहचान सकते, क्योंकि उसकी बुद्धि का इतना विकास अभी नहीं हुआ है।

परन्तु जो बड़ी आयु के है, उनसे भी प्रकृति के तरंगें उन्हीं को उत्तेजित करके मिथ्या (खोटा) करवा जाती है। प्रकृति की शक्ति केवल एक ही तो नहीं है, और भी उसकी बहुत सी शक्तियाँ पहचाननी पड़ेगी, जो विद्युत् (बिजली) तरंगों की तरह बाहर कुछ करने के लिए जीव को प्रेरित करती रहती है अर्थात् खोटे कर्म करने के लिये धकेलती रहती हैं। बाहर इसके सब मिथ्या (खोटे) कर्म होते हैं, जैसे नशा पीना, अपमान का बदला अपमान से लेना इत्यादि, जिनको कि अच्छा (बढ़िया) करके प्रकृति दिखलाती है। ये सब प्रकृति की तरंगें हैं, जैसे कि विद्युत् के झटके (धक्के) होते हैं इसी प्रकार मन की विद्युत् (बिजली) के भी धक्के हैं। यदि आप उन धक्कों के बीच में टिके रहे, तो समझना वह भगवत् बुद्धि (भगवान की बुद्धि) होगी। वह बुद्धि चाहे एक क्षण के लिये भी आपके अन्दर टिकी रहे तो वह बुद्धि उस समय (वक्त) तक का भगवान है । परन्तु दुःख इस बुद्धि रूप भगवान् को उस समय टिकने ही नहीं देता ।

१०. यदि आदत का विषय न दें तो दुःख होता है । तो वह दुःख मिथ्या (खोटी) मति (बुद्धि) उत्पन्न कर देता है और मिथ्या आदतों को पूरा करने का सुख भी मिथ्या (खोटी) बुद्धि ही पैदा करता है । जैसे कोई नशा पीने वाला कह देता है कि नशा पीने में कौन (सी ज्यादा बुराई है और आदतों का सुख छोड़ने में कोई विशेष पुण्य भी होने वाला नहीं दिखाई देता । ये सब मिथ्या मतियां (खोटी बुद्धियां)) खोटे संकल्प या इरादे भी बनते हैं और उन्हीं के अनुसार मन में मिथ्या उत्तेजनाएँ या जोश भी उत्पन्न होते हैं । पहले तो यह प्रकृति मनुष्य को पहचानने के लिये मनोयोग ही नहीं होने देती अर्थात् मन को अन्दर की विद्याएँ समझने के लिए अन्दर आने ही नहीं देती अर्थ्रात्र अन्दर झाँकने तक नहीं देती और बाहर संसार में भटकाती व रूलाती रहती है । फिर मनोयोग कौन कर सकेगा जो थोड़ा एकान्त में बैठ कर इसके (प्रकृति के) वृत्तान्तों को देखे, कि आज दिन भर में मैंने क्या किया? कैसे चला, किस-किस से बातचीत हुई और क्या बोला गया । ये जीवन में सब

घटनाएँ आती हैं कारण कि हम समाज में रहते हैं। यह मन में पहचानना है कि पड़ोसी, प्यारे व विरोधियों से भी कैसा चला गया अर्थात् कैसा बर्ताव किया गया उस समय आप यदि यह सब स्मरण (याद) करनें का यत्न करेंगे, तो पहले तो नींद वाला मन उन सब को याद ही नहीं करने देगा। वह मन कहेगा कि अब खाली बैठे हैं, इससे तो अधिक लाभ (फायदा) यही है, कि "सो जाओ"। तो इस अवस्था में अल्प (थोड़ा) उस आलस्य (सुस्ती) को जीतना पड़ेगा। यदि आप आलस्य (सुस्ती) को जीतना चाहेंगे, तो मन दूसरे प्रकार (किस्म) के भाव जैसे संशय (कहीं नीद टालने से मस्तिष्क न खराब हो जाये), चिढ़ व क्रोध पैदा करेगा। यदि इन प्रकृति के विकारों को शान्त करने की भक्ति आपने शुरू कर दी , तो यह भी एक ध्यान का मार्ग (रास्ता) है। और ध्यान के साथ–साथ ज्ञान उत्पन्न करके और उसको बनाऐ रख कर परम ज्ञान रूप परमात्मा तक पहुँचने का रास्ता है। संशय, चिढ़, इच्छा और व्यर्थ के प्रकृति के विकार आने पर मनुष्य को इस प्रकार से चला कर ले जाते है,कि जिसमें मनुष्य का कोई वश नहीं चलता अर्थात् उनको टालने के लिए वह असमर्थ रहता है। वह पुनः (फिर) मिथ्या कर्मों में ही प्रवृत्त हो जाता है अर्थात् लग जाता है। उनको टालने का सामर्थ्य भी उस मनुष्य को अपने आप में नही प्रतीत होता। और न ही बुद्धि कार्य करती है। इस अवस्था में इन विकारों को शान्त करते हुए, थोड़ा नींद को भी जीतते हुए आधा पौन एक या दो घंटे बिताने का प्रयास (हिम्मत) करें और मन में विचार करें कि व्यर्थ की बातों (गप्पों) में भी चार–चार घंटे रात्रि को बिता देते थे। फिर ऐसा करने पर जब मन खाली होगा तो मन में दिन की स्मृतियाँ (यादें) आयेंगी कि "उसने मुझे यूँ बोला था" "मैने ऐसा किया कि मेरे से उसको कड़वा बोला गया," "उसने मुझसे क्रोध में बोला व वह अपना अहंकार दिखा गया" इस प्रकार मन अपने भले के ज्ञान व भगवान्

के ध्यान की बजाय (अतिरिक्त) संसार के ध्यान में ही घसीट ले जाता है जो कि सब मिथ्या (खोटा) ध्यान है। यहाँ पर यदि वह चेत गया, तो बस समझो, चेतन हो गया। जैसा कि आप लोग शास्त्रों में सुनते हैं कि चेतन मुक्त है, चेतन सब बन्धनों से परे है। चेतन नाम है, चेताने का, अर्थात् सही ज्ञान (समझ) में अपने आप को स्थित करने का और करते जाने का चेतन से विपरीत (उल्टा) जिस समय प्रकृति खींच करके ले जा रही है, तो समझो, जड़ मन है, जड़ बुद्धि बाला जीव ही बँधा है। परन्तु जब आपने अपने अन्दर समझ लिया कि यह प्रकृति की शक्ति किधर ले जा रही है ? अर्थात् उस वस्तु या घटना की याद दिलाई है, जो कि कार्य हो गया है, और जिसका अब कोई प्रयोजन (मतलब) भी नहीं है इसी प्रकृति की दुःख की ओर ले जाती हुई धारा को पहचान लेना कि यह मिथ्या दुःख की ओर ले जा रही है। यहीं से मनुष्य का चेतन होना आरम्भ होता है। यही चेतन होना है। खाली मन पत्थर जैसा जड़ है, जिसमें प्रकृति के विकार अर्थात् संसार के विचार ही बहते रहते हैं।

११. खाली मन में मान व क्रोध का भाव आते आते ही ध्यान करके विचार विवेक उत्पन्न करना कि अब इनका क्या करूँ कैसे इनसे मुक्ति पाऊँ ऐसी अवस्था में थोड़ा संस्कारों को दबाना चाहिए। भटका हुआ रथ, भटकती हुई गाड़ी यदि उसका ड्राइवर ठीक नहीं है, तो कैसे सम्भालेगा ? इसलिये कहते हैं कि ज्ञान को अपने साथ रखना। यही सत्य का साक्षात् (प्रकट) ज्ञान रूप भगवान् कृष्ण जी , यदि आ गये तो अर्जुन (अर्थात् यही कमाई करने वाला जीव) के शरीर रूपी रथ को सम्भालेगा । कैसे सम्भालेगा ? ज्ञान ही मन को बतायेगा कि "तू जिधर जाना चाहता है, उधर रखा क्या है, अन्त में तुझे क्या मिलेगा ?" "तू उसका बुरा करेगा व दुःख देगा, तो जैसे तेरे अन्दर अग्नि जली है फिर उसके अन्दर और अधिक भड़केगी। सब पशु पक्षी भी ऐसा ही करते हैं,

तो तू भी सब पशु पक्षियों के समान ही हुआ । यदि इतना विवेक (ज्ञान) जाग गया, तो अब इस दुःख में जीना सीखना पडेगा। दुःख में जीना बाहर भटका हुआ मन, नहीं सीखने देता और कभी शान्ति व **आनन्द** का अनुभव भी नहीं करने देता।

१२. बाहर भटका हुआ मन नींद में थोड़ी देर के लिये भले, शान्ति भी पा गया परन्तु जब नींद से उठेगा, तो फिर वही संसार खड़ा करेगा। ये सारे ही जीव जितने बाहर घूम रहे है, यह मत समझिये कि ये हमारे मन में नहीं है अवश्य ही इन सबको मन के अन्दर एक–एक क्षण में प्रकृति उत्पन्न करती रहती है, और नष्ट करती रहती है। जैसे हम स्वप्न में अपने जागृत काल के समान अन्दर सब संसार खड़ा देखते है, यही भाव रूप में अब भी अन्दर ज्यों का त्यों ही सब बह रहा है।

१३. इसको अपने मन में इस प्रकार समझना है कि मान लो, दूसरे के थोड़े से दुर्व्यवहार से मेरे को दुःख हो गया। उस दुःख की आग को मैं पी नहीं सका अर्थात् उस दुःख का ज़हर नहीं हजम कर सका। यदि मैं दुख का जहर हजम कर लूँ, तो कहाँ आग है, और क्या मेरा उसके दुर्व्यवहार से बिगड़ा ? केवल दुख देने वाले की मिथ्या दृष्टि (खोंटी मति) ही मन के अन्दर बनी रहती है जो दुःख के ज़हर को हजम नहीं करने देती। यदि इस मिथ्या दृष्टि का नाश अन्दर देखते देखते कर दिया जावे, तो आत्मा का सुख प्रकट हो जाता है। परन्तु प्रकृति (स्वभाव) मिथ्या दृष्टि को बनाये रखना चाहती है और अपनी इच्छानुसार ही मनुष्य को चलाती है।

१४. जिस प्रकार पशु को डण्डा लिये जिधर चाहे हाँक सकते है, वैसे ही यह माया (प्रकृति) तीन गुणों वाली मिथ्या तृष्णा के बल का डण्डा लिये सब जीवों को ऐसे ही हाँकती है और प्रेरित करती है कि " चलो उस तरफ ही, जिधर

बचपन से चलते आ रहे हो" अब भगवान् ही है परमेश्वर ऐसा जो इससे पार होकर के अर्थात् निकल करके व इस माया (प्रकृति) को पूर्ण पहचान करके इसके ऊपर बैठा है। यदि उसी भगवान् के गुण, ज्ञान, वीर्य व सब भाव जितनी मात्रा में हमारे में आ जायेगे, तो समझो उतनी उसकी भक्ति हमसे हो गई। परन्तु यह प्रकृति उस भगवान् के गुण अन्दर नहीं आने देती, कारण कि उस प्रकृति का राज्य उन भगवान् के वैराग्य सन्तोष आदि गुणों के आने से समाप्त होता है ।

१५. एक प्रकार से यह संसार की शक्ति जो मन में बचपन से बैठी है, कहती है कि सब कार्य उसी मार्ग से करो, जैसे संसार कर रहा है अब यदि आपने पण्डा नाम की बुद्धि जगा ली, जिससे पण्डित बनता है तो पाण्डु की सन्तान आप हो जायेंगे अर्जुन (धर्म की कमाई करने वाला) बन कर और ज्ञान जगा जगा करके यदि आप अपने शरीर को ठीक मार्ग पर चलाते गये तो आपका रथ अन्त में ऐसा चलेगा कि सब विकार व दोष रूप कौरवों को समाप्त करके अन्त में जाकर के शान्त राज्य पायेगा। आपको पता चलेगा कि अपने अन्दर ही यह महाभारत युद्ध है, तो अब इस महाभारत युद्ध को अपने अन्दर ही देखना पड़ेगा। इसके लिये पहले उस मिथ्या (खोंटी) मति को पहचानना है कि मिथ्या मति आ गई, या बन गई, अग्नि लगा गई। अग्नि किसमें लगेगी ? आपको प्रतीत होगा कि आग अपने अन्दर बुद्धि या समझ में लगेगी। वह सोचेगा कि देखो जी, "उसने मेरे से दुर्व्यवहार कर दिया", "वह दुष्ट मनुष्य है।" अब मनुष्य तो सारे एक ही है, चेतन सब में एक ही है। वह मिथ्या व्यवहार करने वाला आपके लिए तो दुष्ट बन गया, किसी के लिए मित्र, प्यारा, सज्जन भी तो है। इसलिये वास्तविकता को देखो और कोई भी दुष्ट नहीं है। केवल आपकी दृष्टि में ही दुष्ट है। वास्तविकता (असलियत) यह है कि जो हमारी देह की मशीन को चला रहा है, वही सबकी देहों की मशीनों को चला रहा है। जो

हमारे अन्दर रक्त (खून) संचार करना, भोजन पचाना (हजम), नींद में श्वाँस खींचना आदि सब कार्य करता है। वह हम आप नहीं है, जो बाहर 'मैं', 'मैं', 'तूँ', 'तूँ' करके घूम रहे हैं। जैसे हम तो नींद में सो गये, हमको क्या पता लगता है कि "कहाँ कौन कैसे श्वाँस चला रहा है ? दो पशुओं के लड़ते समय उनके शरीर की मशीन कैसे चलती है? वह कौन सी शक्ति है, जो ज्ञान के साथ सब को चला रही है ?" उसको यदि आप पहचानोगे तो पता लगेगा कि इसका नाम परमात्मा है। आप इस परमेश्वर पर दृष्टि रखो बाकी दुष्ट वैरी, उस्ताद की दृष्टियाँ (नजरे) मत रखो। परन्तु इस ज्ञान रूप चेतन परमेश्वर पर प्रकृति दृष्टि (नजर) व पहचान नहीं खुलने देती। प्रकृति सब में एक चेतन न दिखलाकर उनके भिन्न–भिन्न रूप का ज्ञान कराती है, जैसा कि जीव ने बचपन से समझ रखा है।

१६. अपने मन को बोल–बोल कर समझाओ कि "देखो मन तूँ उसकी दृष्टि कर रहा हैं, जो कि सत्य नहीं है।" यह ठीक है कि उसका बर्ताव एक क्षण के लिए दुष्टता का था। जैसे तेरे लिए उसका एक क्षण के लिए दुष्टता का बर्ताव था। और किसी दूसरे के लिए उसका सज्जनता का बर्ताव भी हो, तो बताओ। ऐसी अवस्था में उसको दुष्ट कहा जाये या सज्जन कहा जाये। एक क्षण के बर्ताव से किसी को दुष्ट या सज्जन का नाम देना ठीक नहीं। न तो वह सज्जन है, और न ही दुष्ट है। यदि है, "तो एक ही है, चेतन", जो क्षण–क्षण शरीर में चेत रहा है और चेत करके इस शरीर की मशीन को चला रहा है। भागते हुए कुत्ते के अन्दर भी जो चेत रहा है, वही चेतन है। अब यह ठीक है कि उसके अन्दर एक ऐसा जीव बैठा है, जिसकी दृष्टि रोटी पर है कि कहाँ खाने को मिलेगी? एक रोटी को पाने के लिए एक कुत्ता जीव भाव से दूसरे कुत्ते को कभी भी नहीं देखना चाहता।

इसी तरह हमारे अन्दर भी बस वह राग द्वेष रूपी यदि कोई दूसरा कुत्ता आ गया, भौंकने लग गया कि "यह क्यों मेरे अधिकार क्षेत्र में आ गया।" इस प्रकार से ये तो प्रकृति के खेल है। परन्तु आप ने पहचानना है कि एक ही चेतन तो सब में है और एक ही है, चाहे कोई भी जीव हो।

१७. यदि मन की इस चाल कुचाल को समझते हुए अन्तिम परिणाम (नतीजा) सोचने लग गये, तो इसका नाम ही विवेक है। इस विवेक को अपने अन्दर जगाना है। वह विवेक चाहे दो, तीन, पाँच या दस घण्टे में जागे, चाहे नहीं भी आज जागे, वह वर्षों में जाकर के जागे। पुरूषार्थ इसको जगाने में करते रहना है। यदि इस जन्म में विवेक नहीं जागा परन्तु जगाने के लिए आप हिम्मत करते रहे, तो कम से कम आप मनुष्य की बुद्धि तो लेकर के मरे। क्योंकि केवल मनुष्य का ही इतना अधिकार है कि वह सोच समझकर कर भले बुरे को पहचान सकता है। चाहे वह भला बुरा अभी पहचानने में न भी आये, परन्तु मनुष्य सोचने के लिए उस विषय के अन्दर मन को तो लगा सकता है, यही मनोयोग है। जो मनुष्य कम से कम भले बुरे की पहचान करने के लिए अपने मन के साथ जुड़ता है और ध्यान का अभ्यास करता है, और भगवान् में श्रद्धा रखता है, तो कम से कम मनुष्य तो रहेगा ही। यदि ऐसा यत्न करते–करते मर भी गया, तो भी आगे वही मनुष्य का ही जन्म पायेगा। इसके लिए आत्म–संयम करना पड़ता है।

१८. जैसे भोजन चाहे कितना ही स्वादिष्ट है, परन्तु यदि वह स्वास्थ्य (तन्दुरुस्ती) के लिए अनुकूल नहीं है, तो आप उसको दुःख रूप समझ कर त्याग देते है। इसी प्रकार दुःख मानकर के भी उस अपमान के जहर को हजम करना है, अर्थात् समाप्त करना है, जो उसके दुर्वचन, दुर्व्यवहार (बुरे बर्ताव) से हो रहा है। यदि आप मन से भी उसका बुरा (खोंटा) करने के लिए कभी तैयार नहीं है, तो समझो आपने

दुःख का जहर हजम करना सीख लिया है। शंकर भगवान् ने जहर हजम किया था, जो समुद्र के मंथन करने से निकला था। यह सारा संसार ही भव–सागर है, जो समुद्र के समान है। यदि इस भव–सागर रूपी समुद्र को आप मथेंगे अर्थात् यदि विचार द्वारा निर्णय करोगे कि इसमें क्या सार है? आपको सार तो कुछ दिखलाई नहीं देगा, परन्तु इसमें दुःख का ज़हर ही केवल निश्चय करने में आयेगा यह दुःख का विष (ज़हर) एक दूसरे से व्यवहार करने से चढ़ जाता है। फिर यह दुःख का ज़हर इस उन्मत्त (पागल) अवस्था में ऐसे–ऐसे कर्म करवाता है, जो किसी के भी भले के लिए नहीं हैं। इस विष को पचाने वाला भगवान् शंकर है, जो शान्त रहने वाला और अपने आप को शान्त करने वाला है। भगवान् शिव के ये भी दो नाम हैं, शम्भु और शंकर। शम्भु अपने आप में शान्त होता हैं और शंकर बलपूर्वक विवेक जगाकर के, मन को मना करके, अपने आप शान्त कर लेता है। जब आप मन को शान्त करने के लिये चल पड़े, तो भगवान् शंकर की भक्ति हो गई और जब ऐसा करके आप टिक गये अर्थात् मन आपका शान्त हो गया बस समाधि हो गई। तो यही शम्भु भगवान् की अवस्था है। अर्थात् संसार का विष पचाना (हजम करना) है। यह विष पचाना फिर कैसे हो? जैसे उसनें मेरे से दुर्व्यवहार कर दिया, तो मेरा मन कहता है,कि वह दुष्ट है। उसके बर्ताव का विचार करते ही मन में क्रोध आदि लाने के लिए अनुकूल बार–बार उसके खोंटे व्यवहार की ही स्मृति आती है और मिथ्या अपना भी बर्ताव करने के लिये मिथ्या संकल्प भी बनते है। अन्दर अग्नि (आग) भड़क रहीं है और मन में विष (ज़हर) चढ़ रहा है। उसके बारे में मिथ्या ध्यान हो रहा है कि किस प्रकार उससे बदला लिया जावे। यह सब कौन करवा रहा है ? मन में थोड़ा विचार करने पर पता चलेगा कि उसके व्यवहार की वह दुःख की आग ही है, परन्तु साधक इस दुःख की आग को ऐसे शान्त कर लेता है जैसे

सिर दर्द या जैसे छोटा बालक अपने पिता के थप्पड़ के दुःख के ज़हर को अन्दर ही अन्दर हजम कर लेता है या जैसे बड़े अफसर से किया गया अपमान छोटा अफसर भी सहन कर लेता है। हम सब भूख, प्यास, ठण्डी, वायु व कमजोरी का दुःख भी सहन करते हैं। सच पूछों, तो संसार में दुःख ही ज्यादा हैं और दुःख सब को ही सहन करना पड़ता हैं। जिसके पास कुछ शक्ति है, उसके अन्दर से तो शक्ति द्वारा कोई ऐसा दुर्वचन या दुर्व्यवहार (मिथ्या बर्ताव) भी आ जाता है, जो हमें दुःख दे जाता है। अब इसको मन में क्या लगा के रखना, "कि वह कुछ दुर्वचन बोल कर हमें दुःख दे गया"। ऐसी अवस्था में अपने मन को समझाना कि "वह मनुष्य कोई दुःख देने वाला नहीं है, केवल उसके अन्दर बैठी हुई एक शक्ति ही उस समय ऐसा करवा गई। तो कोई ऐसी बात नहीं, जो अन्दर अपमान का दुःख हो रहा है, इसको देखंते है कि यह कितनी देर तक बना रहता है।", जैसें काँटे या किसी अंग जले का दुःख भी इच्छा के प्रतिकूल (विवश) होकर भी सहन करना पड़ता है, सहते–सहते वह दुःख सदा तो बना रहता नहीं, अन्त में जाकर अन्दर बैठी हुई भगवान् की प्रकृति शक्ति तो उसको शनैः शनैः (धीरे–धीरे) ठीक कर ही देती है।

१६. यह ठीक है कि खोंटी प्रकृति (आदतों की शक्ति) के वशीभूत होकर वह बेचारा दुर्व्यवहार करके इस मार्ग से चल गया। "वह तो दुर्बल था, परन्तु मैं दुर्बल क्यों बनूँ ?" इस प्रकार से अपने मन के अन्दर उचित संकल्प (ठीक इरादे) और भाव बनाएँ। भाव बनाकर के यदि ठीक मार्ग (रीति) से आप बाहर चल गये, तो समझो ! आपने उसके दुर्व्यवहार का विष पचा लिया। अब आपका मन शान्त होगा। यही शंकर भगवान् की सच्ची भक्ति है। जब आपका मन शान्त होगा, तो अनावश्यक सोचें चिंतन रूपी पापी चित्त में नहीं होंगी। उचित मार्ग के सोच विचार का नाम ही तो ध्यान है। संस्कृत

में" ध्यै" धातु से ध्यान शब्द बनता है, जिसका तात्पर्य (मतलब) स्मरण और चिन्तन है। दूसरे प्रकार की मन की सोच (चिंतन) भी है, जिससे चित्त शब्द बनता है। वैसे तो उसका तात्पर्य भी सोचना है, परन्तु यह जो प्रकृति (स्वभाव) के मार्ग से सोचना है, इन सोचों में पड़े रहने का नाम ही चित्त है। यदि इसी चित्त को अपने हित के लिए, अहित से बचने के लिए, मिथ्या मार्ग (रास्ते) के विष को पचाने के लिए सोच विचार करके अपने आप को सोच में (चिंतन करने में) डाल रहे हैं व शब्द बोल–बोल कर विचार भी कर रहे है, तो यह ध्यान कहा जायेगा जो कि शब्द बोल बोल कर होता है। इस प्रकार चित्त (प्रकृति के मार्ग की सोच) और ध्यान (अपने कल्याण के लिये किया गया विचार व चिन्तन) को अलग–अलग पहचानना है। आप बाहर बहुत कुछ पहचानते है, क्योंकि अविद्या वाला मन अपने अन्दर कुछ समझे बिना रह ही नहीं सकता। इस अविद्या का कलंक जन्म से ही सब जीवों के साथ है। आँखें खोल कर बाहर ही कुछ देखते रहना, कान फैलाकर बाहर की आवाजें सुनने की लपक अन्दर बनी ही रहती है, कि "कोई न कोई ज्ञान जन्मते रहना चाहिये ताकि हमको प्रतीत हो कि हम जीवन धारण कर रहे हैं अर्थात् संसार में बने हुए हैं।" यदि किसी प्रकार भी ज्ञान अन्दर नहीं स्फुरता है, तो ऐसी अवस्था में मन चाहेगा कि उसे नींद आ जाए। यदि नींद नहीं आती है, तो मन अपने आप इस संसार से अपने आपको उजड़ा हुआ समझता है। उजड़ा हुआ कोई नहीं रहना चाहता। इसलिये प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति के अनुसार ज्ञान उपजाता रहता है। परन्तु यदि आप उचित मार्ग के ज्ञान नहीं उपजाएँगें, तो प्रकृति (कुदरत) अपने प्रकार के संस्कारों को जगा कर संसार के मिथ्या ज्ञान ही उत्पन्न करती रहेगी, जैसा कि सतत (लगातार) सब के अन्दर करती ही रहती है। मन के अन्दर ज्ञान तो सदा चाहिए,

चाहे वह ज्ञान ध्यान के मार्ग का हो या फिर प्रकृति द्वारा संस्कारों से उपजाया ज्ञान हो।

२०. यदि आप अन्दर ही काम, क्रोध, राग, द्वेष, मान, मोह, इर्ष्या, मत्सर व अविद्या आदि को पहचानने में लगे रहे और ध्यान में मन पड़ गया, तो आपकी ऐसी समाधि लगेगी कि "संसार कहाँ बस रहा है, इसका आपको पता ही नहीं चलेगा।" इसका यह तात्पर्य (मतलब) नहीं है, कि "आप संसार से उजड़ गये।" यदि आंप एक क्षण के लिये अन्दर का चिन्तन बन्द कर देते हैं, तो बाहर का संसार आपको खिला हुआ दृष्टि (नजर) में आयेगा। उस समय आपकी सब इन्द्रियाँ बाहर काम करने लग जायेगी, जैसे कि पहले काम करती थीं। यदि आपका ध्यान रूपी चिंतन का मार्ग अभी नहीं जागा है, तो मन बाहर की वस्तुओं में ही उलझा रहेगा। और शक्ति अर्थात् जीवन शक्ति, जो हमारे अन्दर प्राण रूप से बसी हुई है, वह भी बाहर ही भटकती जायेगी। यह प्राण शक्ति, ज्ञान के बाहर भटकने से ही, उसके साथ बाहर भटकती रहती है, कारण कि जहाँ पर हमारी समझ होती है, वहीं पर प्राण शक्ति भी रहती है। यह ज्ञान भी बाहर के प्राणी व पदार्थों में उलझा रहने से प्राण भी बाहर ही भटकता रहता है। यदि यह ज्ञान (समझ) बाहर संसार से छुट्टी (मुक्ति) पाकर अपने अन्दर एकत्रित (इकट्ठी) हो, तो उस ज्ञान के साथ प्राण शक्ति को भी अन्दर एकत्रित होने का अवसर मिले। जैसे नींद में बाहर सबको अर्थात् सब संसार के प्राणी व पदार्थों की सोच को भूल कर (लात मार कर) मन के साथ–साथ प्राण शक्ति अन्दर आ कर इकट्ठी होती है व अपना सुख देती है, उसी प्रकार जागते–जागते भी बाहर के संसार को ठोकर मार कर मन व प्राण (जीवनी) शक्ति के अन्दर एकत्रित होने से सुख प्राप्त होता है। अब प्रश्न उठता है कि बाहर के संसार को किस प्रकार ठोकर मार कर इस सुख को जागते जागते प्राप्त करें? ऐसी अवस्था में अविद्या कहती है

कि "ज्ञान बिना मनुष्य को जीने नहीं दूँगी।" यदि ध्यान द्वारा उत्तम ज्ञान, अपनी भलाई के लिये अन्दर उत्पन्न नहीं होते, तो बाहर संसार के मिथ्या ज्ञान ही संस्कारों द्वारा उत्पन्न होगें व मिथ्या दृष्टियाँ बनेगी। जैसे कि किसी को दुष्ट, चोर आदि समझ लिया, यह मिथ्या दृष्टि ही है, जो कि अपनी दृष्टि में ही है। मिथ्या (खोंटी) दृष्टियों के बनने के साथ मिथ्या (खोटे) ही इरादे व संकल्प होंगे। फिर इन संकल्पों को पूरा करने के लिए, क्रोध और अन्य उद्वेग (जोश) भी आयेंगे और साथ–साथ कुछ करने की योजनाएँ भी चल पड़ेंगी। इस प्रकार का सब सांसारिक चिंतन मिथ्या (खोंटा) ध्यान ही है। मिथ्या ध्यान से मिथ्या कर्म बनेंगें यदि सर्व जीवन इसी प्रकार मिथ्या ध्यान करने से चलता रहा, तो समझो वह निरर्थक (खोंटा) जीवन व्यतीत हो गया। यह साधारण (आम) जीवन का मार्ग तो प्रकृति का ही है। इस प्राकृतिक (स्वाभाविक) जीवन के स्थान (जगह) पर भलाई वाला धार्मिक जीवन बनाना है। इसके लिये मिथ्या मति को उत्पन्न होते ही पहचानना पड़ेगा और ऐसा करने के लिए एक क्षण भी व्यर्थ न जायें। अर्थात् आपको मिथ्या बुद्धि, मिथ्या भाव बनते ही तुरन्त उसकी पहचान होनी चाहिए। और उसको पहचान कर ध्यान द्वारा मूल (जड़) से निकाल देना चाहिए। मिथ्या (खोंटा) भाव समाप्त होते ही मन हल्का हो जायेगा, इसी में ही भगवान् के आनन्द का स्वरूप प्रकट होगा। यह उस भगवान् के भक्त का कार्य है अर्थात् भगवान् के आनन्द की प्राप्ति उसको होती है, जो अपने आप में साक्षी रूप से देखने का कार्य भगवान् की ओर यात्रा करने में सहायक है।

२१. अच्छे भाव बनते–बनते गहराई में पहुँचने पर वह कभी दुष्ट भी दीखने वाला मनुष्य सज्जन नजर आयेगा जो कि मिथ्या भाव के कारण दुष्ट दिखाई दे रहा था। उस समय मन में भाव उत्पन्न होगा कि इसके सुख में भी मुझे सुखी होना चाहिये और बेचारे के दुःख में हमदर्दी (दया) रखनी

चाहिये। वह अपने स्वभाव से, जो कुछ भी उस समय के चक्कर में अर्थात् अवसर की प्रेरणा से कर गया, उसको अधिक (ज्यादा) अपने मस्तिष्क (दिमाग) में बसाना ठीक नहीं है। इस प्रकार यदि रिक्त (खाली) बैठे–बैठे आपने मन को लगाना सीख लिया, तो आप अकेले में इस तरह भली (अच्छी) भावना करते करते घण्टों व्यतीत कर सकेंगे और आप को समय व्यतीत होने का भी पता नहीं चलेगा। ऐसी अवस्था में यदि किसी की मृत्यु भी हो गई, तो वह ब्रह्म लोक को जायेगा, इसी को शास्त्रों में ब्रह्म लोक कहा है। जब आप मन को राग रहित करते है। दूसरे के द्वारा दिया गया छोटा मोटा दुःख भी सहन करते है, आप किसी दूसरे को दुःख भी नहीं देते है, और सब अच्छे कर्म करते है, तो समझो! आप इन्द्रियों के लोक में रहेगें। इस लोक में देवताओं की तरह स्थूल शरीर तो नहीं होगा परन्तु आँख, कान, नाक आदि सब इन्द्रियों वाला सूक्ष्म शरीर तो मृत्यु के बाद भी बना रहेगा। ऐसी अवस्था में, आप सब संसार को देख रहे होंगे। यही स्वर्ग लोक है। ध्यान लोक, जिसमें आत्मा बना रहेगा, वहाँ भी ये ध्यान करते रहेंगे। सब लोग इसके ध्यान में होंगे और उसके बीच में उसकी मस्ती व आनन्द होगा। इस रीति से ध्यान को जगाकर शुद्ध मति बनानी पड़ेगी सब जीवों के प्रति मिथ्या संकल्प (इरादे) छोड़कर शुद्ध संकल्प बनाने होंगे। प्रकृति के काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या मत्सर आदि विकारों को छोड़कर मैत्री, करुणा मुदिता, उपेक्षा, शील, संतोष, क्षमा, दान आदि भगवान् के निर्मल गुणों के भावों को उपजाता जाये। यही अकेले में चेतन होना कहा जाता है। चेतन सब बन्धनों से रहित (मुक्त) होता है। यदि मनुष्य चेतन नहीं हुआ तो उसको मुक्ति नहीं मिल सकती। जड़ की कभी मुक्ति नहीं होती है। चेतन नाम अपने आप को अन्दर चेताने का है। जैसे राख में दबी हुई अग्नि को घास–फूस डालकर परिश्रम (मेहनत) से फूँक मार–मार कर चेताया जाता है और

ऐसा करने पर अग्नि जलने लग जाती है। इसी प्रकार प्रकृति का जड़ (मुर्दा) बनाया हुआ मन, जो विकारों की भस्म (राख) में दबा हुआ है, को चेताना पड़ेगा। ज्ञान तो अन्दर है अर्थात् ज्ञान की आग कहीं बाहर नहीं गई है। वैदिक ऋषि लोग पुरानी रीति से अग्नि को चेतन करके बेदी में बसाते थे और उसमें हवन करते थे। घी की आहुति देते थे, जो कि प्रीति (प्रेम) का प्रतीक (निशानी) थी। इस प्रकार सब दोषों को अपने शरीर रूपी वेदी के अन्दर ही हवन (नष्ट) करना है, परन्तु ऐसा करते समय प्रीति रूपी घी की आहुति देनी आवश्यक है। अर्थात् चिढ़ते हुए नहीं, परन्तु प्रेम के साथ समझ–समझ कर अपने दोषों व विकारों को निकालना है। यदि किसी ने अपने मन के अन्दर इस प्रकार करना जान लिया तो समझो ! यह उत्तम यज्ञ और हवन है। इस यज्ञ द्वारा सब बंधनों से मुक्ति मिलती है। इस प्रकार अन्दर ही ज्ञान रूपी अग्नि को अपने मन रूपी हवन कुण्ड में प्रेम से चेताना है। जैसे गीता में कहा है कि "ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्ः कुरूते ऽर्जुन" इसका तात्पर्य (मतलब) है कि हे अर्जुन ! यदि ज्ञान की अग्नि चेतन करोगे, तो वह अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देगी, जो कर्म प्रकृति ने अन्धा (विवेक शून्य) बना कर के अभी तक करवाये हैं। मन के अन्दर मिथ्या (खोंटी) दृष्टि दुःख के कारण से बनती है। मिथ्या दृष्टि तथा मिथ्या संकल्प आदि स्थानों पर जो मिथ्या शब्द का प्रयोग है, वह कल्याण के मार्ग को रोकने वाली दृष्टि व भावों को सूचित करवाता है। दुःख से अधिक भय करना ठीक नहीं है। अपने मिथ्या स्वभाव (आदतों) के टालने व किसी के दुर्वचन सहन करने के दुःख से घबराना नहीं है, परन्तु मन को समझाते हुए सहन करना है। अपने मन से सब अच्छे कर्म करना व इसके मिथ्या भाव हटाने का दुःख सहन करते जाना है। अपनी इन्द्रियों के शमन (शान्त) करने का दुःख सहन करते हुए मन को रोकना है। ऐसा करते हुए तंगी (क्लेश) नहीं माननी है। जैसे भगवान् शंकर

ने संसार का विष (ज़हर) पीकर पचा लिया था, वैसे ही मन की तपन को अन्दर ही अन्दर सहन करके पी जाना है। यही सच्ची शंकर भगवान् की भक्ति है।

२२. यदि थोड़ा भी कहीं संसार में मन उलझा हुआं है अर्थात् मन के अन्दर गाँठ पड़ी हुई है, तो वही उलझन मन को बाहर ले जाती है। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि एक समय के मिथ्या बर्ताव (व्यवहार) को लेकर ही मन ने उसके बारे में उसी प्रकार की वैरी आदि की मिथ्या दृष्टि बना दी, जो कि सत्य नहीं है। सत्य तो सबके अन्दर एक परमात्मा ही है। किसी व्यक्ति की वैरी या दुष्ट इत्यादि की मति बनाना, ये कल्याण के रास्ते में उपयोगी नहीं है। क्योंकि ऐसी दृष्टियों से बैर तथा क्रोध इत्यादि ही उत्पन्न होंगे, इससे सारा कल्याण का मार्ग बन्द होगा। इसलिये ऐसी सब दृष्टियाँ मिथ्या दृष्टियाँ कही गयी हैं। क्रोध, मान व अहंकार आदि प्रकृति के मिथ्या भाव ही इस संसार में बाँधने वाले हैं। भगवान् के गुण नम्रता, थोड़ा दुःख सहन करना, थोड़ी तपस्या करना सुख के त्यागी बन जाना, दूसरों के सुख में सुखी होना, दूसरों के दुःख में दयावान होना आदि सब उत्तम भाव हैं। संसार के भाव, जिनका यह सब बाहरी संसार चित्रण है, आपके सामने बाहर है। इसी प्रकार मन के अन्दर के उत्तम भाव हैं। दुःख को सहन करने से ही भगवान् में भक्ति उत्पन्न (पैदा) होती है। ज्ञान के बिना व साधना के दुःख को सहन किये बिना भक्ति पैदा नहीं होती है। भगवान् सबसे निराला व अत्यन्त मुक्त होकर अपने आनन्द धाम में रहता है, सारा संसार उसमें आराम से बस रहा है। यही तीर्थ यात्रा है अर्थात् भगवान् को पाने के लिये तैरना रूप यात्रा है। संसार से तैर कर पार पहुँचने के लिये जो यात्रा है, वही तीर्थ यात्रा है। तीर्थ नाम तैरने का है। तैरना रूप यात्रा का नाम ही तीर्थ यात्रा है। मोक्ष का तात्पर्य (मतलब) बन्धनों से छुटकारा और उससे होने वाली जन्म मरण आदि दुःखों से मुक्ति है।

जब मन संसार में बाँधने वाले बन्धनों से छूट जाता है तो समझो ! उसका मोक्ष हो गया । अर्थात् मुक्ति हो गई, बाहर का संसार छूट गया, तो अन्दर प्राण शक्ति एकत्रित (इकट्‌ठी) हो गई । जैसे नींद सब विषयों को ठोकर मारने से सुख देती है, ऐसे ही जागते–जागते उसको सुख मिलने लग गया, तो वह अपने आप समझेगा, कि जो करना था सो कर लिया, जो पाना था वह पा लिया । अब कुछ पाने का नहीं है । यह जीवन तो अनन्त है व आनन्द भी अनन्त है, क्योंकि यह आनन्द किसी बाहर की शर्त व कारण से नहीं मिला है तथा अन्दर अपने आप (आत्मा में) स्वभाव से ही होने वाला है । ज्ञान रूप आत्मा तो कभी मरता नहीं और इसका अंत नहीं, इसलिये अनन्त है । इसलिये यदि इसमें (अपने आप में) ही बाहर के कारण के बिना केवल बन्धनों से छुटकारा होने से सुख प्रकट हो गया, तो यह सुख भी अनन्त ही होगा । वह सारे संसार में एक ही बसा बैठा है, तो बताओ ! यह उसका आनन्द (सुख) कैसे मरेगा? तो ऐसे मनुष्य को कहते है, कि "अजर, अमर व मुक्त हो गया" । यह सब अपने आप करने का है ।

२३. इस प्रकार यदि अपने अन्दर एक–एक बन्धन पहचान लिया तो समझो ! ज्ञान दृष्टि (नज़र) खुल गई । शंकर भगवान् का तीसरा नेत्र जाग गया । और अपने में दुःख का ज़हर पीना आरम्भ कर दिया । उसकी यदि यह भक्ति चलती रहेगी, तो अंत में जाकर के यह आत्मा ऐसे स्थान पर पहुँच जायेगी, जहाँ पर वह भगवान् पहले से ही बैठा हुआ है । अन्त में यह ऐसा फल है कि जिसको पा करके मनुष्य को यह कभी भी अनुभव नहीं होता कि "मुझे किसी वस्तु की कमी है, कोई घाटा रह गया, मृत्यु भी नहीं दीखती तो यह चेतन रूप आत्मा कैसे मरेगा, जो कि सारे संसार की आत्मा है" । सारे शरीरों को चेता रहा है, पेड़ों के अन्दर रस चला रहा है । जीवों के अन्दर रक्त संचार व भोजन पचाना आदि

सब कार्य कर रहा है पेड़ों के अन्दर यह ज्ञान शक्ति सोई हुई अवस्था में है, परन्तु वह शक्ति कभी मरने वाली नहीं है। इसका ज्ञान कभी समाप्त होने वाला नहीं है। इसके ज्ञान तक यदि आप पहुँच जायेंगे, तो इसका सच्चा सुख आप पा जायेंगे। आपको अन्दर ही प्रतीत हो जायेगा कि "बस ! जो पाना था सो पा लिया।"। अब यह सुख हमारे से छिन जाने वाला नहीं है। यह सब करना तो अपने आप में है, दूसरा कौन आपके लिए करेगा? बस ! यही सारे का निचोड़ है।



प्रवचन

२४–१२–१६८६

जैसे कि कई बार बताया गया है कि जिधर मन जाता है अर्थात् जिस तरफ मन की गति होती है, उधर ही प्राण शक्ति का प्रवाह होता है। यदि आप चुपचाप बैठे हुए अपने आप में कुछ बाहर संसार की सोच रहे हैं, तो ऐसी सोच करने की अवस्था में आपका प्राण भी अपने ही प्रकार से कुछ घुटा छुटां सा चलता है। परन्तु जब आप बेफिकरी (चिन्ता रहित) कीं अवस्था में बैठे है, तो उस समय आप का प्राण भी बड़े आराम से चलता है, कारण कि मन बाहर की उलझन से रहित होकर किसी प्रकार की भी सोच फिकर न करता हुआ अपने आप में अन्दर रहता है। जिस–जिस प्रकार से मनुष्य के अन्दर भय (डर) शोक, राग, द्वेष आदि का कोई ज्ञान होता है, उसी ज्ञान के ढँग से उसके अन्दर उसकी प्राण शक्ति अर्थात् देह का काम चलाने वाली क्रिया शक्ति बहती है। यदि आपका ज्ञान (समझ) बाहर के प्राणी व पदार्थों में भटका हुआ है, तो समझो उसके साथ आपका श्वाँस भी बाहर ही भटका हुआ है। जब प्राण बाहर के ज्ञान के साथ भटका हुआ है, तो उसकी शक्ति भी बाहर ही भटकी हुई रहेगी वह अपने अन्दर एकत्रित (इकट्ठी) नहीं हो पायेगी। यदि मन (ज्ञान) बाहर संसार से बिना किसी निमित्त (शर्त) के मुक्ति (छुट्टी) पा जावे, तो उसका बाहर से मुक्त (छुटा हुआ) प्राण भी देह के अन्दर एकत्रित होगा और उस प्राण शक्ति का अपने अन्दर ही इकट्ठा होने का सुख होगा, जैसा कि निद्रा (नींद) में होता है।

२. परन्तु बच्चे को तो बचपन से ही बाहर प्राणी व पदार्थों (वस्तुओं) के सहारे से ही सुख लेने की आदत पड़ी हुई है,और इन तुच्छ (सारहीन व छोटे) सुखों के माप व अन्तिम परिणाम

(नतीजों) के बारे में उसको कुछ भी ज्ञान नहीं है। यदि यह ज्ञान कोई मनुष्य अपने अंदर जगा ले कि "ये बाहर के (प्राणी व पदार्थों से मिलने वाले) सुख थोड़ी देर रहने वाले हैं और अन्त में ये सुख दुःखों में ही समाप्त होते है," तो इस प्रकार का अन्दर ज्ञान होने का नाम ही विवेक या सत्य का ज्ञान है। यदि इस ज्ञान से उसकी बाहर से मुक्ति हो जाये अर्थात् मन संसार में कहीं भी बँधा न रहे, तो उसकी प्राण शक्ति भी अपने आप अन्दर सुख भी प्रकट करेगी। परन्तु मनुष्य बाहर संसार में ही उलझा–उलझा कर्म करता हुआ सुख प्राप्त करने का यत्न करता रहता है।

३. मनुष्य बाहर संसार में जो कुछ भी कर्म जैसे मनुष्यों के साथ रिश्ते–नाते जोड़ना व कई प्रकार के पदार्थों (वस्तुओं) के साथ भी उनको प्राप्त करने के लिये सम्बन्ध जोड़ना आदि आदि करता है व अभी तक किये हैं, वे सब कर्म वही पर करने के साथ समाप्त नहीं हो जाते हैं अर्थात् प्रत्येक किया गया कर्म अपनी एक छाप (संस्कार) अन्दर छोड़ जाताहै। अब उन सब किये गये कर्मो ने आपके अन्दर एक ऐसी शक्ति खड़ी कर दी है, जिसको प्रकृति (आदतों की शक्ति) अर्थात् संसार में ही बाँधने वाला एक रस्सा भी कहते है। इस प्रकृति शक्ति के कारण बाहर का भटकना मनुष्य को अन्दर आत्मा का सुख पाने के लिये खोखला कर देता है। अर्थात् असमर्थ बना देता है और उसको अपना आपा (आत्मा) कुछ खोया–खोया सा अनुभव में आता है। वह समझता है कि आनन्द नाम की कोई भी वस्तु उसके लिये इस संसार में नहीं है। इस अवस्था में उस बाहर (संसार में) ज्यादा भटके हुऐ मनुष्य में कोई सुख (आनन्द) का अनुभव नहीं होता है, यही उसके अन्दर दुःख है। इस दुःख से बचने के लिए वह फिर संसार के प्राणी व पदार्थों से ही सम्बन्ध जोड़ता है, ताकि दुःख के स्थान पर वही पुरानी आदतों का कुछ सुख तो मिले।

४. जिन संसार के प्राणी व पदार्थों के सम्बन्ध से थोड़ा सुख मिला है, मन केवल उन्हीं की स्मृतियाँ (यादें) अपने अन्दर लिये बैठा है। और वह थोड़ा सा कभी मिला हुआ सुख उसके मन से अब उतरता ही नहीं है अर्थात् मन के अन्दर वह पुनः सुख लेने की लपक चिपकी हुई है, जो कि बाह्य संसार में उसको बाँधे हुए है। इस सुख के साथ चिपकाव का नाम ही राग–बन्धन है। यदि मन से इस राग के सुख को आप छोड़ दे, तो उधर संसार का चिन्तन ही समाप्त हो जाये और मन पीछे अपने आप में लौटना शुरू कर देगा परन्तु आलस्य सुस्ती के कारण अविद्या (अज्ञान) में पड़ने के बाद, प्रकृत्ति तो उन्हीं पुराने सुखों के संस्कार ही जगाएगी, जो अपने अन्दर लिये बैठी है और बाहर संसार के प्राणी व पदार्थों की सोच (चिन्तन) करने के लिये प्रेरित करेगी। अविद्या का तात्पर्य (मतलब) ही यही है कि जहाँ मनुष्य का ज्ञान शून्य हो करके बैठ गया अर्थात् अविद्या की अवस्था में मन खाली होता है और किसी प्रकार का उसके अन्दर ज्ञान स्फुरित (प्रकट)नहीं होता है। अन्दर ज्ञान न जागने का तात्पर्य (मतलब) है कि अविद्या का पर्दा पड़ जाना, जिससे ज्ञान स्वरूप चेतन आत्मा ढका रहता है। ज्ञान बिना मनुष्य रह नहीं सकता। ज्ञान ही मनुष्य की आत्मा है। इस अविद्या की अवस्था में प्रकृति (आदतों की शक्ति या स्वभाव) ने तो ज्ञान अपने ही ढँग से बाहर संसार के ही विषय व वस्तुओं के जगाने है, कारण कि उन्हीं द्वारा दिये सुखों के संस्कार ही अन्दर मन में पड़े हुए है। यदि इस अविद्या की अवस्था में बैठकर आपने राग चित्त, जो मन में पिछले सुखों की ही पुनः पुनः (बार–बार) प्राप्त करने की इच्छा कर रहा है, के बारे में चिन्तन करना आरम्भ (शुरू) कर दिया, तो उस प्रकार के चिन्तन का नाम मिथ्या (खोंटा) ध्यान है। जो मिथ्या ध्यान आपको पहले वाले सुख, जो कभी प्राप्त हुए थे, के बारे में

सोचने के लिए बाध्य (मजबूर) कर रहा है, इसका नाम ही राग–चित्त है ।

५. जो कभी सुख प्राप्त हुआ था, मन की दृष्टि (नजर) उसी सुख पर टिकी हुई है, इसी का नाम दृष्टि–बन्धन है, अर्थात् सुख की एक दृष्टि (नजर) बन गई है । दृष्टि बनते ही उसकी स्मृति (याद) मन में आती है ओर वह याद उधर (सुख की तरफ) ही बहती रहती है, यही मन का भटकना है । यह भी एक प्रकार का चिन्तन (चित्त की सोच) ही है, परन्तु इसको ध्यान का नाम नहीं दिया जा सकता । कारण कि यह भौतिक जीवन से सम्बन्धित मिथ्या (खोटा) ध्यान है । इस मिथ्या (खोटे) ध्यान को छोड़कर उत्तम (अच्छा) ध्यान करना है । उत्तम (अच्छा) ध्यान यह है कि "क्या रखा है, इन सुखों में, जो कि दुखों में ही समाप्त होते है और सदा स्थाई (टिके) भी नहीं रहते है ।" मिथ्या (खोटा) ध्यान प्रकृति देती है । प्रकृति वह शक्ति है, जो एक कार्य की बार–बार करने से बल पकड़ गई है । वह प्रकृति मनुष्य का अब स्वभाव रूप बन गई है और इस मिथ्या (खोटे) ध्यान को बिना किसी विशेष प्रयोजन (मतलब) के तथा बिना विशेष यत्न के अपने आप करती जा रही है ।

६. यदि आप मन से शब्द बोल–बोल कर व संसारी सुखों की तुच्छता (सारहीनता) का विचार करते हुए, प्रकृति शक्ति की धार के विरूद्ध (विपरीत) कल्याण का चिन्तन नहीं करेंगे, तो जड़ मन (प्रकृति के रास्ते से बहने वाला मन) को अन्दर प्रकृति का सुख बन्धन में बाँधे ही रखेगा । यदि इस जड़ मन को आपने चेतन कर लिया, जैसे राख में दबी हुई अग्नि को घास फूस डालकर फूँक मार–मार कर चेताया जाता है, तो अन्दर जो ज्ञान है, वह प्रकट हो जायेगा, अर्थात् ज्योति, जो इस प्रकृति ने दबा रखी है प्रकट हो जाती है । प्रकृति द्वारा जीने का रास्ता तो बाहर प्राणियों व पदार्थों से होने वाले सुख और उनसे होने वाले दुःख पर चलता है । दुःख

हटाने के लिये भी बाहर द्वेष व मिथ्या (खोंटे) कर्म करना, दूसरों के साथ द्वेष करके उनसे बदला लेने और मान प्राप्त करने के लिये यत्न करना आदि में इस प्रकार बाहर ही बाहर प्राणी उलझा रहता है। चिन्तन (विचार) द्वारा इस प्रकृति के मार्ग के दोषों की बहुत गहराई में उतर कर पहचानने की आवश्यकता है।

७. यदि प्रकृति (आदतों की शक्ति) के मार्ग से मन को आप हटायेगे, तो निद्रा (नींद) लेने की मिठास का लोभ (लालच) करते हुए उसमें आप उलझ गये, तो समझो फिर नींद की तरफ ही आप चले गये। ऐसी अवस्था में आपका ध्यान तो उड़ गया। यदि आप थोड़ा जागकर निद्रा से लड़ने लगेंगे, तो उसने (मन ने) वही पुराने संस्कार जगाने है, कारण कि उसका मार्ग तो वही है। अब आपका मार्ग यही होना चाहिए कि जिधर-जिधर यह मन जाता है, उधर-उधर से, कल्याण वाला चिन्तन ध्यान में जगाकर के मन का निरोध (रोकना) करना है, और सत्य ज्ञान प्रकट करके दिखा देना है कि उन सुखों की स्मृति (संस्कारों) में कुछ भी नहीं रखा है, केवल दुख ही अंत में प्राप्त होने हैं। इन सब से मुक्ति (छुटकारा) पानी है, और उसके लिए अल्प (थोड़ा) दुःख भी सहन करना है। बस इस प्रकार यदि आप ने साधन के अल्प दुःख को स्वीकार कर लिया, तो समझो ! कि आप इस धर्म के मार्ग पर दीक्षित हो गये। तो धर्म के मार्ग पर चलने के लिये अल्प (थोड़ा) दुःख स्वीकार करने का नाम तपस्या है। यह दुःख भी कोई ऐसा नहीं है कि सदा धूप में खड़े रहना, भोजन का अत्यन्त त्याग (भूखा मरना), अधिक सर्दी सहना या अनावश्यक सिर पर भार लादना आदि। आपने केवल अल्प (थोड़ा) सा वह दुःख जो प्रकृति (बनी हुई आदत की शक्ति) का विरोध करने से होता है और उसे बिना किसी प्रकार की चिढ़ क्रोध करते हुए व मन बुद्धि को बनाये रखते हुए सहन कर लेना है।

८. सबसे पहले, दृष्टि (नजर) किसी भी वस्तु की 'है', करके बनती है। अर्थात् किसी भी वस्तु को कोई भी सत्ता देने से ही उसकी दृष्टि (नजर) बनती है। इसके बाद इच्छा उत्पन्न होती है, यदि सुख देने वाली वस्तु है, तो उसमें राग (प्रीति) की दृष्टि बनती है। और यदि दुःख देने वाली वस्तु है, तो द्वेष उत्पन्न होता है। इसमें द्वेष की दृष्टि (नजर) बनती है। फिर क्रोध आता है। और कहीं मान है, तो उसी के लिए मन बाहर ही बाहर खोये रहने का सब मार्ग (रास्ता) है। इस बाहर (संसार) में बहते मन को यदि आप रोकने का यत्न करेंगे, तो मन पहले, जैसा कि ऊपर कहा है, निद्रा (नींद) लाना चाहेगा। तो बहुत देर तक, जिसमें घंटों भी व्यतीत हो सकते है, नींद से लड़ना पड़ेगा। और इसके लिये आसन व ध्यान का अभ्यास भी बढाना पड़ेगा।

६. जब आपकी निद्रा (नींद) भंग हो गई तो सब इन्द्रियाँ बाहर जागना चाहेंगी। तब जैसे दिन के प्रकाश में संसार स्पष्ट भासता है, इसी प्रकार रात्रि में भी संसार का ज्ञान होगा। इससे समझो उसका स्वर्ग लोक तो खुल गया है। कारण कि अंधकार में प्रकृति के चंगुल से अल्प (थोड़ा) छूट कर के उसकी इन्द्रियाँ तो जाग गई है, परन्तु जो बाहर इन्द्रियों के सुख लेने में ही चिपका हुआ है उसका अभी मन नहीं जागा। इसके लिए फिर शब्द, स्पर्श, रूप रस, गंध आदि सुखों की तुच्छता का भी चिन्तन करते–करते पहचाने, कि ये बाहर इन्द्रियों के सुख भी सदा मिलने वाले नहीं है। यदि ध्यान द्वारा आपने ये सत्य पहचान लिये, तो इन्द्रियों के विषयों से भी आपका मन मुड़ जायेगा अर्थात् निवृत्त हो जायेगा। मन निवृत्त होने का तात्पर्य (मतलब) है कि वह उलझा हुआ ज्ञान (जो नींद के उचटने पर मीठे शब्द स्पर्श, सुगन्ध आदि प्राप्त करने में लगा हुआ था) आपकी तरफ अन्दर आना आरम्भ (शुरू) हो गया इसका तात्पर्य यह है कि मन भी जाग गया। ज्ञान के मुक्त होने से समझो, आपका श्वाँस भी मुक्त हो

गया है व शरीर (देह) में इकट्ठा होना आरम्भ हो गया है। नींद में भी यही होता है कि मन बाहर के संसार को ठोकर मार देता है। तब सारे संसार को भूल कर अपने अन्दर प्राण शक्ति को एकत्रित (इकट्ठा) करता है, तो उसको सुख मिलता है। निद्रा (नींद) जो प्रकृति (आदतों की शक्ति) दे रही थी, वह नहीं लेने से, जागते जागते उससे मन मुड़ गया और उसके पीछे-पीछे प्राण शक्ति के भी मुड़ने से ही इस शरीर में सुख होने लगता है। यही मुक्ति का सुख कहा गया है। वैसे यह ठीक है कि कोई जप प्राणायाम करने से भी संसार की ओर से मन को मोड़ लेता है, परन्तु ऐसा जप या प्राणायाम करने से होने वाला सुख सदा बना रहने वाला नहीं है।

१०. जिस मन में शंकाएँ, राग, द्वेष व मान आदि का बन्धन रहेगा, वह कितना ही जप करता रहे, उसका मन उधर ही जायेगा। अत्यन्त निर्निमित्त (बिना किसी कारण या शर्त के) यदि किसी ने अपने मन को निवृत्त करना है अर्थात् मोड़ना है, तो सत्य का ज्ञान अपने अन्दर मन से बोल-बोलकर उत्पन्न करे कि "वहाँ क्या रखा है, जहाँ पर, हे मन ! तू जाना या कुछ प्राप्त करना चाहता है, या जो कुछ प्राप्त करना समझ रखा है, वह सदा बना रहने वाला नहीं है और जो कुछ भी उसका थोड़ी देर रहने वाला सुख है, वह सुख अन्त में भयंकर बड़े भारी दुःख में समाप्त होने वाला है, अर्थात् उस सुख का अन्तिम फल बहुत दुःखमय है।" जब यह सत्य का ज्ञान अन्दर बहुत गहराई में जाकर के आपने अनुभव (महसूस) कर लिया तो मिथ्या (खोंटी) दृष्टि व मति के स्थान पर आपकी उत्तम दृष्टि व सुमति बन जायेगी, जिसे उत्तम ज्ञान या प्रज्ञा भी कहते है। इस उत्तम ज्ञान ने ही आपका मिथ्या दृष्टि का बन्धन काट दिया है। मिथ्या मति यही थी कि उन पुरानी आदतों को मनुष्य पूरा करने में सुख की दृष्टि (नजर) करता था। सत्य ज्ञान इन सब मिथ्या मतियों को समाप्त

कर देगा। अब जागते–जागते जो इस प्रकृति से मन की निवृत्ति हुई है, वह चेतन मन होने के कारण से हुई है, न कि निद्रा (नींद) वाले मन से हुई है। क्योंकि नींद के लोभ अर्थात् मिठास से भी थोड़ी देर के लिये नींद भी इस प्रकृति के मार्ग से मुख तो अवश्य मुड़वा देती है व उससे थोड़ी शक्ति व ताजगी भी प्राप्त होती है, परन्तु अधिक सुख या उत्तम फल की देने वाली नहीं है। अर्थात् संसार के विषयों के रस का लोभी मन जब उनमें लगा–लगा थकावट व परेशानी द्वारा दुःखी सा होता है, तब निद्रा की ओर लपकता है। नींद से वह अपनी खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त कर लेता है। इसी कारण से निद्रा भी थोड़ी सुख रूप प्रतीत होती है। परन्तु जो परमानन्द का सुख है, वह तो परम महान् है। उसकी निद्रा के साथ कोई तुलना नहीं है।

११. जितना बड़ा संसार का काम (इच्छा) का जाल है, वह सब मनुष्य के साथ जन्म से उसके पीछे लग जाता है। बस ज्यूँ–ज्यूँ उसका (इच्छा का) ज्ञान होता जाता है, तो समझ में आता है कि वह सब काम (इच्छा) बाँधने वाला है। यही ध्यान व समाधि का विघ्न व मुक्ति के मार्ग की अड़चन है। अब इस इच्छा के जाल को और अपने अन्दर नींद के मोह को भी जीतकर ध्यान में पहचानना पड़ता है कि वास्तविकता (असलियत) या सत्य क्या है और विचार द्वारा इन बाहरी (सांसारिक) सुखों से छुटकारा पाना ही धर्म का मार्ग है। यदि इस रीति से सचेत (ज्ञान युक्त) व सक्रिय (क्रिया युक्त) होकर आपने ध्यान करना सीख लिया है, तो समझो, आपको धर्म का उचित मार्ग मिल गया है। यदि अभी यह नहीं बन पाया, तो समझो वह प्रकृति का मार्ग मिला हुआ है। वह प्रकृति मुर्दा तो बैठने नहीं देती है, अर्थात् अपने मार्ग के पुराने सुखों व दुःखों के ही संस्कार जगायेगी और उधर ही खींचातानी करेगी व प्राण शक्ति को भी बाहर ही भटकायेगी।

बस यह प्रकृति का मार्ग अंत में 'हाय' 'हाय' करके मरने का है।

१२. जिस वस्तु से कभी थोड़ा सुख मिला है, वहाँ मनुष्य की "मैं" जन्म जाती है। जैसे किसी ने आपको मान दे दिया, तो आपको अन्दर ही अन्दर प्रतीत (मालूम) होगा कि "मैं भी इस संसार में कुछ हूँ"। अब जो कुछ भी उस मान देने वाले के सामने आप हो गये अर्थात् बन गये, अब यह आपकी 'मैं' है। यह 'मैं' दीखती तो नहीं है परन्तु छुपी हुई यह अन्दर बैठी है। अब यह मान पाने वाला मनुष्य ही आशा रखता है कि यह मीठी 'मैं' मुझे सदा मिलती रहे, ओर कभी समाप्त ही नहीं हो। परन्तु ऐसा सदैव होना कभी भी इस व्यापक जीवन में सम्भव नहीं हो सकता। इस झूठी मिली हुई संसार की 'मैं' का परिचय (जानकारी) तो तब मिलेगा जब उसी आदर मान करने वाले मनुष्य से अपमान मिलेगा और उस अपमान से जो दुःख मिला है उस दुःख की अवस्था में ध्यान करे कि "कैसे पहले मीठी रूप से मिली यह 'मैं' अपमान मिलने की अवस्था में रोती है ?" वह जो 'मैं' आदर मान पाने से कभी बनी थी, वह तो किसी समय की थी कोई मीठी लगने वाली 'मैं' पिता ने बच्चे को दे दी, कोई मीठी लगने वाली 'मैं' इष्ट मित्र व प्यारों से मिल गई, कोई 'मैं' खाने, पीने, धन व मान आदि से मिल गई, इस प्रकार जो जो 'मैं' मिली है, वह केवल उसी समय की थी। वह मिली हुई 'मैं' सदा बनी रहने वाली नहीं है। ये सब सत्य का वृत्तान्त ध्यान करने वाला व्यक्ति अपनी बुद्धि द्वारा पहचाने जैसे–जैसे आपके अन्दर इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता जायेगा, और उस(संसार की) मिली हुई 'मैं' की तुच्छता प्रतीत हो जायेगी। तैसे–तैसे आपकी समझ या बुद्धि संसार में अपना स्वार्थ त्यागना आरम्भ कर देगी। जैसे बहुत बड़े तालाब या समुद्र में तरंग एक बार उठती है, वह तरंग एक क्षण भर ही दिखाई देती है और फिर उसी समय वह मिट जाती है। इस प्रकार

वह तरंग सदा बनी नहीं रहती और समुद्र में उठने वालीं तरंग उसी एक क्षण के लिए होती है इसी प्रकार "मैं" की तरंगे भी समय–समय पर जो उठती है वो अपने क्षणों का दृश्य दिखा कर अपने समय पर आप मिटती जाती है। उनको कोई बनाये नहीं रख सकता, उनका मोह मिथ्या है। इसी प्रकार मेरे अन्दर भी महान् एक ज्ञान का सागर है, जिसमें आदर मान से मिलने वाली 'मैं' भी कोई किसी समय की एक तरंग ही थी वह भी कुछ क्षणों के लिये थी। दस वर्ष पहले की सुख रूपी 'मैं' की स्मृति (याद) करके उसी 'मैं' को आज मैं लेना चाहता हूँ, जो कभी मिल ही नहीं सकती है। इस 'मैं' की तुच्छता का अन्दर ही अन्दर इतना चिन्तन करना है ओर समझ के साथ इतनी इसकी गम्भीरता (गहराई) में चले जाना है, कि अपने ज्ञान रूप आत्मा (समझ) के बीच में ही सारा संसार बुझ जाये। संसार में ही स्वार्थ रखने के कारण वह समझ संसार में ही रहना चाहती है, संसार से बुझना नहीं चाहती है जो समझ संसार के पदार्थों में उलझी रहती है अथवा 'मैं' पाने के लिये और छोटे- मोटे कार्य करने के लिये बाहर ही उलझी रहती है यदि वह समझ संसार से बुझना नहीं चाहती बाहर ही उलझी हुई समझ है, तो उसके साथ उलझा हुआ प्राण भी बाहर ही होगा उसी उलझी हुई प्राण शक्ति के अनुसार मन भी खोया–खोया रहेगा। इस खोये–खोये मन में सुख व शान्ति नहीं होगी। सारा संसार में उलझा हुआ ज्ञान बाहर से टल कर अन्दर आ जावे तब प्राण शक्ति भी अन्दर आकर शरीर में एकत्रित (इकट्ठी) होगी और इसी शरीर में सुन्दर सुख का स्पर्श भी होगा। जैसे निद्रा आने के समय मनुष्य कैसे मीठे–मीठे सुख का अनुभव करता है। कारण कि जब मन बाहर संसार में थक गया, तो कहता है कि अब बाहर तो कुछ करने का समय नहीं रहा, क्योंकि ऐसा रात्रि का समय आ गया है, जब करने कराने का कुछ नहीं बन पाता। चाहे पशु पक्षी या

मनुष्य कोई भी हो, मन अन्दर लौटने के बाद, शरीर में एकत्रित (इकट्ठा) होने पर ही उनके अन्दर सुख स्पर्श देना आरम्भ (शुरू) करता है।

१३. जो मन अपने अन्दर से ही, बाहर की भटकन का परिणाम (नतीजा) दुःख रूप तथा प्राणी पदार्थों के संग से बनी अपनी 'मैं' का झूठापन पहचानेगा वही इस अपनी " मैं" को संसार से बुझा पायेगा। जो अपनी पुरानी किसी भी 'मैं' को चेतन या ज्ञानरूप सागर की एक तरंग रूप समझेगा तो उसको ध्यान का सही फल मिल जायेगा। जब कुछ भी नहीं, तो समझो ! बस भगवान् ही नई–नई झाँकी दिखा रहा है। ज्ञानदेव ही अपनी माया दिखला रहा है। एक दूसरे के सामने पड़ने पर किसी शरीर में कोई तरंग दिखला देता है, किसी में और कोई अलग तरह की तरंग प्रकट करता है। कहीं खुशी, विषाद, हर्ष, शोक, कहीं ऊँचा बोल, कहीं नीचा बोल आदि आदि वह ज्ञानदेव ही प्रकट करता है। और उसी ज्ञानदेव की सब तरंगें हैं बस यही सब जो खेल है, उसी एक ज्ञानदेव की लीला है। शरीर के अन्दर सदा जागने वाले ज्ञान में कोई भी अन्तर(भेद) नहीं कर सकता है। अर्थात् सब शरीरों में चेतन एक ही समान है। भेद तो केवल सापेक्ष (अपेक्षा वाले) संसार में है, जो एक दूसरे के सम्बन्ध से एक दूसरे के सामने खड़ा होता है। अर्थात् एक दूसरे में प्रकट होता है। परन्तु, वह जो अन्दर बैठी हुई शक्ति है, वह एक सामान्य व्यापक बिजली जैसी, अपनी तरंगों के साथ सब देहों को समान जीवित रख रही है, जो कभी भी मरती नहीं है। अब यदि हम इस बाहर की 'मैं' को भूल जावे तथा इसके प्रकट होने वाले सब मार्ग बन्द कर दें, तब जाकर के मन का इस शक्ति के साथ योग (मेल) होगा। ऐसी बात नहीं है कि यह चेतन शक्ति अन्दर होते हुए अपना परिचय (जानकारी) न दे अर्थात् अवश्य देगी। वह चेतन शक्ति अपना परिचय तब देती है, जब दूसरे सब स्थानों का परिचय ही समाप्त हो

जाये। मन तो एक ही है, यदि वह बाहर ही कुछ समझ रहा है, तो उसको अन्दर शक्ति की समझ नहीं हो पायेगी। जब तक हम मित्र व वैरी के भाव लिये बैठे हैं अथवा उन्हीं की सोचों में पड़े हुए है, तो उस चेतन शक्ति को कहाँ अवसर (मौका) है कि वह अपना प्रकाश करे अर्थात् अपने आपको प्रकट करे भगवान् तो व्यक्त (प्रकट) होकर ही सारे बन्धन काटेगा। जब प्रकट होगा तब ही उसके सुख का पता लगेगा।

१४. अब यदि आपने इस व्यक्त भगवान् की भक्ति करनी है, तो पहले यह समझना है, कि सब स्थानों पर जो क्षण–क्षण ज्ञान रूप से प्रकट हो रहा है, अर्थात् दिखाई दे रहा है, जैसे किसी में कुछ दिखाई पड़ गया किसी में कुछ बस वही व्यक्त भगवान् ही दिखाई दे रहा है। जो जहाँ जैसा दिखाई पड़ा है, वह केवल उसी क्षण (समय) का था, और आगे पीछे नहीं रहता है। जो एक बार दिखाई दे गया, उसको अपने मन के अन्दर सदा के लिये बसा कर रख लेना ही मिथ्या (झूठा) ज्ञान है। इस सत्य को वही परखेगा जो ध्यान करेगा। ध्यान में पता चलता है, कि शरीर मन, ज्ञान, भाव विचार एक ही जैसे नहीं रहते हैं, और क्षण–क्षण बदलते जा रहे हैं। परन्तु हम कभी ऋषियों द्वारा अपने ध्यान में देखते हुए तथा शास्त्रों में साधारण जिक्र से सुने हुए व्यक्त ज्ञान रूपी भगवान् की एक छाप ही अन्दर बैठा लेते हैं, और माया की दलदल में फँस जाते हैं। इस माया की दलदल से निकलने के लिये मनुष्य अपने ज्ञान की सूक्ष्मता में इतना पहुँचे कि जिसमें सत्य झलके और उससे प्रभावित होकर उसको अनुभव भी करे। अनुभव करने में इतना गंहरा (गम्भीर) हो जाये अर्थात् उसमें डूब जाये कि उसी सत्य का भाव भी अन्दर बन जाये।

१५. वस्तु तो पाने की इस जीवन में यही है, जो कि अन्दर बैठा प्रभु, सर्वव्यापक सबका अन्तर्यामी और एक रूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप भगवान, जो कभी मरने वाला नहीं है। शेष (बाकी) संसार की जितनी भी वस्तुएँ हैं ये तो बिछुड़ने वाली, नष्ट

होने वाली और अन्त में दुःख में समाप्त होने वाली हैं। इनका सुख भी सदा बना रहने वाला नहीं है। इस सत्य ज्ञान को इतनी गहराई में अनुभव (महसूस) करे कि ऐसी ध्यान की अवस्था में निद्रा भी अत्यन्त टल जाये। फिर जागता हुआ मन इसको अनुभव करते हुए बिना शब्द बोले व बिना कुछ विचार के और शून्य मन की अवस्था में बैठा रहे, तो समझो उस ज्ञान में उसकी समाधि लग गई। और आपको बाहर के संसार का, चाहे कितना ही कोलाहल (शोरगुल) वाला हो, पता ही नहीं चलेगा। जब बाहर से आप अत्यन्त (बिलकुल) अपना स्वार्थ (अपना सुख का मतलब) छोड़कर के और संसार के मिथ्या भाव को पहचान करके मुक्त हो जाओगे, तो आपको पता चलेगा कि संसार से भयभीत होने की कोई बात नहीं है। संसार तो केवल वहीं है, जो मेरे मन में पड़ा हुआ था। इसलिए इसके शब्दों व आवाजों से अधिक भय की आवश्यकता ही नहीं है। मनुष्य की समझ वैसी ही पड़ती है जैसे वो एक दूसरे के सम्बन्ध वाले होते हैं। अर्थात् मनुष्य बेचारे वैसे ही समझ में पड़ते है जैसे एक दूसरे के सामने एक दूसरे को प्रकट होते है। हम आप कोई कुछ नहीं है। यह ज्ञान रूप भगवान् ही सब स्थानों पर सब व्यक्तियों में है, परन्तु समय और परिस्थिति के अनुसार पृथक–पृथक प्रकार से क्षण–क्षण नया–नया व्यक्त होता रहता है। जैसे गीता में श्री कृष्ण भगवान् अर्जुन को कहते है कि हे अर्जुन! व्यक्त भगवान् की भक्ति उत्तम है। व्यक्त का तात्पर्य है कि मनुष्य विवश हो करके बेचारे प्रकट (व्यक्त) होते जा रहे है और वे कहते हैं 'मैं' 'मैं'। 'मैं' कुछ नहीं है। जैसी दृष्टि पड़ती है अर्थात् जैसा सामने कारण होता है उसके अनुसार शरीर में वैसा ही भाव प्रकट होकर के वह वैसा ही दूसरे से बर्ताव करवा देता है अर्थात् सामने वाले मनुष्य के भाव के अनुसार दूसरे को प्रकट कर देता है। प्रकट होने का नाम ही व्यक्त है। यह कोई जानबूझ कर प्रकट थोड़े ही होता है ? कोई मनुष्य

सामने आ जाता है तो उसके चेहरे से कुछ प्रकट होता है जैसा वह हमारे सामने प्रकट होता है, तो उसी के अनुसार ही हमारे अन्दर भी भाव प्रकट होता है फिर उसी के अनुसार हमारा मन उत्पन्न हो जाता है और हमने भी वैसा ही उच्चारण (बोलना) आरम्भ कर दिया। वह केवल उसी समय का था, कहीं बना रहने वाला नहीं है। इस ज्ञान को अपने अन्दर ध्यान में अनुभव करके सारे ब्रह्म को इसी रीति से पहचानना है कि एक दूसरे के आमने सामने पड़ने पर दोनों के भावों के अनुसार व्यक्त भगवान् उस समय प्रकट हो जाता है। और उस भगवान् की एक क्षण की झाँकी को अपने मन के अन्दर बसाकर प्रकृति के जाल में फँसना उचित नहीं है। इसी सारी लीला को अपने ही मन में बालपन से लेकर वृद्धावस्था तक क्षण–क्षण बदलती हुई हालतों का ध्यान करते हुये वैसे ही सबमें पहचानने का यत्न करे। इससे स्पष्ट भासेगा कि किस प्रकार भगवान् की झाँकी सब व्यक्तियों से क्षण–क्षण न्यारी–न्यारी दीखती है।

१६. एक दूसरे के आमने सामने पड़ने पर प्रभु एक क्षण के लिए क्या का क्या रूप दिखला जाता है, वह नाटक उसकी एक क्षण की ही माया होती है वे दूसरे मनुष्य को भड़का या खुश कर जाती है। अब जो चेतन , ज्ञान रूपी भगवान् की एक क्षण की झाँकी समझ गया और उसी की शरण ले ली, तो समझो वह मुक्त हो गया। कारण कि वह व्यक्त भगवान् की क्षण–क्षण की झाँकी को एक खेल समझता है और केवल साक्षी रूप से उसका आनन्द लेता रहता है मित्र वैरी इत्यादि दूसरा करके कुछ नहीं समझता वह इसको अपने मन में किसी प्रकार की सत्ता ही नहीं देता। जो पृथक–पृथक इन मित्र वैरी इत्यादि को सत्ता देने के चक्कर में पड़ गया, और राग, द्वेष, मान, मोह, क्रोध व लोभ आदि में उलझ कर यदि बाहर कोई कर्म भी कर बैठा, तो वह अनन्त बन्धन में फँस जायेगा व उसका मन बाहर ही उलझा रहेगा। उसकी शक्ति

बाहर ही भटकती जायेगी । जब तक जीयेगा, (खोखली) थोथी हुई, यही शक्ति इस व्यक्ति को सुख नहीं लेने देगी । ओर सो जाने पर जैसे मिथ्या (खोंटे) स्वप्न दिखलाती है, वैसे ही मृत्यु के बाद न जाने यह भटकी हुई शक्ति क्या–क्या चक्कर चलायेगी । इसलिए जब सामने कुछ भी प्रकट होकर दिखाई देता है, तो आपने यही समझना है कि वही ज्ञान रूप भगवान् न जाने क्या क्या लीला करता है? आपके मन में यदि द्वेष का घटना चक्र चल जाये कि एक क्षण में देखो, कैसे भड़का कर मन में प्रीति, वैर, मान व मोह से अग्नि लगा देता है? अब आप इसका (अग्नि का) दुःख देखने लग जाओ और मन में निश्चय रखो कि इस मन के मार्ग से मैंने जाना ही नहीं, जो कि माया है । जिधर जाऊँगा उधर मिथ्या ही मिलना है अथवा खाली अपनी शक्ति का ही भटकाना है । इसलिए मैं देख लूँ कि " इस घटना चक्र का दुःख कितना है? जो मुझे उस तरफ ले जा रहा है । यही ध्यान है । इस ध्यान में स्थिर रहना कठिन प्रतीत होता है, परन्तु धैर्य (धीरज) के साथ असम्भव भी नहीं है । यह मन की आग है जो प्रकृति के मार्ग की है । वह प्रकृति कह रही है कि यदि मेरा मार्ग नहीं लेते हो, तो फिर मेरा दुःख सहन करो । जैसे कोई मनुष्य बीड़ी पीने वाला यदि बीड़ी नहीं पीता है तो बीड़ी पीने का स्वभाव (प्रकृति) उसके अन्दर इच्छा के साथ दुःख की अग्नि लगा देता है । ऐसी अवस्था में अपने मन में शब्द बोल बोल कर कहे कि "तू (प्रकृति) मेरा मन कहीं लगने नहीं देती है, तो मत लगने दे । मुझे इसकी कोई चिन्ता नहीं है और उस मन के नहीं लगने के दुःख को मैं देख लूँगा" तो समझो ! आपने दुःख को स्वीकार कर लिया । उस दुःख का क्षण भी बहुत कड़वा होता है व एक क्षण भी व्यतीत करना कठिन लगता है । आपने उस दुःख के क्षणों को धैर्य से बिताते जाना है और बुद्धि व स्मृति (होश) को बनाये रखना है । अन्त में वह दुःख भी टल ही जायेगा ।

१७. प्रकृति का कार्य केवल बाहर ही कुछ न कुछ करते रहने के लिये प्रेरित करना व बाहर संसार में ही जीवन दिखलाना है। परन्तु आध्यात्मिक मनुष्य (अपनी आत्मा में जीवन देखने वाला) अपने आप में रहना सीखे। उसे पहले प्रकृति (आदत की शक्ति) का विरोध करने का अल्प दुःख स्वीकार करना पड़ेगा। यह प्रकृति (जो अन्दर शक्ति बनी बैठी है) मन नहीं लगने देती है, तो आसन पर मेरुदंड को सीधा करके बैठने का अभ्यास करे। और आसन पर भी आसन व मन की तंगी का दुःख देखता रहे। परन्तु यदि आसन पर नहीं बैठा जाता है, तो कमरे में टहल–टहल कर के मन की तंगी में ध्यान लगाये रखे अर्थात् मन के अन्दर होने वाली तंगी को क्षण क्षण झाँकते रहे, जब तक वह दुःख टल नहीं जावे। अपने मन में निश्चय रखे कि जिधर यह प्रकृति मुझे ले जाना चाहती है, मैंने उधर अभी नहीं जाना है। इतना मुझे पता है कि उधर न जाने से मेरी मृत्यु नहीं है। जब मन बहुत अधिक तंग करने लग जाये और असहनीय दुःख प्रतीत हो, तो अल्प सी एक बार भूत–बलि दे देनी चाहिए। शनैः शनैः अभ्यास द्वारा इस अल्प भूत–बलि को भी रोकना है। मिथ्या आदतों को उनका विषय देकर पूरा करते रहने का नाम ही भूत–बलि है। इस प्रकार की भूत–बलि देनी तो नहीं चाहिए, कारण कि भूत की बलि पूजा ठीक नहीं है। भूत का अर्थ है पीछे बीता हुआ, वह जो पीछे हुआ है। कोई भी कार्य बार बार किया गया, एक शक्ति रूप धारण कर लेता है। कब तक इस मिथ्या शक्ति रूप भूत की बलि को देते रहेंगे? इसके अन्दर ही अन्दर दुःख सहन करके मर्दन करना (समाप्त करना) ही ठीक है।

१८. जैसे बाहर की वस्तुओं के सब दुःख हैं, ऐसे निद्रा को रोकने का भी दुःख है। अब जितना निद्रा को रोकेंगे, तो मन नहीं लगेगा व संशय और परेशानियाँ ही उत्पन्न करेगा। यह सब प्रकृति (स्वभाव) का खेल है और इसको रोकने के लिये

धर्म में जन्मे बच्चे की तरह आपको अल्प–अल्प (तिल–तिल करके) इसका टालने का दुःख झेलना चाहिए। इस प्रकार लम्बे समय में यह प्रकृति वश में आयेगी, यदि आपका साधन अटूट चलता रहा। प्रकृति के मार्ग का, जो बुद्धि द्वारा विरोध (प्रतिरोध) करने वाला है, वह मनुष्य समझो ! कम से कम दूसरे जन्म में भी मनुष्य तो होता है। और जो प्रकृति के मार्ग पर अपनी बुद्धि (मति) को अर्पण करके, चल देता है, तो कोई पता नहीं कि प्रकृति किधर चौरासी लाख योनियों में न जाने साँप बिच्छु, सिंह, व्याघ्र, गीदड़, या कुत्ता आदि आदि बनायेगी।

१६. एक ज्ञानदेव ही है, जो सब लीला कर रहा है। परन्तु मनुष्य की अवस्था ही में एक ऐसा ज्ञान है, जो भूत भविष्य की सोचकर अपना हित और अहित विचार सकता है। और सोच विचार करके प्रकृति के मार्ग के सुख को त्याग कर व अल्प दुःख को भी सहन करके इसके बन्धन से मुक्त हो सकता है। इसलिये अपने मन को चेतन करे अर्थात् जगाये। और जगाते जगाते यहाँ तक चला जाये कि अन्त में प्रकृति के सब राग द्वेष आदि बन्धनों से अत्यन्त मुक्त हो जाये।

२०. इस प्रकृति के बंधन से निकलने का दुःख स्वीकार कर ले। फिर खाने, पीने, प्यारी वस्तु व निद्रा के वियोग की तंगी भी शनैः शनैः सहन हो जायेगी। ऐसी बात नहीं है कि नींद बिल्कुल नहीं लेनी है, परन्तु उसी समय नहीं सोना है, जब जब प्रकृति धक्का मार कर सुलाना चाहती है। उसका अल्प (थोड़ा) विरोध करके युक्ति–युक्त निद्रा लेनी है। जब ऐसा करते करते अपने अन्दर की मन व प्राण की शक्ति एकत्रित होगी तो आपको प्रतीत होगा कि मन सबसे विमुक्त हुआ अपने आप में शान्त बैठा हुआ है और कोई अपने सुख का निमित्त (कारण) बाहर का नहीं है। तो उसका नाम ही मुक्ति है। ऐसी अवस्था में वह अपनी आत्मा (अपने आप) में स्थिर हो गया। तब वह प्रभु जो सब के शरीर की मशीन

चला रहा है, व सबके अन्दर जीवन दे रहा है। नींद में भी श्वाँस चलता है, अपना परिचय (वाकफियत) उसको देगा कि अब देखो "मैं कौन हूं।" इसके बारे में पहले नहीं पता लगता था, जब कि अपनी 'मैं' बाहर की ओर फैली हुई थी। उस मुक्त अवस्था में अपने आपको इस प्रकार प्रकट करेगा कि जैसे वह स्वयं ही कह रहा है "कि अब देख ले" "मैं कौन हूं" आनन्दरूप हूँ और वह आनन्द जो कभी समाप्त नहीं होने वाला है। और जिससे तुम्हारी बिछुड़ने की इच्छा भी नहीं हो सकती है।" चाहे बाहर आपको कितना बड़ा सुख मिला हुआ था। परन्तु इस सुख के सामने कोई सुख भी कुछ भी नहीं है। जिन्होंने इस आनन्द रूप भगवान् (प्रभु) के दर्शन अर्थात् अनुभव किया है, ऐसे ऋषि मुनि लोग फिर बताते है कि जिसको पाकर के दूसरे लाभ को पाने की कोई इच्छा होती ही नहीं है। गीता में जैसे कहा है कि "यं लब्ध्वा चापरं लाभम्" इत्यादि। मुक्त पुरूष उस लाभ को प्राप्त करके किसी दूसरे लाभ को अधिक या उत्तम नहीं मानता है और जिसमें स्थिर हुआ मन बहुत बड़े दुःख से भी चलायमान नहीं होता है, कारण कि उसने प्रकृति शक्ति का दुःख सहन (झेल) करके यह आनन्द प्रकट किया है। जब प्रकृति का दुःख शान्त होने लगता है, तो उसी समय यह सुख मिलना आरम्भ होता है।

२१. यदि आप ने दुःख सहन करने में आँख खोल दी, तो धीरे-धीरे दुःख देखते-देखते वह दुःख हल्का होने लगेगा। हल्का होते-होते दुःख मिटना भी आरम्भ होगा। जैसे जैसे दुःख का टलना आरम्भ होगा, सुख प्रतीत होने लगेगा। सुख प्रतीत होते-होते यहाँ तक प्रतीत होने लग जायेगा कि दुःख की आग को ही भुला देगा। आप पहले एक मिनट का दुःख झेलना शुरू करो और इसकी अवधि धीरे-धीरे बढ़ाते जाओ। आखिर दुःख समाप्त होने की सीमा का भी कुछ समय है जैसा कि बताने वालों ने बताया है। मुख्य दुःख वही था, जो

सांसारिक सुखों के पीछ भागने से अन्त में प्राप्त होता था। प्रकृति का विरोध करने पर जो दुःख होता है उसको बुद्धिपूर्वक सहन करते जाने से अन्दर के सत्यों का ज्ञान भी उत्पन्न हो जाता है। और इसी ज्ञान के साथ–साथ सुख का भी अनुभव होगा। यह सुख अब समाप्त होने का नहीं है, जो दुःख समाप्त होने के बाद आया है और दुःख सहन करने के बाद मिला है। इस परम सुख को पाकर के फिर वह किसी भी दुःख से चलायमान नहीं होगा। ऐसी आनन्द की अवस्था में वह समझेगा कि यही मेरा अपना धाम है। तो यह सब अपने अन्दर ही भगवान् को देखने या अनुभव करने का मार्ग है, कहीं दूसरे स्थान पर नहीं है।

२२. सारांश रूप में यही है कि प्रकृति के बन्धन को जीतना है और बाहर भटका हुआ मन अपने अन्दर एकत्रित (इकट्ठा) करना है। अपने आप में एकत्रित मन सुख (आनन्द) देता है। यह तब होगा, जब आप अल्प (थोड़ा) दुःख स्वीकार कर लेंगे और इससे डर कर नहीं भागेंगे। यह दुःख सहन करना भी जन्म मरण रूप रोग को काटने के लिए कड़वी दवाई पीनी है। बच्चा सुख समझ कर ही उसकी ओर जाता है, और दुःख के भय से पीछे भागता है। बस, ये सुख और दुःख मनुष्य के अन्दर राग व द्वेष उत्पन्न करते हैं और इन्हीं की सन्तान काम और क्रोध है, जो उत्पन्न होकर मनुष्य से संसार में मिथ्या कर्म ही करवाते हैं। वे सांसारिक सब अच्छे बुरे कर्म करके दूसरों द्वारा भी बँध जाता है। और अपने आप में भी बँधा रहता है। जैसे मैंने किसी को अपने सुख, मान व 'मैं' दिखाने के लिये कड़वा वचन बोल दिया, तो जिसको मैंने ऐसा बोल दिया है, उसका भी तो भय मुझे लगा रहेगा। अब वही कर्म बाँधने वाला बाहर भी हो गया है, तो अपने ही कर्मों से आपको बाहर वालों ने भी बाँध लिया है और वह स्वयं समझता है कि अन्दर भी अपने सुख के कारण भय आदि से मैं बँधा बैठा हूँ।

यह सब प्रकृति का बन्धन, जिस का समाप्त हो जाये तो वही मनुष्य मुक्त कहा जायेगा । परन्तु वह प्रकृति अपने बन्धनों से मुक्त नहीं होने देती है, और कहती है कि "सारा जन्म तूने मेरी भक्ति की है व तेरी जीवन रूपी गाड़ी मेरी ही लाइन पर चली है, तो अब मैं, आपको दूसरे मार्ग पर जाने नहीं दूँगी ।" तो यह ठीक है कि प्रकृति दूसरा, जो कि कल्याण को प्राप्त करने का धर्म का मार्ग है उस पर नहीं जाने देगी इसलिये धर्म के मार्ग पर चलने के लिए प्रकृति विरोध का जो भी दुःख हो उसको स्वीकार करले अर्थात् सहन करले । अल्प–अल्प (थोड़ा–थोड़ा) तिल–तिल जितना (हद से ज्यादा नहीं बीच के मार्ग को) दुःख सहन करना ही इस आध्यात्मिक जीवन का मार्ग है । जैसे गीता में लिखा है "युक्ताहार विहारस्य" आदि । इसका तात्पर्य है कि खाना सोना आदि युक्तियुक्त व बुद्धि के अनुसार रखना है, न कि मन के अनुकूल (मुताबिक), जो स्वभाव कहे, वैसा करना है । थोड़ा पहले सोचकर जितना बुद्धि के अनुसार भले के लिये हो, वही करना है । आवश्यकता अनुसार भोजन करना लोभ से या स्वाद के कारण से हर समय मुख को चलाते नहीं रहना इत्यादि–इत्यादि उत्तम नियम अपनाने हैं । ऐसा करने से मन दुःखी तो अवश्य होगा और एकान्त (अकेले) में अपने आप से प्रीति भी नहीं पायेगा उस एकान्त वास का दुःख भी बुद्धि रखते हुए सहन करना है, जो कि मुक्ति का मार्ग है । इस प्रकार करते–करते जिसने एकान्त में तीन घंटे बैठकर आसन पर थोड़ा दुःख भी देखना आरम्भ(शुरू) कर दिया और दुःख के साथ–साथ ध्यान लगाने लग गया, तो पहले दुःख अपनी दृष्टियाँ बाहर की बनायेगा अर्थात् बाहर के पुराने सुखों को ही याद दिलायेगा और बाहर का ही चिन्तन मन से नहीं उतरेगा । मन तंगी भी मानेगा । इसी तंगी को देखते–देखते सहन करने पर धीरे–धीरे सत्य का चिन्तन होने लगेगा "कि दुःख क्यों और किसका है"? चिन्तन से (विचार ध्यान द्वारा) पता लगेगा कि दुःख केवल

मिथ्या आदतों (खोंटी आदत) का ही है, जिनको हम पूरा करते आये हैं। इस प्रकार यदि सत्य का ज्ञान उपजने लगा तो समझो अपने आप में मन लगने का भी मार्ग मिल गया है। इसी ज्ञान ध्यान द्वारा ही उस दुःख को देखते–देखते ही उससे मुक्ति पाने पर वह अन्दर का परमेश्वर, सर्वअन्तर्यामी, सर्वव्यापक, अपना सुख व्यक्त हो गया, तो समझो, वह प्राप्त ही हो गया, और बस कार्य पूरा हो गया। जो वस्तु पाने की थी वह प्राप्त कर ली है। अब इस सुख के पाने के पश्चात् संसार के सब सुखों को त्यागने का खेद या दुःख नहीं रहेगा। अब किसका चिन्तन करना है। तो बस यही है, जो अन्त में इस जीवन में प्राप्त करने का है।

२३. इसको और थोड़ा विस्तार से समझने के लिये ऐसे बताया गया है। जैसे व्यर्थ के खाने–पीने दूसरे के साथ अधिक संग, और अधिक निद्रा आदि त्यागने से मन बहुत तंगी मानता है। इसकी तंगी को भी बिना चिढ़, क्रोध ओर दूसरों की बुराइयाँ दोष आदि देखे बिना ही शान्त करते हुए सहन करना व कोई मिथ्या कर्म नहीं होने देना है। यह है एक साधन का मार्ग, जिससे शनैः शनैः अन्तरात्मा प्रकट होता है ओर मन अन्तर्मुख होता है। अन्तर्मुख का तात्पर्य है कि बाहर जो मन की भटकना थी, वह चाहे दुःख देखते रहने से ही समाप्त होनी आरम्भ हो गई है। ऐसे इस प्रकृति (आदतों की शक्ति) के मार्ग से बाहर भटके हुए मन की चिकित्सा हो सकती है। बाहर के पदार्थ व उपाय इस मन को रोकने में कोई सहायक नहीं हो सकते है। अतः मुक्ति का मार्ग यह हुआ कि अपने अन्दर आ जाना है अर्थात् ज्ञान द्वारा बाहर की सब वस्तुओं व प्राणियों के सुखों की तुच्छता समझना है प्रकृति के सुख का अन्त तो बाहर बुरा है। यह सुख सदा बना रहने वाला भी नहीं है। इस प्रकार यह ज्ञान तो यद्यपि पढ़ने व सुनने से भी हो जायेगा, जो कि विशेष फलदायी नहीं है परन्तु इस ज्ञान को चिन्तन द्वारा ध्यान से उपजाना

है। इस ध्यान को वह निद्रा और प्रकृति की खींच नहीं होने देती है। इसका सामना करना है। उसके लिए दुःख सहन करने का अभ्यास करना। उसका दुःख थोड़ा देखते–देखते व निद्रा को भी जीतते जीतते ध्यान प्राप्त हो जायेगा और अन्दर ज्ञान हो जायेगा। जब यह ध्यान का भाव अपने अन्दर गम्भीरता (गहराई) में जाकर बन जाये, तो सदा के लिए बाहर से मुक्ति (छुटकारा) हो जायेगी। जैसे मुक्ति पाकर के मन शान्त बैठेगा, इसका आनन्द भी स्वभाविक होगा। अब समझो, वह प्रकृति का बन्धन जड़ से समाप्त हो गया है। अन्त में यही करना है, अर्थात् इस प्रकृति के बन्धन को काटना है, इसको चाहे कोई एक जन्म में करले, चाहे कितने जन्मों में यही सारे कहे हुए का सार है।

२४. इसको सार रूप से यह भी समझना आवश्यक है कि, दो प्रकार की प्रकृति के बन्धन से मुक्त होना है। एक तो जीव की अपने आप में एक रूप वाली प्रकृति है, उससे मुक्ति पानी है और दूसरी ये सारे संसार की प्रकृति उससे भी मुक्ति पानी है, अर्थात् इन दोनों से मुक्ति पानी है। जैसे एक जीव अपने सुख दुःख के कारण कई प्रकार की आदतों से बँधा हुआ है। इसी प्रकार दूसरे भी सब जीव या प्राणी अपने–अपने सुख दुःख के कारण विविध या भिन्न–भिन्न प्रकार की आदतों से बँधे हुए हैं। कहीं एक किसी का सुख दूसरे किसी के सुख का विरोधी भी है। उस अपने–अपने सुखादि के कारण संघर्ष आदि भी परस्पर करने पड़ते हैं। उससे जीव और अधिकाधिक बाहर ही बाहर उलझता जाता है।" अपने आप में तो कोई संयम इत्यादि के धर्म रखता हुआ भले ही मुक्त भी हो जाये और उसे उस मुक्ति का सुख एकान्त में भी मिल जाये। परन्तु संसार में बँधे हुए दूसरे प्राणियों के कई एक ऐसे दुर्व्यवहार भी होते है, जिनसे कि वह व्यक्ति अपने एकान्त में मुक्ति का आनन्द भी नहीं ले सकता अर्थात् उन्हीं के स्वभाव से होने वाले दुर्व्यवहार से प्रभावित हुए बिना नहीं

रह सकता। अपनी आदतों की शक्ति रूप प्रकृति के चंगुल से भले ही तप, संयम, त्याग आदि गुणों द्वारा कोई मुक्त भी हो जाये, परन्तु दूसरों की ओर से प्रकृति द्वारा करवाये गये कर्मों से वह इस प्रकार प्रभावित हो सकता है, कि जिससे उनमें बसे रहना भी एक महान दुःख या शाप जैसा प्रतीत होता है। परन्तु यह सब संसार तो बँधे हुए प्राणियों का ही है। इसलिये इस संसार को अथवा सांसारिक प्राणियों के संग को अत्यन्त छोड़कर कोई जीवन धारण करेगा भी कहाँ ? अब इसी संसार में रहकर यदि इन्हीं के भी बन्धन से मुक्त होकर जीवन धारण करना है, तो इसी प्रयोजन के लिये उन्हीं भगवान् के दस बलों की भक्ति करनी अति आवश्यक है। अर्थात् मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, क्षमा, शील, दान, वीर्य ध्यान व प्रज्ञा इन सब बलों को अपने में उपजाना है और प्रबल बनाना है, जिससे कि सांसारिक प्राणियों के बन्धन भी विपरीत प्रभाव नहीं करें। पहले आठ बलों के सही प्रकार धारण करने से और उपजाने से सब प्रकार की बाहर की उन सब उलझनों से मुक्त रहेगा। उसका किसी के साथ भी संघर्ष आदि ही नहीं हो सकता। ध्यान और ज्ञान अन्त के दो बल हैं। इनके द्वारा सत्य को प्रकट रूप से देखता हुआ व्यक्ति सब प्रकार के अपने मानसिक भावों उत्तेजनाओं तथा विकारों से रहित हो जायेगा और अंतरात्मा की स्वाभाविक शान्ति, उन सब में रहते हुए भी अनुभव करता रहेगा। यही सारे व्याख्यान का अन्तिम सार है।

प्रवचन

२५–१२–१६८६

वह दो दिन से जैसा कुछ इस बारे में कहा जाता रहा है कि अपनी आत्मा में या कि परमपद में शान्ति या स्थिति पाने के लिये मन को बाहर से मुक्त करना पड़ता है। अब इस मुक्ति पाने पर क्या होता है कि "अपनी अन्तरात्मा में जो कुछ वह सनातन (सदा बना रहने वाला) सत्य बैठा है, जिसको परमात्मा, चेतन या ब्रह्म आदि कई नामों से कहा गया है, वह अपने आप में इतना आनन्दमय व शान्त व्यक्त (प्रकट) होता है कि उसके सुख या आनन्द को पाकर के मनुष्य दूसरी कुछ भी वस्तु पाने की नहीं समझता" परन्तु उसका मुख्य कारण यही है अर्थात् परमपद को प्राप्त करने के लिये मुख्य इसी बात की आवश्यकता है कि बाहर भटका हुआ मन और इसकी बिखरी हुई शक्ति अपने आप में एकत्रित कर ली जाये। बिखरे मन का मतलब है "बिखरा हुआ हमारा ज्ञान" और उस ज्ञान के पीछे–पीछे उसी का श्वाँस, जब तक ये बाहर इतने बिखरे हुए हैं तब तक जैसे देह में थोथापन या खोखलापन, ऐसे मन में भी वह खोखलापन जो है, इसको शान्ति का अनुभव करने नहीं देता। चाहे बाहर की सब वस्तुएँ हैं, संसार के सारे सुख हैं, परन्तु जिस समय मन अन्दर से खाली हो गया, बाहर ज्ञान भटक गया, चिन्ता, शोक व फिकर में हर समय बाहर ही घूमता रहा, तो उस अन्दर की शक्ति का इतना ह्रास (क्षीण होना) हो जाता है कि सब कुछ होते हुए भी मनुष्य को अनुभव होता है कि शान्ति नहीं है, सुख नहीं है। ऐसी अवस्था में मस्तिष्क, हृदय आदि के रोग और न जाने बाहर भी शरीरों में उसके दुष्परिणाम (बुरे नतीज़े) होते हैं। और यदि वह भटका हुआ मन बाहर की लगन छोड़कर उधर से मुक्त हो जाये, तो वही शक्ति धीरे

धीरे अन्दर इकट्ठी होने लगती है। परन्तु वह इकट्ठी हुई हुई शक्ति पहले तो नींद ही देगी। अब नींद में जो कुछ सुख शान्ति है, उसे तो ऐसा समझा जायेगा, जैसे अज्ञान या अविद्या की। परन्तु जागते जागते यदि वह मन उधर से मुड़ आये, तो कहते हैं कि उस मनुष्य को मुक्ति मिल गयी और उसको उसका सुख भी मिल गया। अब वह जो उधर से मुक्ति पानी है, उसको प्राप्त करने के बाद जैसे ही मन देह में एकत्रित (इकट्ठा) होता है, तो उसमें सुख मिलता है।

२. परन्तु छुट्टी कैसे मिले? अब यह छुट्टी मिले तब, यदि प्रकृति के बन्धन से मुक्त हो। तो प्रकृति का अर्थ क्या है? जो कुछ भी बाहर हमने आदत के कारण से कर लिया है और अभी हो भी रहा है, तो वह ही करते आने से वह ऐसी कृति हो गयी है अर्थात् ऐसा अन्दर का यत्न हो गया है कि वह स्वाभाविक बन गया है। स्व का अर्थ है "अपना"। भाव का अर्थ "अपने आप की सत्ता या हस्ती"। अब वह कृति अपने आप की हस्ती बनी हुई है। उसी रास्ते पर अन्धाधुन्ध बिना सोचे समझे नींद में भी मन को उधर ले जाती है। इसी ने बाहर की यादें दिलानी हैं और कहना है कि बाहर ही, जानों इन वस्तुओं को और उन्हीं के लिए चिन्तन करना है तथा उन्हीं की तरंगे काम, क्रोध द्वारा उत्पन्न (पैदा) करनी हैं। यदि नहीं पूरा करोगे, तो दुःख दिखाना है। अब जो उसके इस उत्पन्न किये हुए दुःख को थोड़ा थोड़ा सहन करना सीखे लें, उसकी बुद्धि इस दुःख में नष्ट न हो और करने के कर्तव्य का ज्ञान होता रहे और धीरे धीरे उसको करते करते वह दुःख में बुद्धि खुल करके सारे प्रकृति के बन्धनों को जता दे, राग, द्वेष, मान, मोह व संशय आदि जिन जिन धागों या डोरियों से प्रकृति बाँधती है, उन सारों का अन्दर ज्ञान हो जाये, तब उस ज्ञान होने के बाद इनसे मुक्ति मिलेगी। जैसे जिस रोग को टालना है, उस रोग का ज्ञान भी आवश्यक (जरूरी) है। देह के बाहर की व्याधि अथवा रोग को टालने

के लिये तो कोई डाक्टर जानेगा। परन्तु यह अन्दर का रोग टालने के लिये कोई दूसरा नहीं आयेगा। यह अन्दर के रोग का डाक्टर तो अपने आप ही होना पड़ेगा अर्थात् इस रोग को अपने आप ही जानना पड़ेगा और अपने आप ही उसकी चिकित्सा करनी पड़ेगी। तो इस रोग को टालने के लिए इसकी पूरी गहराई तक जाना पड़ेगा कि "रोग कहाँ तक बढ़ा हुआ है"? अब यह रोग कहाँ तक बढ़ा हुआ है ? ऐसा है कि नामों से तो सुनते हैं और जब कोई बोलता है, तब भी मालूम होता है कि बड़े परिचित नाम हैं। परन्तु यदि आप इसको हृदय में टटोल कर देखो, तो जितनी बारीकी में ये आपके उस नित्य सनातन ज्ञान को बाँध रहे हैं और उसके सुख को ढाक रहे हैं वहाँ तक इनका ज्ञान सहज में नहीं होता। वहाँ तक ज्ञान की आँख बन्द ही रहती है। बन्द आँख ही लिये पैदा होता है मनुष्य और बन्द ही लिये मर जाता है। यदि वहाँ तक आपने जानते जानते इस रोग को पहचान लिया, और वहाँ तक पहचानते पहचानते ही आपकी आँख उस परमात्मा में जब खुल जायेगी, तो आपको मालूम होगा कि जिस समय मन बाहर की लपक लगा रहा है कि 'वहाँ देखो क्या है ? तो इसका अर्थ है कि वह बाहर के बारे में कुछ जानना चाहता है और जिसको जानना चाहता है, उसके बारे में उसको अज्ञान है, यही उसकी बाहर के बारे में अविद्या है। तो मन क्यों बाहर जा रहा है? उसका कारण यह है कि अन्दर होता हुआ उसको ज्ञान नहीं सूझ रहा। यदि वह चेतन, ज्ञान, जो अन्दर अभी सूझ (जाग) नहीं रहा, न हो तो, इस देह के अन्दर जीवन कौन रखेगा? उसी के कारण से ही शरीर में श्वाँस भी चल रहा है, सब अंग अपना काम कर रहे हैं। यदि वह ज्ञान रूप न हो तो उसकी प्रकृति शक्ति को कौन चेतन करे? तो इसलिये वह अन्दर उसका ज्ञान पूरा उपस्थित (हाजिर) है। जैसे नींद के सुख का एक दृष्टान्त है। यदि नींद अच्छी आये, तो वही मनुष्य सुबह

उठकर कहता है कि "वाह भाई वाह ! बड़े आनन्द की नींद ली।" ऐसा आनन्द से सोया कि कोई खबर नहीं थी।" और यदि तंगी की नींद हो, तो भी सुबह उठकर के बतायेगा "जी नींद शान्त नहीं आयी।" "तो देखो वहाँ भी उसको ज्ञान है न एक"। अब वह ज्ञान इतना ढँका हुआ है कि उसका आनन्द (सुख) अपने को पता ही नहीं लगता। नींद में तो थोड़ा प्रकट होता है। तो इतनी बारीकी तक इन बन्धनों को पहचानना है। जहाँ तक आखिरी ढक्कन अविद्या का है, वहाँ तक दृष्टि (नज़र) खुले।

३. अविद्या का क्या मतलब है? कि जहाँ दो दिशायें होती हैः चाहे तो आप भगवान् का ज्ञान प्रकट होने दो, जो सनातन (सदा बना रहने वाला) है और यदि वह नहीं है, तो ज्ञान बिना मन तो रह नहीं सकता। इसलिये जब उसको किसी वस्तु (चीज़) की समझ नहीं पड़ती, तो जो भी नजदीक उसको समझ मिल सके, उसी के लिये वह हाथ पाँव पटकता है, तो अविद्या (न जानने की अवस्था) इसी के लिये उसको प्रेरणा देती है। उसको जाने (ज्ञान) बिना, मालूम होता है, जीवन नहीं है। अब जैसे बाहर से उसने मुख मोड़ा, अन्दर उसका ढक्कन पड़ा है, उसका ज्ञान तो जागा नहीं, और बाहर का छूट गया, तो ऐसी पत्थर जैसी हालत के बीच में अविद्या कहती है "लो, वह देखो तो सही क्या है वहाँ ? कहीं आवाज कानों में ला दी, कहीं आँख में कुछ वस्तु (चीज़) दिखा दी"। "क्या है" को समझ लेने का मतलब है कि 'मैं' बन गया। परन्तु वह जो नित्य सनातन ज्ञान है, उसके बीच में एक सैकिण्ड भी ऐसा नहीं है कि जहाँ यह पड़दा आ जाये। और वह जो चेतन प्रभु का ज्ञान है, उसमें जितनी बारीकी तक जायें, जितनी बारीकी में वह चेत रहा है, तो पता लगेगा कि "उसकी गति इतनी ज्यादा है जैसे कि बाहर बिजली की कहते हैं"। यह उसी के जानने की शक्ति है कि सारे संसार की प्रत्येक वस्तु को एक क्षण क्षण में ही जानता रहता है

और जानते ही उसी के पीछे पीछे उसकी माया हरकत करती है। इस सत्य को हमने अपने अन्दर परखना है कि "जैसे वह जानता है, वैसे ही उसमें क्रिया होती है"। व्यवहार में इसके कई उदाहरण देखने में आते हैं। नींद में सोये हुए मनुष्य को कभी देखो तो पता चलेगा कि कभी कभी तो वह बड़े ख़र्राटे लेता है और किसी समय बड़े शान्त रीति से पड़ा मालूम होता है कि जैसे श्वाँस भी नहीं चल रहा।

ये अवस्थाएँ कैसी हैं ? कि जैसे जैसे उस मनुष्य के अन्दर संस्कार जाग रहे हैं, उसी उसी तरह के संस्कारों के अनुसार उसका चित्त बहुत सोचों में पड़ गया, तो श्वाँस बड़ा ढीला चलने लग गया। पता ही नहीं लग रहा कि श्वाँस चल रहा है और जब सोच समाप्त (खत्म) हो गयी, उस समय बड़े लम्बे लम्बे ख़र्राटे लेने लग गया। तो जैसा ही ज्ञान वैसा ही उसके पीछे कृति यानी क्रिया-शक्ति। यदि बँधा हुआ ज्ञान है अर्थात् बाहर किसी भी अभिप्राय से उलझा हुआ है, तो उसी के अनुसार ही अन्दर क्रिया–शक्ति काम करेगी, उसी तरह के रोग, व्याधियाँ व शोक इत्यादि पैदा करती जायेगी और जैसे जैसे उससे मुक्त होता जायेगा वैसे वैसे उससे छुट्टी होती जायेगी। क्योंकि मुक्त ही ज्ञान और मुक्त ही उसकी क्रिया–शक्ति। यही सत्य हमने अपने अन्दर प्रमाणित करना है। परन्तु यह सत्य प्रमाणित होगा कैसे ? यदि मनुष्य शान्त चित्त हो करके बाहर से थोड़ा मुख मोड़कर ध्यान में बैठे, तो कई प्रकार की मन की अवस्थाएँ पहचानने में आयेंगी। परन्तु ये अवस्थायें पहचानने में तभी आयेंगी, यदि दो बन्धनों को मन पार कर लेः एक बाहर उलझन का बन्धन तथा दूसरा उसके पीछे अज्ञान, अविद्या, नींद का बन्धन। तभी ये अन्दर के सत्य प्रकट हों और इसकी सारी शक्ति का पता लगे। और प्रकट होते होते यहाँ तक प्रकट होने लगे कि इन बन्धनों की दुःखरूपता का भी भान हो। जैसे आपने ध्यान में देख लिया कि "अमुक (फलाँ) खाना अथवा अमुक (फलाँ) वर्ताव

दुःखदायी सिद्ध होता है, तो आप उसके लिये कभी भी इच्छा नहीं करेंगे कि ऐसा खाना खा लें अथवा ऐसा बर्ताव करें"। इसी तरीके से अन्दर के सत्यों को पहचानना है और पहचानकर अपने आपको प्रेरित करना है कि "इनके रास्ते से हमको निकल जाना चाहिए"। यदि इस तरह से प्रेरणा अन्दर से न आयी, तो प्रकृति के रास्ते से कभी भी यह इच्छा नहीं होती कि इनसे हम बाहर निकल कर भाग जायें। यह सारा संसार का जितना बन्धन है, वह बाहर मन के बहने का ही है, यदि उधर से मुड़े, तो मालूम होता है कि "जैसे जीवन ही नहीं रहा"। यदि किसी को एकान्त में वह कल्पना भी हो जाये कि यह संसार छूट जायेगा, तो मन की प्रतिक्रिया इस प्रकार की होगी कि "ऐसी मुक्ति भी किस काम की, जिसमें संसार छूट गया ? फिर आनन्द ही क्या रहा जब पता लगने का तो कुछ है नहीं ? इस तरह अत्यन्त बारीकी में भी उसकी जानने की अपनी जो क्रिया है या जानने की जो उसकी शक्ति है वह कुंठित (खुंडी) नहीं होती। परन्तु इतना अवश्य है कि उतनी बारीकी में उसको जानते हुए को पहचानना चाहिए। जो मोटी वस्तुओं (चीज़ों) को पहचानने का आदी है, उतनी बारीकी में वह सो जाता है। बस वह सो जाना या नहीं सोया तो अविद्या का पर्दा है। जैसे सोया तो नहीं, जाग रहा है, परन्तु अन्दर पहचानने में कुछ नहीं आ रहा, तो यह अविद्या में छुपा हुआ है। अविद्या में छुपा हुआ होने से सच्चाई का ज्ञान नहीं हुआ। सच्चाई का साक्षात्कार न होने से संसार में ही लपक रहेगी, अविद्या आयेगी अर्थात् अन्दर कुछ पता लग नहीं रहा" जिससे कि मन सोचों में पड़ गया अर्थात् उसी का नाम 'चित्त' पैदा हो गया, और बाहर सुनने के लिये कान खोल दियेः सुनने लग गया। ऐसा मालूम होने लग गया मानो 'हाँ हाँ' शब्द सुनने में आ रहा है, कुछ दीखने में भी आ रहा है, कुछ सुगन्धियाँ भी आ रही हैं, छूने में हवा भी लग रही है। इस तरह समझने

समझने में वह सोचता है कि "मैं संसार में बना हुआ हूँ।" यही थोड़ा अविद्या का दूर टल जाना है, परन्तु पूर्ण रीति से यह अविद्या नहीं टलती अर्थात् जड़ से यह अविद्या इस प्रकार के ज्ञानों से नष्ट नही होती है। अविद्या जड़ से नष्ट तो आत्मा परमात्मा के ज्ञान से ही होगी। भले मर करके या जीते जी, यह सदा बने ही रहना चाहता है और जो अनन्त परमेश्वर है, उसमें इसको किसी भी प्रकार की पहुँच नही होती, जहाँ पहुँचने के बाद दूसरी कोई इच्छा नहीं रहती। वहाँ पहुँचने के लिये मन को इतना तीक्ष्ण करना है कि इस प्रकृति के बिछोड़े में जो थोड़ा दुःख होता है, उस थोड़े दुःख को सहन करना स्वीकार कर ले और यदि हो सके, तो क्षण क्षण उस दुःख को देखता हुआ ही टाल दे, जैसे खुजली के दुःख को मनुष्य खुजलाये बिना ही देखते देखते टाल देता है। आखिर वह खुजली का दुःख टल ही जाता है, इसी प्रकार अविद्या के दुःख को भी देखता देखता ही सहन करता हुआ टाल दे। यह दुःख ऐसा तो है नहीं कि मारने वाला है या हजम (सहन) नहीं हो सकता। बीमार मनुष्य भी तो चारपाई पर पड़ा–पड़ा कई दिन अकेले में बिता देता है, दुःख सहन करता है। तो वह दुःख क्यों नहीं सहा जाता ? क्योंकि मन यह समझता है कि "सुख मिल सकता है तो दुःख क्यों लूँ।" अब यदि वह अपने मन में ख्याल करले कि "जिस सुख की तरफ तूँ भाग रहा है वह सदा बने रहने का नहीं हैं।" बस यहीं से विवेक शुरु होता है। मनुष्य एकान्त में यह ज्ञान पैदा करे, मन को जगाता रहे। कोई जप का शब्द जपता है, तो इसी तरह वह विचार के शब्द भी जगा सकता है। इस प्रकार एकान्त में बैठकर जब दुःख देखने लग गये, तो फिर दुःख से बचने के लिये मन नींद, आलस्य व सुस्ती भी लायेगा। वह आलस्य व सुस्ती का सुख भी नहीं लेना, थोड़ा इससे भी जागना। जब तक मनुष्य को नींद का सुख प्यारा लग रहा है, तब तक नींद जीतने का काम ही नहीं

और तब तक नींद जीतने का रास्ता बनता भी नहीं। जिस समय नींद का सुख मालूम होने लगता है, "पलकों में भार आता है, आनन्दमयी वह प्रतीत होती है, उस समय मन उसको ग्रहण करने के लिये अपने आपको ढीला छोड़ता है, और नींद के सुख को मीठा समझकर मन ग्रहण करता है"। यही है मन द्वारा, उस नींद के सुख को स्वीकार करना। इसी जगह स्वीकार करते मन को यदि आपने पहचान लिया, तो यहाँ की अविद्या आपकी समाप्त हुई समझी जायेगी अर्थात् जैसे ही मन नींद के सुख को देखकर उसको स्वीकार करने के लिये ढीला होने लगा और ज्ञान पर ढक्कन पड़ने लगा, तैसे ही आपने नींद के सुख के कारण ढीला होते हुए तथा नींद के बिछोड़े के दुःख को न सहन करते हुए मन को पहचान करके उस नींद के सुख का त्याग कर दिया कि "अभी इतना समय नींद नहीं लेनी। तो ऐसा करते करते नींद को रोकने की आदत पड़ जायेगी। अन्यथा साधन या मोक्ष का रास्ता रुक जायेगा। अब इस ऊपर कहे का अभिप्राय यह नहीं कि "नीद लेनी ही नहीं," नींद लेनी अवश्य (जरुर) है, परन्तु यह भी नहीं कि जब भी नींद आ जाये, तभी पड़ना है।

"मनुष्य जीवन है, इसमें बुद्धि को जगाकर अपना भला पहचानना है और उस भले को पहचानकर उसकी साधना करनी है, उसमें जो तंगी है, थोड़ी वह भी सहन करनी (झेलनी) है और इस प्रकृति के बन्धन से छूटना है और अपना रोग काटना है"— तो इतना यदि उसके मन में है, तो इन्हीं शब्दों को बोल बोल कर अपने मन को वहाँ जगाता रहे और एकान्त में समय व्यतीत करने के लिए अपने आपको आदी बनाता जाये। जितना जितना वह ऐसा अभ्यास करता जायेगा, उतनी उतनी ही उसको संसार की उलझन से फुर्सत मिलती जायेगी। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि संसार में उसको कुछ करने की इच्छा नहीं रहेगी, जितना कर्तव्य है या जो आवश्यकता (जरुरत) का है, केवल उतनी ही इच्छा

रहेगी और यह नहीं कि अपने वह बन्धन के स्वार्थ, जो बचपन से लगे हैं, उन्हीं को पूरा करने में लगा रहे। जैसे बच्चा है, अकेले में ज्यादा उसका मन नहीं लगता, रोने लग जायेगा, वह चाहेगा दूसरा आ जाये और उसको व्यर्थ के शब्द बोल बोल कर कैसी भी चेष्टाएँ करके, उसका मन बहलाता रहे। ठीक है। उसको दूसरे की दासता (गुलामी) है। इसी प्रकार जैसे बच्चे को कोई खिलौना दे दो, तो वह अपने हाथ में लेकर छनछनाता हुआ उसी के सहारे रहेगा। यही बाहर का बन्धन है, जो बच्चे क़ो जन्म से ही प्राणी और पदार्थों के सहारे रखता है और मरते समय तक मनुष्य इन्हीं से बँधा रहता है। इसी बाहर के बन्धन के कारण ही मन बाहर ऐसे तना हुआ है, जैसे आपने अपनी बैटरी का बटन दबा दिया और उसका प्रकाश बाहर फैल रहा है, तो यह कितनी देर तक रहेगा ? आखिर उसकी एक शक्ति है, अन्त में तो सारी समाप्त होनी है। इसी तरह बाहर भटका हुआ मन, जब अपने अन्दर नहीं, तो उसकी शान्ति व सुख बाहर ही बिखर रहा है, इसका भी एक समय है, उसी के अनुसार शरीर धीरे धीरे बढ़ता गया, ज्ञान भी बदलता गया और बदलते बदलते एक दिन ऐसा हो गया कि बाहर की उन वस्तुओं के भी अयोग्य (नाकाबिल) हो गया। तब उसके बाद फिर क्या है? कि वे मिलने नहीं हैं और उनसे आगे आगे दुःख ही बढ़ेगा, जिसमें समय व्यतीत करना भी कठिन होगा। ऐसी अवस्था में सारा समय व्यतीत करने के लिये भी और अपने अन्दर उस आत्मा परमात्मा का सुख (नींद के समान) पाने के लिए भी, यही उसका मार्ग (रास्ता) है कि "थोड़े दुःख को कड़वी दवाई की तरह सहन करना स्वीकार कर ले"।

४. दुःख को सहन करने का क्या अभिप्राय है? यही कि फालतू जो कुछ भी इस मन का बाहर लगाव है या फालतू जो भी इस शरीर के कर्म है, इनको जितना जितना समझते जाना, उतना उतना बाहर से बिछुड़ते जाना और इस बिछोड़े

के दुःख को हज़म (सहन) करते जाना। जैसे कि होम्योपैथिक वाले कहते है कि जो ज़हर बीमारी पैदा करता है, उसी ज़हर को हज़म करने की आदत डाल लो, तो वही ज़हर एक दवाई बन जाती है। इसी तरह सुख को छोड़ने का जो थोड़ा दुःख है, वह ज़हर के समान है। जिस समय थोड़ा दुःख होता है, तो मन सुख के पीछे भागता है। अतः दुःख ही कल्याण के मार्ग (रास्ते) से भगाने वाला है। और हमारे लिये ज़हर बना हुआ है। यदि इस दुःख को ही थोड़ा–थोड़ा सहन करना शुरू कर दिया जाये, तो जितना भी प्रकृति के बन्धन का दुःख है, वह सारा ही एक दिन आसन पर बैठे टालना आ जायेगा। परन्तु आवश्यकता है, धैर्य की। पहले पहल तो मन शिकायत करेगा कि "भाई ! दुःख के बारे में अन्दर कुछ समझ नहीं आ रहा," तो इसका मतलब है, अविद्या। और दुःख से मनुष्य परेशान हुआ–हुआ एकदम भागना चाहता है, जहाँ कि इसको दुःख न मिले। दुःख के अनुभव से टलने का मतलब है कि उस समय जो दुःख का ज्ञान हो रहा है, उससे मन को चुराना। दुःख के ज्ञान से यदि मन चुराया, तो ज्ञान तो उस समय दुःख का है। अब यदि इस ज्ञान से, जो कि उपस्थित या वर्तमान है, मन चुराया जायेगा, तो अज्ञान या अविद्या की रात्रि में ही पड़ना है। जैसा कुछ भी ज्ञान हो अर्थात् दुःख का हो, भले सुख का हो, उसको वैसी अवस्था में साक्षी रूप से पहचानता रहे, तो उसका ज्ञान या समझ कभी भी नहीं खोयेगी।

यही सच्चिदानन्द अन्त में अनुभव रूप से अपने आप को सदा के लिये प्राप्त होगा। परन्तु दुःख या तंगी में अपने आपको धैर्य से सँभाले रखे। अब यहाँ पर यदि आप धैर्य (धीरज) से देखने लग जाये, कि कितनी देर समझ में नहीं आता, तो पता चलेगा कि यही बैठा तो है अन्दर, जो इस दुःख को समझ रहा है, साफ दीख रहा है कि अन्दर दुःख समझ आ रहा है। नहीं तो कैसे पता लगे कि तंगी हो रही

है? दुःख हो रहा है ? परन्तु केवल वही है, व्याकुलता (बेसबरापन), जो बाहर आदत की वस्तुओं को जानने के अभिप्राय से मन के सामने दुःख खड़ा कर रहा है। तो इस बेसबरेपन के दुःख को ऐसे झेल लेना, जैसे खुजली के दुःख को कोई बिना खुजली किये देखते–देखते ही सहन कर लेता है। इसी तरह प्रत्येक (हर एक) बन्धन है, जैसे राग बन्धन। जो भी वस्तु मन को प्यारी लगती है, मन उसकी तरफ अधिक खिंचता है। मन उसके बीच में ऐसा कारागार (जेल) में पड़े हुए के समान हो जाता है कि उसके चिन्तन को भी नहीं छोड़ना चाहता। जैसे वृद्धावस्था (बुड्ढी उमर) है या बीमारी की अवस्था (हालत) है, कोई मनचाहा खाना नहीं खा सकता। परन्तु वह खाना मन से नहीं उतरता और उसको मनोराज किया अर्थात् मन में बसाये बैठा रहता है। यही राग चित्त है, अर्थात् वस्तु (चीज़) नहीं भी बर्तनी, तो भी चिन्तन में बसी बैठी है। उदाहरण के तौर पर, खुजली का सुख ही है। ध्यान द्वारा ज्ञान ने यह बता दिया कि इसको पूरा करने में कुछ नहीं रखा, बल्कि कोई घाव आदि ही हो सकता है। और इसे खुजली न करने के दुःख को सहन करने से, खुजली अपने आप मिट जाती है।

इसी प्रकार राग आदि बन्धन की वस्तु या विषय न देने पर भी उसका दुःख सहन करने से मिट जाता है। यह सारा सत्य ध्यान ही प्रकट कर सकता है। सकल आयु भर इन विषयों का सुख प्राप्त भी किया नहीं जा सकता, क्योंकि रोग आदि का भय विषयों के सुख को पूरा करने में मनुष्य को स्पष्ट झलकने लगता है। यह सब ज्ञान दूसरे से सुना हुआ कैसे काम करेगा ? इसको तो मन में महसूस करने तक जगाना पड़ेगा। यदि संवेदित (महसूस) करने तक ज्ञान जगा दिया और मन अपने अन्दर ही विचार करते–करते, शब्द जगाते–जगाते, स्वयं ही यह संवेदन (महसूस) करने लग जाये कि "इस वस्तु का सेवन अच्छा नहीं", ऐसा संवेदन (महसूस)

करते–करते जागता ही रहे और शब्द बोलना भी बन्द हो जाये, तो यह ज्ञान में समाधि है। ऐसी अवस्था में यदि सत्य को महसूस करते रहे, तो संसार का कुछ पता नहीं, कहाँ है? अर्थात् संसार से मन बुझ गया। यही अपने आप एक सुख बन जायेगा और इसी सुख के बीच में इस सुख को पहचानने वाला, जो साक्षी, शुद्ध ज्ञान स्वरूप अपना आपा रूप आत्मा है, वह झलकने लग गया, तो समझो ! अविद्या टल गयी, विद्या आ गयी। ऐसी अवस्था में मन महसूस करेगा कि राग का चिन्तन भूल गया, उसकी लपक भी नहीं रही, अन्दर ही अन्दर जागता हुआ बड़े सुख में हूँ। इस सुख से मन बिछुड़ना नहीं चाहेगा। परन्तु ऐसा तभी होगा, जब मन सदा मुक्त रहे। तो प्रश्न उठता है, बाँधने वाला कौन है ? एक तो राग था। और कौन बाँधता है ? इसी का भाई द्वेष है। द्वेष क्या है? जैसे कभी किसी ने आपका सुख बिगाड़ा था, जिसने सुख बिगाड़ा था, वह आपकी दृष्टि में बस गया। यही दृष्टि का बन्धन है। दृष्टि बनते ही उसका खोटा बर्ताव आपके मन में रड़कने लगा, उसका बुरा करने के लिये मन निश्चय करने लगा। उसी की दृष्टि रखकर उसका बुरा करने के लिये मन जो चिन्तन में लगा हुआ है, इसी का नाम द्वेष चित्त है।

अब राग चित्त की तरह द्वेष चित्त के लिये भी यदि आपने अपने मन को समझा लिया कि "मन जिधर ले जा रहा है, उस द्वेष से किसी का बदला लेकर या बुरा करके, अन्त में भला नहीं है" तथा जैसे खुजली के सुख को छोड़ने के लिये वह तंगी सहन करते हुए, राग–बन्धन को पहचानते हुए बैठा रहा, जब तक कि खुजली करने का भाव बिल्कुल समाप्त नहीं हो गया, इसी तरह द्वेष बन्धन की जो लपक या प्रेरणा है, उसको भी तंगी के साथ देखते–देखते ही शान्त करने का यत्न यदि आपने कर लिया, तो ऐसी अवस्था में मन महसूस करेगा कि जैसे–जैसे द्वेष की लपक या प्रेरणा धीमी पड़ने

लगी, तो आत्मा का सुख भी प्रकट होने लगा, भले सुख नहीं, तो भी पहले उसकी उधर की लपक का दुःख तो शान्त होने लगा, तथा होते–होते अन्त में द्वेष जैसे मन से उड़ ही गया, जैसे खुजली एकदम समाप्त हो गयी। क्योंकि यह अन्दर से उस भगवान् परमेश्वर का ऐसा स्वभाव है कि वह कोई वस्तु (चीज़) को ज्यादा समय तक टिकने नहीं देता।

जैसा कि पहले कहा है कि उसकी तरंगें तो इतनी तेजी से बहती हैं, उसकी जानने की इतनी गति है कि उतनी तेजी से ही प्रकृति बदलती है। यदि द्वेष की प्रकृति अभी बैठी है, तो कितनी देर तक यह टिकेगी? उस समय उसको हर क्षण जानते–जानते समाप्त कर ही देना है, भले पाँच, सात, दस मिनट आपके लिये लग ही जायें। अब वह जो अन्दर परमेश्वर का ज्ञान है, वह इतनी तेजी से तो आपके बन्धनों को काटने के लिये तैयार बैठा है। परन्तु आप में थोड़ा धैर्य होना चाहिए। यदि आप पाँच मिनट में ही फुसल गये और आपने एक नया भँवर (चक्कर) बीच में पैदा कर दिया, तो समझो! आप जन्म गये। और यदि आप उसमें नहीं जन्मे तथा धैर्यवान रहे कि "देखो! कहाँ तक फुसलाता है"? जैसे खुजली करने के लिये हाथ बार–बार खुजली करना चाहता है, मन भी चिढ़ता है, परन्तु आप खुजली न करने के दुःख को शान्त रीति से देखते–देखते ही मिटा देते हैं। इसी तरह यहाँ पर भी इसके जो फुसलाने वाले है, उन सबको आप धैर्य से टालते गये, कोई इच्छा होती है, उसको भी शान्त करते गये। जैसे खुजली के उदाहरण में अन्दर से एक मनीराम यूँ भी बोल देगा 'तूँ पागल है भाई। थोड़ा सा खुजाने से सुख होता है तो खुजला क्यों नहीं लेता?' ऐसी अवस्था में मन को इस प्रकार समझाना कि इस खुजली की भी नहीं सुननी। बस अन्त में करते–करते पाँच सात मिनट बिता ही लिये। ऐसे ही हर एक बन्धन है। जैसे राग, ऐसे ही द्वेष, ऐसे ही मान, ऐसे ही मोह, ऐसे ही नाना प्रकार की इन्द्रियों की लपकें और ऐसे ही अविद्या।

५. अविद्या कब है? जब किसी वस्तु (चीज़) को भी जानने की इच्छा होती है अर्थात् किसी वस्तु को भी समझने के लिये एक लपक या खिंचाव होता है और उस वस्तु (चीज़) को जाने बिना अपने आप में ज्ञान की कमी मालूम होती है, तो यही अविद्या का स्वरूप है। जैसे खाली मन बैठा है, तो खाली बैठे–बैठे उसको अच्छा मन नहीं लगा, तो कहता है "अरे, देखो तो सही वहाँ क्या है?" अब यदि आप वहीं पर मन को प्रश्न कर दो कि "क्या लेगा जान करके, क्या है? कुछ ही हो?" परन्तु अविद्या कहती है कि "नहीं ! जानने से मेरे को ऐसा मालूम होता है कि मैं बना हुआ हूँ, मैं बसा हुआ हूँ, मैं जी रहा हूँ।" यहाँ अविद्या वाला अहंकार, जो रो रहा है कि कुछ जाने बिना 'मैं' नहीं आती। जैसे कोई किसी ने आपको आदर दिया है, तो उसमें आपको एक बड़े आनन्द की खुशी की 'मैं' मिल गयी। परन्तु फिर यदि वह आदर न करे तो आपकी पहले वाली 'मैं' वहाँ रोयेगी कि "मैं वहाँ गया, उसने चाय भी नहीं पूछी"। क्योंकि एक बार उसने आदर कर दिया, अब वही आदर फिर चाहिए। जैसे बच्चे ने आपको मान दे दिया छोटे में अर्थात् बचपन में,अब बताओ, बड़ी अवस्था में वह कैसे देगा, अब वही वस्तुएँ (चीज़ें) यदि आप संसार की चाहेंगे, तो किसी को भी सारी मिलनी हैं नहीं। यदि आप स्वयं नहीं छोड़ेंगे, तो समय पर विधाता ले लेगा। ऐसी अवस्था (स्थिति) में भी तो किसी प्रकार रो रोकर समय बिताना ही पड़ेगा। इसलिये अपने ढंग से नियम बना के धर्मस्वरूप से उस बड़े भले को और बड़े फल को मन में या अपनी दृष्टि में रखकर उस प्रभु के ऊपर पूर्ण श्रद्धा रखना, जो अपने आप से सनातन आनन्द रूप है, सुख का धाम है। एक बार बाहर से यदि मुक्ति मिल गयी, तो उसका आनन्द सदा ही बना रहेगा और उस आनन्द को पाना है। इसलिये उसके मार्ग (रास्ते) में जो तंगी (दुःख) है, उसको ऐसे ही खुजली के दुःख की तरह सहन करते–करते सारे को समाप्त कर देना।

वह भगवान् अपने आप में इतनी तेजी से इस प्रकृति की धारा को चलाता है अर्थात् प्रकृति को क्षण–क्षण तरंगयुक्त बनाता रहता है। उसी की तरंगों में सारा विश्व भासता है। प्रभु का स्वभाव है। ज्ञान रूप से सदा चमकना। उसी का जो ज्ञान है, उसी दृष्टि से प्रकृति क्षण–क्षण तरंग युक्त होती रहती है। प्रभु झाँकता रहता है और प्रकृति उसी से बदलती रहती है। प्रभु का झाँकना नित्य है, कभी भी समाप्त नहीं होता। इससे प्रकृति भी सदा ही अपनी क्रीड़ा करती रहती है, उसी से दुःख सुख को रचती रहती है, स्थिर इसमें कुछ भी नहीं है, केवल प्रभु का ही ज्ञान स्थिर है। प्रकृति का स्वभाव है, क्षण–क्षण बदलते रहना। यदि वह कभी सुख रूप दीखती है, तो बदलते–बदलते दुःख रूप भी हो जाती है और दुःख रूप से सुख रूप में बदल जाती है।

जो दोनों में सम–रूप से टिका रह सके, वह प्रकृति के बन्धन से मुक्त हो जायेगा और उसकी दृष्टि केवल उसी प्रकृति को तरंगयुक्त बनाने वाले प्रभु या परमेश्वर पर ही रहेगी। वह यदि असंग तथा एक रस है, तो यह उसका भक्त भी ऐसा ही हो जायेगा। जैसे हमारे किसी–किसी तीर्थ स्थान पर कोई–कोई मन्दिर है, यही इसी का उन्होंने चिह्न रखा हुआ है। भगवान् की मूर्ति के सामने कभी पड़दा ला देंगे, कभी हटा देंगे। इसका भाव यही है कि भगवान् है जो अन्दर, वह सर्वव्यापक केवल झाँकता ही है। जिस समय उसकी तरंग ऊपर उठती है, तो वह झाँकता है और झाँक करके एक बार आँख बन्द जैसे करता है, तो वही इसमें तरंगमय एक गड्ढा है ज्ञान रूप भगवान् हर क्षण नया–नया सा प्रतीत होता है। भगवान् के प्रत्येक ज्ञान के नव–नव क्षण में प्रकृति भी अपनी लीला करती है। भगवान् का क्षण तो ज्ञान का है, जो कि तरंग का उभरा हुआ भाग है और प्रकृति का क्षण तरंग का गड्ढे जैसा है। भगवान् का झाँकने का क्षण प्रकृति को उत्तेजित करता है और प्रकृति जगत् रचती है।

इसी तरह सारी प्रकृति, क्या वातावरण, क्या सारे जितने देह के अन्दर पाँचों तत्त्व हैं– पृथ्वी , जल, तेज, वायु और आकाश, इन पाँचों में उस ज्ञान की तरंगें हैं और ज्ञान के साथ–साथ प्रकृति की बारीकी तक तरंगें हैं । उसी से देह में खून का दौरा होता है, अन्न का रस सारे शरीर में जाता है, सारे अंग बढ़ते रहते हैं, पत्थर जैसी हड्डी भी बढ़ रही है । उसमें भी वह ज्ञानदेव बैठा है । यदि ऐसा न समझे, तो ये सब कैसे बढ़े ? परन्तु इतना है कि इस मनुष्य को उसका पता नहीं है । इसको तो बस यही पता है कि उसका चेहरा काला है, उसका चेहरा मोटा है, वह मेरे को यूँ कहता है । इस प्रकार एक दूसरे की उलझन तो है, परन्तु अन्दर का जो कुछ वह व्यापक सत्य है और व्यापक तत्त्व है, इसको उसके बारे में किसी प्रकार का कोई ख्याल नहीं है । इसका कारण है– उसका बाहर उलझा हुआ ज्ञान । मन का ज्ञान तो एक ही है, भले उसको उधर उलझा लो, भले इधर ले आओ । अब यदि उधर से छुट्टी मिले, तो इसको जानने के लिये वह कुछ अपना काम करे । बस उधर से मुक्ति (छुट्टी) दिलाने के लिए यही रास्ता है कि पहले मनुष्य दुःख को वरण (स्वीकार) करे । जैसे बीमार मनुष्य अन्न इत्यादि छोड़कर तंगी भी सहन करता है, जले कटे का दुःख भी मनुष्य सहन करता है, कहीं काँटा लग जाये, उसका दुःख भी तो देखते हैं । इसी तरह दुःख तिल तिल जितना सहन करने की आदत डाले । नींद रोकने का दुःख भी सहन करे । बाहर उतना तो ठीक है, जितने में उत्तरदायित्व (जिम्मेवारी) निभाना है, परन्तु व्यर्थ (फालतू) की इच्छायें पूरी करने में, फालतू खाने–पीने, नशा करने में, फालतू संगत में, जो समय लगाना है, उसको सारा समेट लिया, तो बहुत घंटे बच जायेंगे । ज्यादा मनुष्य ऐसे हैं, जो केवल मिथ्या कर्मों में ही समय का यापन (बिताना) करते हैं । परन्तु अपने आपको सही रूप से चलाने के पश्चात्

जितना समय बच गया, उतना एकान्त समझा जायेगा। अब ऐसे समय को साधन में लगाये।

६. प्राणापान स्मृति में बैठे गये अर्थात् समझते हुए श्वाँस लेना और समझते हुए श्वाँस छोड़ना। और यदि अन्न हजम हो गया है, तो शान्त होकर ध्यान में बैठ गये। और कुछ नहीं, तो दुःख होगा। दुःख ही देखने लग गये। अब उस दुःख को ज्यों-ज्यों आप देखने लगेंगे, तो कुछ समझ भी तो आयेगी। जब समझ आने लग गयी, तो समझो! अन्दर बुद्धि जाग गयी। ऐसा होने पर अब कोई आवश्यकता (जरूरत) नहीं कि हमको यह चाहिए कि कोई बड़ा आदमी बताने वाला हो कि अब क्या करें? बस करना क्या है? यही कि जो कुछ भी समझ आ रही है, समझते जाओ। साथ ही इस बात का ध्यान रखना कि खोंटा नहीं कर रहे, मन से खोंटे इरादे नहीं कर रहे और नाना प्रकार की बाहर के सुखों से सम्बन्धित दलीलें या स्कीमें नहीं बना रहे।

इतना अवश्य (जरूर) है कि उनको छोड़ने से, जो तंगी होती है, उसको उसी तरह देख लो, जैसे पहले खुजली के दुःख को सहन करने का दृष्टान्त दिया गया है। बस! इस तंगी को झेलते-झेलते यदि आसन पर पन्द्रह मिनट से आधा घंटा, एक घंटा, डेढ़ घंटा, फिर तीन घंटा तक जागता हुआ कोई एकान्त में आसन पर टिक सका, तो तीन घंटे के अन्दर वह जो भगवान् है, अपना विपरीत परिणाम शुरू कर देगा जहाँ दुःख हो रहा है वहाँ सुख उपजाना शुरू कर देगा तो जैसे ही सुख होने लगेगा, उसको अन्दर की विद्या अपने आप ही प्रकट हो जायेगी। क्योंकि पहले दुःखों में जब समझता था कि "यह क्या है"? "वह क्या है"? अर्थात् दुःख राग-द्वेष का, मान-मोह का पहचानने में आया और उसको अन्दर का पता लगा, इसी तरह जिस समय अन्दर का सुख होने लगेगा, तो यह भी पता लगेगा कि यह सुख कहाँ से आया ? गहराई में जाने पर पता लगेगा कि यह राग के शान्त होने से, यह द्वेष

के शान्त होने से और यह मान–मोह के शान्त होने से मिला है। यह भी पता लगेगा कि ये बन्धन हुए क्यों थे? थोड़े सुख के लोभ (लालच) के कारण से अब खोज करने पर पता चलेगा कि "बाहर का सुख तो छूटना ही था। अब न छूटता, तो पिछली आयु में छूटना था। तो फिर अच्छा है ! यदि ये सुख नहीं मिले, तो कोई परवाह नहीं, इन सुखों के न मिलने का जो दुःख है, उसको मैं ऐसे सहन कर लूँगा, जैसे खुजली का दुःख" बस ऐसा करते–करते अपने जीवन को चेताता जाये अर्थात् नित्यप्रति वैसा ही करने का अभ्यास बनाता जाये।

चेताने का नाम है, चेतन होना। बस ज्यूँ–ज्यूँ चेतता गया, शक्ति पकड़ता जायेगा। उपनिषदों में कहा भी है कि बलहीन को आत्मा नहीं मिलता (नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः)। बल कौन सा ? देह का बल नहीं, जो व्यायाम करने से मिलेगा। यहाँ यह कैसा व्यायाम है ? कि तंगी सहन करने में मन को थोड़ा वीर बनाना। "मन चाही वस्तु (चीज़) नहीं मिली, कोई बात नहीं, खाना तो खा लिया है, पेट तो भरा हुआ है, इसलिये मरते नहीं।"

यदि किसी दूसरे के व्यवहार (बर्ताव) से दुःख हो रहा है, तो उसको भी सहन करना व मन में भाव बनाना कि "कितना ज्यादा दुःख है? मरने लायक तो नहीं, तो थोड़ा सहन करो देखते है कि कितनी देर तंग करेगा?" मन कहता है कि "एक घंटा करेगा।" तो ऐसी अवस्था में इस तरह मन को समझाना कि " एक घंटा ही तंग करेगा, तो क्या है? सहन करूँगा। बीमारी में जैसे दो घंटे, दस घंटे, दस दिन व्यतीत करने पड़ते हैं। उतना तो दुःख नहीं।" इस तरह लम्बे दुःख को देख कर छोटे–छोटे दुःख के जितने भी वे समय हैं उनको सहन करते–करते अपने मन को शान्त रखना। इसी का नाम है "तितिक्षा" अर्थात् जैसे ही मन दुःख को देखकर भड़के, उसको भी शान्त करना, बाहर व्यवहार (बर्ताव) खोंटा होना

चाहे तो, उसको भी रोकना, दूसरे का पाप देखकर मन उसके प्रति बुरा सोचे, उसको भी नहीं सोचने देना। इसका नाम है, "मन को शान्त करना"। यह अन्दर ही अन्दर होगा और अपने आप ही किया जायेगा। अब दूसरा दूसरे क़े लिये कौन करेगा? और यदि ऐसा करते हुए एकान्त में आपने समय बिताना सीख लिया, तो समझो! आपको स्वर्ग का जीवन मिल गया। परन्तु जब तक ऐसे बुद्धि नहीं जागी, मन नहीं जागा, अन्दर करने की शक्ति नहीं जागी, तब तक ठीक है। मन तो अन्दर लगेगा नहीं। परन्तु यह बात भी अवश्य है कि फिर रास्ता भी नहीं मिलेगा, अविद्या तंग करके फिर बाहर ही ले जायेगी। तो इस बाहर से मुक्ति (छुट्टी) पाने के लिये यह आवश्यक है कि "अन्दर जागना"। अन्दर जागने की सबसे बढ़िया दवाई यह है कि "दुःख को सहन करने का अभ्यास करना"। भले फिर अब जप की आवश्यकता (जरूरत) नहीं है। ज्यादा जप तो अब यही होगा, जो अन्दर के शब्द समझने के हैं। जो कुछ वस्तु (चीज़) अन्दर समझ में आ जाये, वही बोल–बोल कर समझनी शुरू कर दे!

मन अपने समय के सुखों के बिछोड़े का दुःख सहन करने में तंगी माने, तो मन को इस प्रकार समझाये कि "मान लो! बीमार हो जाते, न उठकर के जा सकते, तब भी तो बीमारी का दुःख सहन करते"। "तो कोई बात नहीं! जैसे वहाँ तब दुःख सहन करते, ऐसे ही यहाँ सहन करके देखो।" क्या नुकसान है ? आज पाँच–दस मिनट सहन कर लिया, ऐसा मालूम होता है, अब और सहन नहीं होता। कोई नहीं! उठ जाओ, आज इतना ही रहने दो। कल पन्द्रह मिनट सही, परसों बीस मिनट सही। चलो, दस–पन्द्रह–बीस दिन बाद आधा घंटा सही। ऐसे करते–करते तिल–तिल मनुष्य इस अभ्यास को बढ़ाता रहे। बस! इसमें फिर यही देखना है कि कोई शंका मन न करे, जैसे कि खाली बैठे हैं, कुछ और करने का तो पता लग नहीं रहा, मन यही कहता है कि

"खाली तो बैठे हैं, चलो ! किसी की संगत में ही बैठ जायें, कहीं दो घड़ी उसी से बातचीत करके बिता लें।" तो ऐसा ठीक नहीं है। ऐसे में अपने मन को समझाना कि "भाई ! खाली बैठे हैं, किसी का बुरा तो नहीं सोच रहे, उन (व्यर्थ बातों) गप्पों से तो अच्छा है, और मना ! तूँ अभी दुःखी हो रहा है कि तेरे को इस समय दुःख हो रहा है, सुख नहीं मिल रहा, तभी तूँ कह रहा है कि मन को लगाने के लिये कुछ सहारा चाहिए, और कुछ नहीं ! राम–राम ही जपते रहो, ऐसी स्थिति में राम–राम भी जप लो, कोई बात नहीं।" परन्तु समझ को भी तो चेतन करना है। बिना समझते (ज्ञान हुए) ये बन्धन नहीं कटेंगे।

तो यह अन्दर की आध्यात्मिक विद्या है, जिसको पाकर के अपने आपको जानना है, जैसे जितना लम्बा चौड़ा संसार है, इतना ज्ञान बाहर नहीं है, इससे ज्यादा ज्ञान अन्दर का है। परन्तु अन्दर का ज्ञान तब है, यदि अन्दर आँख खुले। अन्दर आँख खुलने का अभिप्राय यहाँ यह है कि "अविद्या, अज्ञान का पर्दा हटे"। अब यह पर्दा हटाने के लिये पहले दुःख का फाटक लाँघना पड़ता है।

बस ! प्रकृति दुःख प्रकट करके बाहर के सुख की याद दिलाकर, उस सुख की ही खोज करने के लिये बाहर की ओर धक्का लगाती है, यही हो गया अविद्या, चित्त, राग, द्वेष और उसी के लिये काम, क्रोध और उसी के लिये इतनी जोर से तरंग कि शरीर को भी उधर चलावे। अब यह सारा प्रकृति का रास्ता, जिस प्रकार चलाने का है, यह आपकी समझ में आ तो सकता है, क्योंकि अन्दर तो हो रहा है, परन्तु समझ में आ तभी सकता है, यदि अन्दर आँख खुले। अब ऐसी आँख खोलने के लिये यही सबसे पहले इस दुःख को आने दो, जैसे ही दुःख आया, इस दुःख को ही थोड़ा–थोड़ा समझना शुरू कर दिया। अब यही समझ धीरे–धीरे बढ़ती जायेगी, एक, दो, पाँच, सात, दस मिनट से करते–करते अन्त में वहाँ तक

पहुँच जायेगी, जहाँ भगवान् का ज्ञान बहुत बारीकी में बड़ी तेज गति से बह रहा है। ऐसे ही उस भगवान् की माया यानी प्रकृति भी उतनी तेजी से ही काम कर रही है। जैसे हम देखते हैं कि देह की सारी नाड़ियों में एक क्षण में वह ज्ञानदेव सारी वस्तु (चीज़) फैला देता है। वह अन्दर ही बैठा, सारे काम कर रहा है, परन्तु फिर भी नहीं दीखता। अब वह क्या है, जो हमारे इस ज्ञान को ढके हुए है? बस यही! बाहर की लगन और बाहर बिखरी हुई ज्ञान की शक्ति तथा उसी के अनुसार बाहर की भड़कना, इसी को धीरे–धीरे थोड़ा–थोड़ा करके समाप्त करना। इस भड़कना को समाप्त इसलिये नहीं करना है कि बाहर इसका आनन्द छोड़ रहे है, बल्कि यह समझकर समाप्त करना है कि बाहर की लगन का अन्त दुःख में होता है, इसलिये बीमारी छोड़ रहे हैं।

इस प्रकार मन को समझाने के लिये अकेले में बैठने की आदत डालें, अकेले बैठने में जो दुःख महसूस होता है, उस दुःख में दृष्टि टिक गयी और दृष्टि टिकाने पर उस दुःख की समझ आने लग गई तथा उसकी जड़ बाहर की तृष्णा रूप भी दीखने लग गयी, तो वही ध्यान हो जायेगा। ऐसा करते–करते यदि समय बिताना आ गया और अन्दर समझ जागने लग गयी, तो समझो! बाहर की लगन से मुक्ति मिलनी आरम्भ (शुरू) हो गयी। अन्त में वहीं पर ही पता चलेगा कि दुःख समाप्त होकर सुख व आनन्द आ गया और बाहर की भटकना मिट गयी। अब यह आत्मा का आनन्द कौन बतायेगा कि "कैसा है"? वही बतायेगा जो इसको जाने और देखे अर्थात् जो इसका साक्षात्कार (बिल्कुल निकट से इसका अपने अन्दर अनुभव) करे।

७. अब सारा जो तीन दिन में कहा गया है उसका भाव इस प्रकार है, यदि इस संसार में भटके हुए ज्ञान को और उस ज्ञान की शक्ति को मनुष्य अपने अन्दर समेट कर अपनी आत्मा का और परमात्मा का सदा बना रहने वाला सुख पाना

चाहता है, तो उसके लिये यह आवश्यक है कि मन बाहर की उलझन से मुक्त हो। तो मुक्त होने के लिये और भी जैसे श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि व प्रज्ञा उपाय बताये गये हैं, परन्तु इन उपायों के साथ–साथ सबसे बड़ा मूल रूप से उपाय यह है कि इस कल्याण के मार्ग (रास्ते) का थोड़ा दुःख सहन करना स्वीकार कर लेना अर्थात् प्रकृति की अनुचित इच्छा पूरी न करने से, जो दुःख होता है, उसको सहन करना, इस दुःख को भुलाने के लिये निद्रा (नींद) में भी नहीं जाना, नशा पीकर के भी इस दुःख को नहीं भुलाना, और जितने मार्ग (रास्ते) जन्म से बच्चे ने इस दुःख को भुलाने के लिये एकत्रित (इकट्ठे) किये हैं अर्थात् विषयों का संग आदि, उन सबको धीरे–धीरे समझ से टालते जाना। इस मनुष्य ने अपने अन्तिम कल्याण (भले) के लिये स्वयं ही अपने आपको निर्देश (ले जाना) करना है यानी कि जिस दिशा में चलाना चाहिए, वह आप ही समझना है, समझ करके फिर उसी के अनुसार ही चलना है। दूसरा कोई भी थोड़ा सा समझा सकता है, सारा और सदा के लिये दूसरा आपको नहीं बता सकता, यह तो अपने लिये आप ही समझना है और अपने लिये आप ही करना है।

इस प्रकार यत्न (कोशिश) करते–करते अपने लिये आप ही समझने की आँख अन्दर खुलेगी, अगर कोई इस मार्ग पर शंका हुई, तो उसका भी समाधान होने लगेगा कि "खोटा तो किसी का कर नहीं रहे, थोड़ा सुख का त्याग कर रहे हैं तो वह भी इसलिये कि इस सुख का (बाह्य जगत् के सुख का) अन्त बुरा हैं, तो शंका किस बात की ?" बस ! इस प्रकार से अपने को धीरे–धीरे थोड़ा जगाना, नींद को भी उचित मात्रा में रोकना और सारे बंधनों को, जो भी सामने आते हैं पहचानने का यत्न (कोशिश) करना। जैसे कि हम देखते हैं कि बाहर कोई भी व्यवसाय करने वाला मनुष्य कितनी समझ के साथ अपने व्यवसाय के लिये मेहनत करके उसको चमकाता

है। इसी तरह अन्दर के व्यवसाय के लिये भी बुद्धि को जगाना है। फिर अन्दर के सारे सत्य उसको यूँ दीखेंगे, जैसे उनका अपने सामने चित्र (फोटो) खींचा हुआ है। जैसे ध्यान में बैठे हुए हैं और मन को अन्दर जगाते–जगाते ऐसा पता लगा अर्थात् ऐसी पहचान हुई कि "भाई ! यह है राग–बन्धन, यह क्या काम करता है"? यह राग–बन्धन अपना बेटा काम (इच्छा) पैदा करता है। काम का मतलब है "इच्छा"। इच्छा क्या है ? कि जो वस्तु प्यारी लगी, मन बस उधर ही उसको पाने को झुका रहता है और उसके न मिलने पर मन तंगी (क्लेश) महसूस करता है, फिर तंगी के कारण मनुष्य से रहा नहीं जाता और इच्छा को पूरा करने के लिये उसके पीछे ही चल पड़ता है। पशु, पक्षी सभी की ऐसी ही अवस्था (हालत) है। अब इस प्रकार ये सब होती हुई बातें अपने अन्दर नाटक की तरह दिखायी देंगी। फिर पता लगेगा कि "भाई ! बन्धनों का परिणाम (नतीजा) तो बड़ा भयंकर है"।

बस ! अब इस भयंकर परिणाम को दृष्टि (नजर) में रखकर धीरे–धीरे थोड़ा–थोड़ा दुःख सहन करते हुए एकान्त में ही अपना आसन ध्यान बढ़ाते गये। इस प्रकार करते–करते यदि कोई मनुष्य अपने को सचेत (ज्ञान युक्त, ज्ञान को जगाने वाला) व सक्रिय (जैसा करना उचित है उसके अनुसार करने वाला) बनाये, तो उसकी बुद्धि स्वयं ही चेतन होती चली जायेगी अर्थात् क्रम से जागती जायेगी जो आगे स्वयं ही निर्देश (इशारा) करेगी कि "कल्याण का रास्ता क्या है ?" कल्याण का मार्ग (रास्ता) यही है कि जिसको धारण करके कम से कम यह जीवन दुर्गति के रास्ते से तो बच जायेगा। दुर्गति क्या है? बस ! प्रकृति के रास्ते से ही चलना, काम आया, उसकी आज्ञा पालन कर ली, लोभ आया, ज्यादा खाना खा लिया चाहे खाने के पश्चात् (बाद) में बीमारी ही हो, क्रोध आया, खोंटे वचन बुलवा गया। इस प्रकार जो यह प्रकृति का खेल है, उसमें मनुष्य सुख को ही दृष्टि में बसाकर, न जाने

क्या–क्या बुरे कर्मों में लग जाता है । अब यदि इस प्रकृति के मार्ग (रास्ते) से ही चलते रहेंगे, तो कोई मनुष्य यह नहीं कह सकता कि "उसकी सुगति होगी ।" यह प्रकृति मनुष्य, पशु व पक्षियों में समान रूप से कर्म (काम) कर रही है । परन्तु मनुष्य के अन्दर एक विशेष वस्तु (चीज़) यही बुद्धि रूप ज्ञान है कि विचार करके सत्य को समझना और प्रकृति के मार्ग (रास्ते) से थोड़ा बच–बच कर चलना । उपनिषदों में भी कहा है कि "भाई ! तुम सामर्थ्य को पहचानो ।" संस्कृत में सामर्थ्य नाम "ईश" का है । ईश का अर्थ है श्रेष्ठ सामर्थ्य । उसी का नाम ईश्वर है । अब यह सामर्थ्य दो प्रकार का है, पहला ज्ञान का सामर्थ्य, दूसरा क्रिया का सामर्थ्य । बच्चे के अन्दर यह सामर्थ्य नहीं कि वह यह समझ ले कि प्रकृति के सुखों का अन्त सुख में होगा या दुःख में । बस ! जब तक यह नहीं पता, तो ज्ञान का सामर्थ्य (शक्ति) नहीं जागा । लेकिन ध्यान् में यदि मन को जगा लिया कि "इनका अंत दुःख में ही है तो समझो ! ज्ञान का सामर्थ्य आ गया ।" ज्ञान का यह सामर्थ्य विचार बिना, ध्यान बिना व विवेक बिना नहीं बढ़ता ।

शास्त्रों में कहते हैं कि "मनुष्य के अन्दर ज्ञान ही अधिक है" । ज्ञान यदि मनुष्य में नहीं, तो मनुष्य और पशु में क्या अन्तर है? अब ज्ञान यही है कि "बाहर के सुखों का दुष्परिणाम (बुरा नतीजा) पहले से ही पहचान लेना ।" अब पहचान तो लिया, परन्तु प्रकृति शक्ति इन सुखों को पूरा करने के लिये बाहर धक्का सा भी तो लगा रही है कि उन्हीं को ग्रहण करने के लिये चलो । ऐसी अवस्था में, ज्ञान के साथ यदि प्रकृति के धक्के को भी सहन कर लिया, तो समझो ! क्रिया का सामर्थ्य आ गया । यह क्रिया का सामर्थ्य ही प्रकृति के ऊपर वास्तविक (असली) अंकुश (खोंटे परिणामों को रोकने वाला) है । अब जैसे–जैसे यह ईश भावना आपके अन्दर बढ़ती गयी, तो समझो ! आप ईश्वर के भक्त बन गये यह भावना वहाँ तक बढ़ाते गये कि जहाँ तक उस परिपूर्ण भगवान् का स्थान

(जगह) है, जो सनातन (सदा बना रहने वाला) सुख का धाम है। इस प्रकार यत्न करते–करते मन को इस प्रकार सुसंस्कृत (इस प्रकार से पवित्रता के संस्कारों से युक्त करना) करना कि"वह सब के सुख में सुखी हो, किसी के दुःख में हँसे. नहीं, किसी के गुण को अवगुण न बनाये, प्रत्युत (बल्कि) उसके गुण की मनोमन प्रशंसा करे और उसके गुण को देखकर अपने मन को प्रसन्न करे, किसी के अवगुण की तरफ ज्यादा ध्यान न दे (उपेक्षा), क्षमा का भाव रखे अर्थात् बाहर बिल्कुल ऐसा रहे, जैसे कि वह अपने आप सब का दुःख सहन कर सकता है, परन्तु किसी को दुःख देता नहीं, तो यह है उन श्रेष्ठ पुरुषों का मार्ग। अपने अन्दर समझ–समझ कर चलना। इन गुणों का अभ्यास करने वाले को दिखावा करने की आवश्यकता (जरूरत) नहीं, दिखावा करने लगे, तो मान आ जायेगा। अपने आप में अभ्यास करते रहे, तो एक दिन पूर्णता भी आ सकती है। परन्तु इसका सबसे पहला फल तो यही है, दुर्गति से बचना। यही ज्ञान है। यदि यही ज्ञान मनुष्य को सही मार्ग (रास्ते) पर चलाने वाला बन गया, तो उसकी दुर्गति नहीं होगी। कम से कम वह मनुष्य तो बनेगा ही। उसकी सुगति होगी, देवता भी बन सकता है, उससे ऊपर के लोकों को भी जा सकता है। परन्तु परम–पद यह है कि अत्यन्त मुक्ति हो गयी और भगवान् का सुख सदा के लिये खिल गया। इतना यदि हो गया, तो फिर वहाँ किसी प्रकार का अभाव (घाटा) नजर नहीं आता कि "संसार छूट गया"। इस अवस्था में ज्ञान कभी (बन्द) समाप्त नहीं होता। यदि ऐसा हो जाये, तो संसार के बीच में हरकत बन्द न हो जाये अर्थात् बन्द तो होती है नहीं, तो इसलिये भगवान् का ज्ञान भी सदा बसा रहता है। यह सारी प्रकृति, जो चेत रही है क्षण–क्षण, यह उसी की समझ से चेत रही है।

जैसे हम जिस वस्तु को जैसा–जैसा समझते हैं, उसी के अनुसार ही वैसी–वैसी हरकत होती है। तो हरकत नाम क्रिया

है यानी प्रकृति और समझना नाम "ज्ञान" है। ज्ञान और क्रिया का अनादि काल से जोड़ा है। भले उसको लक्ष्मी–नारायण कहो, शिव–शक्ति कहो, प्रकृति–पुरुष कहो। तो ये शास्त्रकारों ने अपने–अपने ढँग से कहा है। आपको इसको अपने अन्दर देखने की आवश्यकता (जरूरत) है और बाहर के शब्दों के चक्कर में ज्यादा पड़ने की जरूरत नहीं है। इस प्रकार देखने पर पता लगेगा कि प्रकृति क्षण–क्षण बदलती हुई एक क्षण में और की और दीखती है, शरीर जैसा जन्मा था, वैसा नहीं रहा। तो इसको बदलाने वाला भी तो बैठा है। तो फिर ज्ञान ही वह बदल रहा है, तभी यह भी बदल रहा है। अतः उस ज्ञान की बदलती तेज गति में, वहाँ जाकर इसको प्रकट करना है, जहाँ पर ज्ञान स्वरूप परमात्मा अपनी सूक्ष्म से सूक्ष्म माया रूप शक्ति द्वारा सारे विश्व की रचना आदि करता है। वहाँ तक ज्ञान को जगाकर हमें उसका साक्षात्कार करना है। जब ये बन्धन टालते–टालते आप भी वहाँ तक पहुँच गये, तो कहा जायेगा कि "परमेश्वर मिल गया"। अब इस परमेश्वर का सुख सनातन है, यह अजर अमर है।

८. तो इस सारे का निष्कर्ष (निचोड़) यह हुआ कि मनुष्य जन्म पाकर पाना तो परमपद ही है। उसको पाने का मार्ग (रास्ता) क्या है? बाहर से मुक्ति। मुक्ति पाने के लिये सबसे पहला कारण है, थोड़ा दुःख को स्वीकार करना। कौन से दुःख को ? यही जो कि प्रकृति की आज्ञा न पालन करने से इसने खड़ा करना (बनाना) है। और उसमें अपने व्यवहार (बर्ताव) को सही रखना, मन खोटा नहीं होने देना, तथा जो प्रकृति की लपक या झटक है, उसमें नहीं बहना (जाना)। तो इस तरीके से आप यदि तिल–तिल भर भी साधन करते गये तो पहले दुर्गति से बचा, फिर सुगति आई, और अन्त में यह परम पद मिलेगा, यही सारे उपर कहे हुए का सार (निचोड़) है।

प्रवचन

२६.१२.१६८६

१. बिना मन के टिकाव के किसी को सुख नहीं मिलता। यदि मन विक्षिप्त (चंचल, इधर उधर भागता दौड़ता) रहे, तो ऐसी अवस्था में किसी को भी अपनी अन्तरात्मा में सुख शान्ति का अनुभव नहीं होता। अतः (इसलिये) मन का टिकाव, सुख शान्ति प्राप्त करने के लिये बहुत आवश्यक है। अब जो बाहर के प्राणी और पदार्थों के सम्बन्ध से होने वाला मन का टिकाव है, यह भी सदा किसी के लिये बना नहीं रहता और इसके अन्त में दुःख, रोग व शोक ही हाथ लगते हैं। ठीक है, कि थोड़ी देर मन को उनमें टिका रहने से सुख प्राप्त होता है। परन्तु वास्तविक (असली) सुख तो वह है, जो कि इन सब से (बाहर के प्राणी और पदार्थों से) हटाकर मन के अपने आप में टिक जाने से हो। जो सुख केवल अपने आप में प्राप्त होगा, वह कभी भी बिंछुड़ेगा नही, क्योंकि अपना आपा तो कहीं जाता नहीं। जब अपना आपा अपने साथ बना हुआ है, तो उसका सुख फिर कैसे कहीं जायेगा ? और जो सुख दूसरों के सम्बन्ध से मिलेगा, वह संसार में कभी भी एक जैसा रहने का नहीं है, क्योंकि संसार परिवर्तनशील है। और जो सुख कभी मिला है, वह सुख एक दिन वैसा न रहकर उल्टा अनुभव में आयेगा अर्थात् सुख के स्थान पर दुःख के रूप में परिवर्तित (बदला) हुआ हुआ दृष्टिगोचर होगा। बाहर मन को जाने की कोई शर्त ही न रहे और अन्दर अविद्या, निद्रा (नींद) इत्यादि से मुक्त उसका ज्ञान अपने आप में जागता हुआ टिका रहे। मन्त्र योग या जप इत्यादि करने से भी थोड़ी देर अपनी आत्मा में मन का टिकाव होता है। इसी तरह मन को टिकाने के लिये और भी कई सहारे है। परन्तु ये जप इत्यादि भी तभी तक़ काम करेंगे, जब तक कोई शंका,

भय या तृष्णा इत्यादि नहीं खड़ी हुई। और जब वे खड़े हो गये, तो उस समय जप भी असमर्थ हो जायेगा तथा और भी जितने मन के टिकाने के कारण है वे सब झूठे साबित हो जायेगे। तो सबसे श्रेष्ठ मुख्य कारण वही है कि जिससे अपने आप में बिना उपाधि के (बिना निमित्त के, बिना किसी बाहर की शर्त के) टिकाव मिले। इसी को शास्त्रों में 'मुक्ति' शब्द से कहा गया है। अब जिन जिन बन्धनों से बँधा होने के कारण, यह जीव मुक्ति को प्राप्त नहीं कर रहा है। आज उन्हीं सब की थोड़ी चर्चा की जा रही है।

इन बन्धनों के नाम शास्त्रकारों ने खूब अनुभव करके लिख दिये है ताकि उन्हीं के नामों द्वारा मनुष्य अकेले में जाग करके अपने अन्दर भी उनका अनुभव करे, और उनको पहचान कर तथा उन्हीं को दुःख की जड़ रूप से अनुभव करके उनसे मुक्ति प्राप्त करने के लिये यत्न करे, क्योंकि खाली आदत वाला मन तो चुपचाप बैठने पर निद्रा (नींद), आलस्य व सुस्ती की ओर ही जायेगा। इसलिये कुछ शब्दों का तो अन्दर से उच्चारण होना चाहिए, जिस नाम के सहारे मन को ध्यान में जगाया जा सके या विचार जगाया जा सके। अब यदि ये ज्ञान के शब्द नहीं जागें, तो जैसा कि जपयोग वाले कहते हैं, "भगवान् के नाम का जप ही कर लो।" तो जपयोग का भी अभिप्राय यही है कि "भगवान् का नाम लेते लेते अपनी आत्मा जागे और अन्दर के बन्धन पहचानने में आयें, जिन सबसे वह भगवान् मुक्त है, जिसका कि नाम अन्दर लिया जा रहा है। परन्तु यदि भगवान् का नाम लेते लेते आलस्य सुस्ती व अज्ञान अन्धकार में ही पड़े रहे और अपनी जीवात्मा के बन्धनों को नहीं पहचाना, तो ऐसा परमात्मा का भजन अधूरा (थोड़े फल वाला) ही समझना चाहिए। इसलिये भगवान् के भजन का पूर्ण फल यही है कि जो भगवान् के अन्दर गुण है, वे अपने मन के अन्दर ऐसे प्रकट हों, कि प्रकट हो करके अन्दर जितना भी बन्धनों का कूड़ा

कचड़ा है, सारा बहा करके बाहर कर दें। ऐसी अवस्था में, मन शान्त रूप में टिका हुआ, अपने आप में उसी का ही आनन्द पायेगा, जिसका कि नाम जप रहे हैं। जब ऐसा हो गया अर्थात मन जाग गया, तो उस समय नाम की भी कोई आवश्यकता नहीं। यहाँ ध्यान बहुत बारीकी में होगा।

इसके लिये अब यही है कि जिन जिन बन्धनों से मनुष्य बँधा हुआ है, उनके नामों को भी जानना आवश्यक है, ताकि नाम जपते जपते जब भी वे बन्धन आयें, तो वह बड़ी आसानी से पहचानकर उनको ठुकरा (दूर कर) दे। क्योंकि मान लो! किसी भी मनुष्य का व्यवहार (बर्ताव) हमारे हित को बिगाड़ने वाला है, तो हम यही चाहेंगे कि आराम से ऐसे मनुष्य से किनारा ही कर लें। अतः ये जो अन्दर के अवगुण या विकार हैं, उनको भी इतना ही आवश्यक (जरूरी) ढंग से जानना पड़ेगा, जैसे कि त्यागने वाली और दूसरी वस्तुओं को जानते है, ये सब अवगुण या विकार अन्दर खूब गहराई में छुपे रहते हैं। इनकी दो अवस्थाएँ हैं, एक तो चित्त में, जो बहुत बारीकी में हैं,दूसरा मन में, जो ऊपर ऊपर हैं। जैसे कि एक विकार है, काम (इच्छा)। काम (इच्छा) का अर्थ है कि ऐसी एक इच्छा, जो किसी वस्तु को शुभ रूप से दिखा कर मन को उसको पाने के लिये प्रेरित करती है, जिसकी सोच आते ही मन खिल जाता है कि 'आहा यह तो मिलनी ही चाहिए ! यह काम (इच्छा) मन के अन्दर है और जो इससे भी बारीकी में अन्दर छुपा बैठा है, चित्त रूप यानी कि चिन्तन रूप, उसका नाम राग है अर्थात् जिस वस्तु से कभी सुख हुआ है, उसी का मन में चिन्तन बसा हुआ है और वह कभी भी मन से नहीं जाता। जैसे कि बच्चे को जन्म से ही यह मालूम नहीं था कि "अमुक (फलाँ) फल मीठा है"। परन्तु जैसे ही उसने एक बार चाख लिया,तो उसको पता लग गया कि "यह मीठा है।" यह अब उसके चित्त में बस गया है। इस अवस्था का नाम हैं, राग। इस तरह ये तीन चित्त है, पहला तो यही है

राग अर्थात् सुख वाली वस्तु को प्राप्त करने के लिये, जो भी मन में चिन्तन की धारा बहती रहती है, वह राग है, दूसरा, दुःख वाली वस्तु को नष्ट करने के लिये या उससे पीछा छुड़ाने के लिये, जो भी चिन्तन की धारा बहती रहती है, वह द्वेष है, तीसरा, एक प्रकार की और सोच है कि जब कोई वस्तु नहीं मिली या नहीं मिल सकती या कोई दुःख नहीं हट सका, तो उसी के लिये पश्चात्ताप, शोक, व चिन्ता अर्थात् ऐसी चिन्ता जिसमें बाहर क़ी भी कोई खबर न रहे उसमें पड़े पड़े दुःखी होते रहना, वह मोह है। अतः इन तीन प्रकार से चित्त बड़ी बारीकी में सदा ही बहता रहता है, भले यह प्राणी नींद में सो रहा हो, भले बाहर किसी तरह के काम धन्धे में लगा हो। और जो मन है, वह अपने ढँग से ही अपने बाहर के कामों (इच्छाओं) को रचता रहता है। जैसे उस मन ने इच्छा पैदा की, तो अपने को उसी में लगा दिया, क्रोध पैदा किया, तो लड़ाई में लगा दिया, लोभ पैदा किया, तो लोभ की वस्तु के पीछे लगा दिया, किसी का थोड़ा सुख देखा, तो ईर्ष्या में जलने लग गया और वहीं उल्टे उल्टे वचन उगलने लग गया। तो इस प्रकार मन के अन्दर आने वाले ये उपर के जितने भी भाव हैं, इनका नाम विकार है। और जो चित्त के अन्दर बैठे हुए इनकी जड़ हैं अर्थात् जो इनको पैदा करने वाले हैं, उनका नाम बन्धन हैं। और एक इन बन्धनों को भी पैदा करने वाली अत्यन्त बारीकी में बैठी हुई शक्ति है, जिसका नाम है अविद्या, जिसके कारण से मनुष्य समझ में बाहर कुछ जानते हुए, बाहर ही बना रहना चाहता है और मन ऐसा समझता है कि यदि संसार की इस चहल पहल से बिछुड़ जायेंगे, फिर तो अज्ञानमय अन्धकार आ जायेगा। इसलिये बाहर किसी न किसी वस्तु का, कुछ न कुछ पता अवश्य लगते रहना चाहिए कि "हाँ भाई ! कुछ न कुछ है।" यदि ऐसी अवस्था हो कि कुछ पता नहीं लग रहा, तो मन शिकायत करता है कि "हम तो रहे ही नहीं"। हर समय इस जीवन

को जानने की लटक व लपक है। जरा बाहर से मुख मोड़ा नहीं कि अविद्या कुछ न कुछ जानने के लिए तंग करती है। यह इतना बारीकी का बन्धन है कि जिस समय आप ध्यान में जायेंगे, वहीं मिलेगा।

तो ये चार हुए अविद्या मोह, राग व द्वेष। अब इसी अविद्या के कारण से तथा राग–चित्त, द्वेष–चित्त व मोह–चित्त के कारण से दृष्टि बाहर भागती है, क्योंकि ज्ञान चाहिए कि 'बाहर सुख की वस्तु (चीज़) कहाँ कहाँ हैं ? और ज्ञान जन्म से बच्चे ने बाहर से ही प्राप्त करना सीखा है। बस इस सुख की वस्तु (चीज़) की खोज में जितनी दृष्टियाँ बाहर जाती हैं और जो इन्द्रियो को सब प्रकार से बहिर्मुख बनाता है, वह मन ही है, कि 'दृष्टि निकालो और उसके बीच में विचार करो कि हमारे स्वार्थ की वस्तु (चीज़) कहाँ–कहाँ उपस्थित है। तो इस प्रकार यह सारा दृष्टि–बन्धन है। इसके पश्चात् (बाद) फिर एक और दूसरा बन्धन है जिसका नाम है– संशय। जहाँ तक यह प्राणी बाहर स्वार्थ के कारण बँधा हुआ है, वहाँ तक मन से संशय और भय हटता ही नहीं। हर समय दृष्टि बाहर ही खुली रहती है और बाहर की वस्तुओं को ही पहचानती रहती है कि "वह क्या है? वह कौन है? कोई ऐसा तो नहीं, मेरे को हानि पहुँचाने वाला हो या ऐसा तो नहीं, मेरा किसी प्रकार से अहित हो जाये।" पहचानने के लिये हर समय मन बाहर इतनी दृष्टि खुली रखता है कि एक क्षण के लिये कहीं अन्दर आना नहीं चाहता। कारण कि उसको ऐसा प्रतीत (मालूम) होता है कि "बाहर जानने से मैं बना हुआ हूँ और यदि बाहर की वस्तुओं का यह ज्ञान ही मिट गया तो समझो मैं ही मिट गया"। अब जो इस ज्ञान के रास्ते 'मैं' मिलती है, वह मान का बन्धन है। इसको उदाहरण के तौर पर इस प्रकार समझा जा सकता है। जैसे कि किसी ने आपको आदर मान दिया और आपने भी उसको अपना पिता, मित्र या भाई इत्यादि कुछ माना। अब उसके मान देने से आपको सुख

का अनुभव हुआ और ऐसी सुख की अवस्था में आपको एक उत्तम, मीठी 'मैं' मिली, कि "भाई ! वहाँ गये, हमें बड़ा आनन्द आया, उसने हमारा बड़ा स्वागत किया ।" अब यह जो "आनन्द आया" या जो इस मनुष्य को अपनी 'मैं' का अनुभव हुआ, यह दूसरे व्यक्ति विशेष का एक समय का व्यवहार (बर्ताव) ही था । और यह भी आवश्यक (जरुरी) नहीं कि हर स्थान व समय पर ऐसा ही स्वागत हो । अब एक स्थान पर जो उसको 'मैं' मिली है, उस 'मैं' का उसको ऐसा राग हो गया है कि "जब तक संसार में मैं बना रहूँ, ऐसी मेरी 'मैं' मुझे सदा मिलती ही रहे ।" यदि यह 'मैं' उसको नहीं मिलती, तो वह छटपटाता है । इसी का नाम है, मान–बन्धन । जैसा कि उदाहरण में भी बताया गया है कि उस व्यक्ति में किसी दूसरे ने, न जाने किस स्वार्थ के कारण से आदर मान देकर 'मैं' उत्पन्न कर दी है, जो कि सदा बनी नहीं रहनी, परन्तु यह "मैं" पाने वाला उसको सदा बनाये रखना चाहता है । इसी 'मैं' का नाम "मान" है ।

२. अब इन बन्धनों व विकारों को समझने के लिये केवल अक्षर को सुनने या पढ़ने से थोड़ा ही काम चलेगा । इसके लिये ऐसा है, थोड़ा एकान्त में बैठें और इन शब्दों के सहारे अपने मन को इस तरह जगाये कि इनका अपने अन्दर ज्ञान हो । जैसे कि कहीं आदर मान नहीं मिला, तो उसके न मिलने के कारण मन जो अन्दर रो रहा हो, उस रोते का उसको पूरा पता लगे, कि "देखो जिन्होंने आदर मान नहीं दिया, उन्हीं की दृष्टि बन रही है, क्रोध भी आ रहा है, । इस प्रकार बोल बोल कर समझकर अपने अन्दर विवेक जगाये । और जब मन बाहर के सुखों के ज्यादा पीछे पड़ने लगे, तो विवेक के शब्द बोल बोल कर कहे "अच्छा भाई ! जो सुख तुम्हें बाहर मिला है, क्या यह सकल आयु बना रहेगा? अर्थात् कितने दिनों तक ? फिर कितने वर्षों तक? जब यह सुख सदा नहीं बना रहना, फिर भी मना । इनकी लपक में लगे

हुए हो, और आयु व्यतीत होती जा रही है, जब यह सुख नहीं मिलेगा, तो कैसे निर्वाह होगा ?" इस प्रकार यही शब्द बोल बोल कर विचार द्वारा सत्य का ज्ञान उत्पन्न करना है। इसी का नाम वितर्क, विचार रूप ध्यान द्वारा वास्तविकता (असलियत) का ज्ञान करना है। और जो कोई दूसरा आपको बोलकर समझायेगा, वह तो उतनी देर का ही है, जितनी देर वह बोल रहा है। इन सबको अन्दर पहचानने के लिये मनुष्य स्वाध्याय करे। स्वाध्याय का अर्थ है अपने आप का अध्ययन अर्थात बार बार अपने मन के अन्दर प्रतिदिन इनका ध्यान करे कि "किस प्रकार ये बन्धन मनुष्य को दुर्गति के मार्ग (रास्ते) पर ले जाते है"? और इसी सत्य को मन की गम्भीरता में अनुभव या महसूस करने का यत्न करे। यदि इस सत्य को वह महसूस कर गया और मन के अन्दर पक्की छाप बैठ गयी, तो यह छाप उसको बन्धनों से मुक्त कर ही देगी। ऐसे स्वाध्याय में निद्रा (नींद) का भी ख्याल रखे। निद्रा (नींद) वाला मन कहेगा कि "दस पन्द्रह मिनट आसन पर बैठ लिये है और समझ भी लिया है, और ज्यादा क्या समझना है? अब सो जाओ।" यह सब निद्रा (नींद) का तनाव ही करेगा। परन्तु घण्टों भर उस मन को रोके रोके इस विवेक को जगाना है, ताकि मन महसूस करने लग जाये कि "जिधर वह जा रहा है उसका जाना तुच्छ व सारहीन है और बल्कि उधर जाने से हानि (नुकसान) है, राग द्वेषादि की सोचों में पड़े उल्टे उल्टे मार्गों (रास्तों) पर चलकर बुराई ही मिलनी है, तो बताओ फिर अभी इसके लिये क्यों यत्न करना?" इस तरह करके ज्ञान यदि आराम से मन के अन्दर टिक गया, तो यही ज्ञान का योग समझा जायेगा जो कि मुक्ति का साधन बनेगा। परन्तु ज्ञान योग के लिये आवश्यकता है, ध्यान योग की। ध्यान का अर्थ है, "एक ही दिशा में मन द्वारा खूब सोच विचार करना अर्थात् बाहर के अभिप्रायों से मन को हटाकर अन्दर ही चिन्तन में लगाना।" परन्तु जब तक ध्यान

करने की योग्यता नहीं आती, भले ही राम राम, शिव शिव, ॐ ॐ इत्यादि किसी भी मन्त्र का जप करता हुआ बैठे। परन्तु जब जागते जागते नींद से थोड़ा छुटकारा हो गया, मन जागने लग गया, तो इन बन्धनों की उलझन को पहचानता हुआ विचार के शब्द जगाये, भले यहाँ शब्द बोलना राम राम भी छूट जाये।

अब यह विचार भगवान् की तरफ ही ले जायेगा, क्योंकि यह उन सब बन्धनों का भेद खोलेगा, जो कि भगवान् के सुख को छुपाये (ढाँके) हुए हैं, और जब तक भगवान् का ज्ञान सुख रूप व आनन्द रूप नहीं जागा, तब तक मन का आकर्षण (खिंचाव) बाहर ही बना रहेगा। कारण कि ध्यान योग से यह ज्ञान तो कर लिया कि "बन्धनों का परिणाम दुःखदायी है परन्तु अविद्या अन्दर मन नहीं लगने देगी।" ऐसी अवस्था में, नींद को भी टालता हुआ दुःख सहन करता हुआ बैठा ही रहे तथा मन में यही विचार करे कि "मन संस्कारोंवश जिन जिन वस्तुओं को जानने के लिये व्याकुल (उतावला) हो रहा है, वहाँ दुःख के सिवाय कुछ भी नहीं रखा है, इसलिये उनके बारे में सोचने की कोशिश भी नहीं करनी।" बस, पहले पहल तो यह अविद्या ही तंग करेगी। संस्कार जगाकर उन्हीं पुराने सुखों की दृष्टियाँ बनाकर उन्हीं का ध्यान करवायेगी। परन्तु ध्यान करते करते, अभ्यास से जब सच्चाई झलकने लग जायेगी, तो मुक्ति पाने के लिये बल भी अन्दर बढ़ता जायेगा और मन अपने आप में टिकने भी लग जायेगा। फिर यही पता लगेगा कि यह तो सारा ज्ञान ही बह रहा हैः भले वह राग–रूप है, भले द्वेष–रूप है, भले काम (इच्छा) रूप है, भले क्रोध–रूप है। सारा अनन्त रूप वह ज्ञान ही है, और कुछ है ही नहीं। क्योंकि उस अविद्या की जान आपने निकाल दी, जो आपको बाहर ही उलझाकर सत्यानाश की ओर ले जाना चाहती थी। जिस प्रकार समुद्र में एक के बाद एक तरंग पड़ती रहती है व कोई तरंग भी टिकती तो है

नहीं, उसी प्रकार ऐसी ही ध्यान करने वाले की अवस्था (स्थिति) हो जाती है। वह बन्धनों की आवा–जाई अर्थात् बन्धनों का आना जाना को देखता हुआ, खुजली, के दुःख की तरह तंगी को सहन करता हुआ, साक्षी रूप से बैठा रहता है। अन्त में भगवान् का धाम सुख रूप व आनन्द रूप प्रकट होने पर उसको मालूम होता है कि "ठीक है मैने जो पाना था, वह पा लिया है।" इसलिये बुद्धि जब तक इन बन्धनों को पहचान नहीं लेती कि इनका अन्त महान् दुःख में होता है, तब तक वह इन बन्धनों को छोड़ने के पक्ष में भी नहीं होती है। जब इन बन्धनों को पहचान कर समझते समझते टालना आ जायेगा, तब होगा मन का निर्निमित्त टिकाव अर्थात् मन बिना बाहर किसी शर्त के अपने आप में टिक जायेगा। मन का टिकाव करने के लिये शास्त्रों में कई उपायों का वर्णन है, जैसे मन्त्र जप, औषधि सेवन (नशे इत्यादि वाली) इत्यादि। परन्तु इनके सहारे होने वाला मन का टिकाव सदा बना रहने वाला नहीं है और न बना रहने के अतिरिक्त, मन का टिकाव मौके (जरूरत के समय) पर होगा भी नहीं। जिस समय मन में खोटे कर्मों व खोंटे विकारों का भड़काव आयेगा, तो इन अन्य उपायों में से कोई भी काम नहीं आ सकेगा, परन्तु यह जो निर्निमित्त ध्यान, समझ से होगा और मन को बाँधने वाली जितनी भी शर्तें हैं बाहर, उनको उड़ा देने पर यह ध्यान होगा, यह ध्यान स्वाभाविक होगा। एक बार यदि यह ध्यान मिल गया, फिर इसका नाश नहीं होगा। जब ऐसा ध्यान करते करते ध्यान .का विस्तार हो जायेगा, तो पता चलेगा कि "जो बन्धन एवं विकार मेरे अन्दर आकर के मुझे परेशान करते थे, वही बन्धन व विकार सब मनुष्यों को भी उसी तरह परेशान करते है।" वास्तव में "करने वाला" करके और कोई दिखायी नहीं देगा, सिवाये उस भगवान् की माया के। बस इतना जरूर है, थोड़ी तपस्या की आवश्यकता (जरूरत) है। तभी यह सारा खेल समझ में आयेगा।

३ अब इसके लिये बन्धनों के विपरीत थोड़ा बलों को, विकारों के विपरीत थोड़ा गुणों को भी समझना व अपने अन्दर पैदा करना पडेगा। सबके सुख में सखी रहते हुए मैत्री भावना बढ़ानी पड़ेगी, दूसरों के सुखों को देख कर जलना नहीं, द्वेष नहीं करना, दूसरों के दुःख में दया रखनी, दूसरों के गुण देखना, अवगुण नहीं पहचानना। इसी प्रकार विकारों से विपरीत जितने भी गुण हैं, उनको अपनाना। काम (इच्छा) के विपरीत वैराग्य, क्रोध, के विपरीत क्षमा, लोभ के विपरीत संतोष व दुःख में धैर्य इत्यादि हैं। अब इन बलों व गुणों को धारण करने में, जो तंगी होती है, उसको सहन करे। दुःख में बच्चे की तरह रोये नहीं, और जब तक यह मनुष्य बच्चे की तरह बिना सोचे समझे चलता है, तब तक वह बालक ही है, भले आयु से बुढ्ढा हो जाये। इस प्रकार इन गुणों व बलों को धारण करने के लिये मनुष्य को खूब यत्न करना पड़ता है। रात्रियाँ जागकर, अकेले बैठकर, ध्यान में मन को जगाना पड़ता है, जिससे कि अपने अन्दर दोषों का ज्ञान हो और उनको हटाने के लिये गुण पैदा करने का यत्न हो। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त इस प्रकार है:

४ कोई एक अफसर था। उसकी रहने के लिये अपनी एक बड़ी कोठी थी, उसके साथ एक आँगन भी था, जिसमें दो तीन सौ आदमी आराम से बैठ सकते थे। एक बार उसी स्थान पर मेला वगैरह लगने के कारण काफी लोग दूसरे स्थानों से वहाँ आये हुए थे। उस मेले में बाहर से आये हुये लोगों में कुछ गरीब जनता भी थी, जिसको बेचारे, छोटे छोटे बच्चों के साथ मेले में अधिक भीड़ के कारण रात व्यतीत करने के लिये उचित स्थान नहीं मिला था। अब ऐसे रात के समय में कोई उचित स्थान न मिलने पर उन्होंने उसी अफसर की कोठी के बाहर, जो थोड़ी जगह थी, उसी में अपनी रात व्यतीत करने का विचार किया। अब वह अफसर, जैसा कि आराम वाले स्वभाव का था और यह चाहता था,

कि कोई भी उसकी निद्रा (नींद) खराब न करे। परन्तु उन लोगों के वहाँ ठहरने के कारण से उस अफसर के कानों में कुछ हल्ला गुल्ला जैसी आवाजें सुनने लगी, जिससे उस अफसर की निद्रा (नींद) खराब होने लगी। बस, जब उसको पता लगा कि कुछ लोग उसकी कोठी के बाहर ठहरे हुए हैं, तो इस शंका से कि रात को वे यहाँ पर गन्दगी फैलायेंगे, उस अफसर ने बाहर आकर के उन लोगों को वह स्थान छोड़ने के लिये कहा। तो डर के कारण बेचारे। वे लोग अपने छोटे छोटे बच्चों इत्यादि के साथ उस समय चले गये, परन्तु रात व्यतीत करने के लिये और कोई उचित स्थान न मिलने पर, फिर वहीं पर वापिस आ गये। अब उस अफसर ने फिर उनको अपना स्थान छोड़ने के लिये कहा और राज्य, सरकार आदि का भय दिखाकर डराया धमकाया। ऐसा करते करते उन्होंने दो तीन घण्टे उस अफसर को इतना परेशान किया कि दो तीन बार वे वहाँ से गये और पुनः यह सोचकर कि अब तो वह अफसर सो गया होगा, फिर वहाँ आ जाते। तो ऐसे रात के समय में जब काफी देर वे ऐसा करते रहे, तो वह अफसर बहुत परेशान होकर लाल पीला होकर बोलने लगा और सोचने लगा कि "मैं क्या करूँ? इन लोगों को यहाँ से कैसे हटाऊँ? क्योंकि रात को अपने बच्चों इत्यादि के साथ मेरी जगह पर ये गन्दगी फैलायेंगे और इनके हल्ले गुल्ले से मेरी नींद भी भंग होगी।" और यहाँ तक सोचने लगा कि पुलिस को बुलाकर इनको यहाँ से निकलवाऊँ। संयोगवश कोई एक महात्मा भी उसी अफसर के समीप ही उस रात ठहरा हुआ था। अब यह सारी बात उस महात्मा के कानों में भी पड़ी। महात्मा को उस अफसर की परेशानी को देखते हुए दया आयी कि "यह अफसर बेचारा नाजायज परेशान हो रहा है।" तो महात्मा ने उस अफसर को सलाह दी कि "देखो ये लोग बेचारे मेले ठेले में आये हुए हैं और गरीब जनता हैं, इनको धर्मशाला में स्थान नहीं मिला, इसलिये

कोई जगह न मिलने के कारण आपकी जगह खाली देखकर रात व्यतीत करने के लिये यहाँ ठहर गये हैं। आप, ऐसे परेशान होने से नींद तो खराब करोगे ही, बल्कि अपने आपको कोई रोग ही लगा लोगे। इतना है, तुम जरा इन लोगों के दुःख को मनोमन देखना शुरू करो। ये बिना दुःख के तुम्हारी जगह का सहारा नहीं ले रहे हैं, वास्तव में इनको कोई और ठिकाना, इस रात के समय में नहीं मिल रहा है और इनका यह गुण देखो कि "बेचारे, आपके साथ लड़ाई झगड़ा नहीं करते, ईंट पत्थर नहीं फेंकते।" आपको परेशान थोड़ा ही कर रहे हैं। और आप इनका अवगुण देखते हो कि "लो जी! मुझे दुःख दे रहे है, मुझे सोने नहीं देते, हल्ला कर रहे हैं, इनके बाल बच्चे गन्दगी फैलायेंगे और मेरी जगह बिगाड़ेंगे इत्यादि इत्यादि।" महात्मा ने समझाया कि आप जरा इन छोटे छोटे बच्चों का दुःख तो देखो, जिनकी गन्दगी से आप डरते हो, वे बेचारे कितने परेशान हैं। यदि इनको रात व्यतीत करने के लिये जगह मिल गयी, तो बेचारे, अपने बच्चों को दूध पिला लेंगे। रात को सुला लेंगे। बच्चे तो बेचारे सारे भगवान् का रूप हैं और सारों के (सभी के) बराबर हैं। इसलिये तुम थोड़ी देर शान्त होकर इनके दुःख को पहचानों और पुनः इनकी बाध्यता (लाचारी) समझकर इन पर दया का भाव रखो। ऐसी जरूरत में इन लोगों को इस ठिकाने का जो सुख व आराम मिल रहा है, इनके इस सुख क़ो देखकर मनोमन सुखी होने का यत्न करो और जो तुम्हें इनके इस स्थान पर गन्दगी फैलाने की शंका हो रही है, वह भंगी से दो चार रूपये देकर सुबह साफ करवा लेना, परेशान मत होओ, चुपचाप बैठो। उनके दुःख का दर्शन करके देखो तो सही, तुमको नींद भी आ जायेगी। सब प्रकार से ठीक हो जायेगा और तुम्हारा पुण्य भी हो जायेगा"। परन्तु उस अफसर का मान बहुत भड़क रहा था कि "मैं इतना बड़ा अफसर हूँ, पुलिस वाले मेरे साथ हैं, यदि मैं चाहूँ तो अभी इनको दण्ड दिलवा

दूँ।" फिर भी उसने महात्मा की शर्म के कारण, क्योंकि वह महात्मा उसका पहले जानकार था, शान्त ही रहने का निश्चय किया। उसके मन में यह भाव आया कि यह महात्मा कहीं यह न सोचे कि "देखो यह कितना निर्दयी व्यक्ति है। मेरे समझाने पर भी नहीं समझा।" इस तरह मन को मार कर वह चुपचाप बैठने के लिये तैयार हो ही गया और खुजली के दुःख की तरह इस मान के दुःख को देखने लग गया। उसके मन में बैठे–बैठे कई भड़काव आयें कि "चल निकल बाहर और फिर उनको धमका, पुलिस को सूचना दे।"

५. इस तरह हट हट कर मन उसको बाहर कुछ न कुछ करने के लिये उकसाये। मान के भड़काव में उस अफसर के मन में जैसे आग सी जलने लगी और चेहरा भी जैसे खराब सा लगने लगा। तो देखो अब यही "भव–तृष्णा है," जो कि बार बार बाहर कुछ न कुछ किसी न किसी रूप में उत्पन्न करने के लिये प्रेरणा करती है। जैसे इस दृष्टान्त में इस अफसर को यह धक्का सा लगा रही है कि "चल उठ" यह अफसर उठने वाला भी हो गया। उठ के पुलिस के पास जा, यह पुलिस बुलाने वाला हो गया है। फिर इसके मन में हुआ कि "इनको दण्ड दिलवा"। तो ये दण्ड दिलवाने वाला हो गया। तो यह जो "होना ही होना" है, यही सब बाहर जन्म होना है। यही संसार में (होने की) भव–तृष्णा है। और जब ये सब पूरी हो गयी। तो फिर मन सदा इसमें भी खुशी से नहीं टिक सकता। तब मन की इच्छा होती है कि आलस्य, सुस्ती व नशे इत्यादि में पड़कर सो जाओ और अन्त में मृत्यु भी इसी का ही एक भाग है। यही "विभव–तृष्णा" है। अब इन दोनों प्रकार की तृष्णाओं से हटने के लिये ही महात्मा ने उस अफसर को कहा कि "थोड़ा मान के दुःख को (गम) खालो और चुपचाप बैठ जाओ"। परन्तु चुपचाप बैठने पर भी उस अफसर का 'मान' शान्त नहीं हुआ। मन बार बार 'मान' को याद करके यूँ रोने लगा कि "देखो मैं

इतना बड़ा अफसर हूँ, तीन बार मना करने गया, परन्तु इन लोगों ने मेरी एक भी नहीं मानी और मेरी जगह पर जबरदस्ती आकर सवार हो गये।" परन्तु साथ ही उसको महात्मा की बात याद आयी कि "यह मैं" जो बाहर के अधिकार आदि के सहारे से मिली हुई है, वह सदा एक जैसी नहीं बनी रहती। देखो जीते जी वह काम नहीं आ रही है।" "अब पुलिस वालों को बुलाने जाये, तो वे इन लोगों को निकाल कर चले जायेंगे। यहाँ से जाने पर, उनको जब कोई उचित स्थान नहीं मिलेगा, तो वे लोग फिर आ जायेंगे। मेला ठेला है, कौन उनको रोकेगा ?" तो अब यह बतलाओ कि "इस तरह से यदि कोई चाहे कि वह संसार की वस्तुओं से सुख ले और संसार में अपनी 'मैं' पैदा करके अर्थात् सामर्थ्य शक्ति पैदा करके सुख ले, तो ऐसा मनुष्य तो जब तक नादान या बच्चा ही समझना चाहिये। मूर्ख तो कोई कहना ठीक नहीं। क्योंकि ये तो स्वाभाविक सब के साथ है।" अब चुपचाप बैठने पर जैसे उस अफसर को 'मान' का बन्धन तंग कर रहा था, ऐसे ही सुख का राग भी तंग करने लगा कि निद्रा (नींद) नहीं आ रही, क्योंकि ये हल्ला गुल्ला कर रहे हैं।" द्वेष का ज़हर भी चढ़ने लगा। भंगी को बुलवाकर सफाई करवाने का बोझा भी परेशान करने लगा। परन्तु वह अफसर धैर्य (धीरज) से इस सारे दुःख को देखता ही रहा। वह महात्मा की बात को याद करता हुआ बार बार मन को समझाता ही रहा कि "एक रात की ही बात है, कल तो मेला ही समाप्त है, आज बल्कि दया करके पुण्य कमा लो, इतने लोग तुम्हारी जगह का लाभ उठा लेंगे, और कोई इतनी लम्बी चौड़ी समस्या भी नहीं, गन्दगी वगैरह, सुबह भंगी को दो चार रूपये देकर साफ करवा लेना।" ऐसा करते करते आध पौना घण्टा ही लगा। बस, वह मन के अन्दर एक ऐठन सी ही थी। खुजली की तरह रड़कती रड़कती नीचे बैठ ही गयी और उसके बैठते ही उसे एक दम निद्रा (नींद) आने लग गयी। वह निद्रा (नींद) में पड़ गया।

फिर सुबह पाँच बजे उठा और उठकर सबसे पहले महात्मा के पास ही गया तथा जाकर बोला कि "महाराज आपने मुझे रात बचा लिया है, अन्यथा सारी रात इन्होंने मुझे परेशान करना था, और मुझे पीछे पता लगा महाराज, आपने मेरा पुण्य भी करवा दिया, इतने लोगों का भला हो गया, और नहीं, कम से कम वे आराम तो ले ही गये। अब शास्त्र का इस विषय में यही आदेश है कि जिस प्रकार महात्मा के वचनों पर विश्वास करके उस अफसर ने दुःख सहन करते हुए बन्धन एवं विकारों को टालकर सुख शान्ति का अनुभव किया, उसी प्रकार आप भी अपने अन्दर को मुँह मोड़कर देखो, सब के अन्दर यही रामलीला हो रही है, अन्दर ही रावण है, कंस भी है, वे खूब अत्याचार कर रहे हैं, और तुम्हें (प्रजा को) खूब परेशान कर रहे हैं। आप ऐसी जगह जाओ जहाँ अयोध्या के राजा राम उत्पन्न हुए हैं। अयोध्या से अभिप्राय उस जगह से है जहाँ युद्ध की योग्यता ही नहीं रहती। जैसे कि ऊपर कहे हुए दृष्टान्त में अफसर के अन्दर युद्ध की योग्यता ही नहीं रही, बस, ऐंठन कम होते होते धीरे धीरे उसका मन नीचे बैठ गया। तो हर एक बन्धन का मन इसी तरह ही बैठेगा और अन्त में भगवान् शंकर का राज होगा जहाँ सुधा (देवताओं का अमृत रूपा) बरसेगी यही भगवान् विष्णु का वैकुण्ठ धाम हो जायेगा। यदि एक बार दृष्टि में पड़ गया, तो सदा के लिये ऐसा हो जायेगा कि "पाने की वस्तु तो अन्दर ही है"। परन्तु इसके लिये थोड़ा यही है कि बन्धनों को पहचानना, थोड़ा त्याग करना, वैराग्य उत्पन्न करना अर्थात् सुख के कारण मन जो बाहर जा रहा है, थोड़ा उस सुख से मन को हटाना, उसी तरह जैसे कि दिये गये दृष्टान्त में उस अफसर ने किया, यही आपने दिनो-दिन के जीवन में पहचानते हुए करना है अन्यथा यह विकारों की अग्नि मनुष्य को एक क्षण के लिये भी शान्ति का अनुभव नहीं करने देती और अन्त में मनुष्य इन्हीं की उलझन में फँसा हुआ, कई रोगों का

शिकार होकर मृत्यु को प्राप्त होता है। संसार में रहते हुए भी मनुष्य ने एक दिन यही देखना है कि "सुख के साधनों का एकत्रीकरण बचपन वाले मन के लिये ही ठीक था और सारी आयु बच्चा ही बने रहना ठीक नहीं है।" मनुष्य के लिये अनर्थ का कारण, मन का बाहर के सुखों के पीछे अत्यधिक भागना ही है। परन्तु यह ज्ञान, बिना अपने आप समझे, बिना थोड़ा हिम्मत, उद्योग किये व बिना त्याग किये किसी को अपने मन में कैसे मिल सकेगा ? इसलिये यही है कि मनुष्य को स्वयं ही तैयार हो करके अपने अन्दर की आँख पहले खोलनी है। अन्दर की आँख खोलने के लिये थोड़ा निद्रा (नींद) का भी मोह त्यागना और थोड़ा मन को भी जगाना, इन्हीं शब्दों के सहारे, जिनका कि अभी वर्णन किया गया है। ये शब्द उन परमेश्वरों के शब्द हैं, जिन्होंने प्रकृति के सभी बन्धनों से निकलकर यानी कि मुक्त होकर, सच्चा सुख देखा है। उन्हीं के ये शब्द अभी तक नीचे हमारे समय तक चले आ रहे हैं। इन्हीं शब्दों द्वारा सारे बन्धनों को पहचानना और इनको त्यागने का, खुजली के समान जो दुःख है, उसको सहन करना। ऐसा अभ्यास करते करते एक दिन पता चलेगा कि दुःख मिटने लग गया तथा सुख आने लग गया और इन बन्धनों के संस्कार, जो अन्दर जमे बैठे हैं, धीरे धीरे क्षीण होने लग गये, क्षीण होते होते सारे बन्धनों की याद इस प्रकार मन से टल जायेगी, जैसे कि पहले कभी आयी ही नहीं थी।

६. तो आज सारा कहने का निष्कर्ष (निचोड़) यही है कि (१) अविद्या (२) मान (३) मोह (४) राग (५) द्वेष (६) संशय (७) शील व्रत परामर्श यानी कि कर्त्तव्य सम्बन्धी बहु विचार (८) दृष्टि और इनके अतिरिक्त दो और हैं, जिनसे कि मन बाहर संसार में ही खुला रहता है, इसका मुख्य कारण मन का संशय है "यदि ऐसा न हो, तो कहीं कुछ जानने का ही शायद न रहे।" वे दो बन्धन हैं, (९) रूप–राग अर्थात् नाना

प्रकार के रूपों का राग (१०) अरूप–राग अर्थात् इन्हीं रूपों की घटना के चक्र में मन के सोचने की आदत। ये सारे दस बन्धन हैं और इन्हीं की सन्तान हैं काम (इच्छा), क्रोध, लोभ आदि विकार तथा इनके साथ ईर्ष्या, मत्सर, अधीरता व और भी नाना प्रकार के भय इत्यादि। जब भी ये विकार इत्यादि आयेंगे, इनकी एक तंरग आपको अपने मार्ग (रास्ते) पर चलने के लिये बाहर धक्का सा देगी तथा बुद्धि से कुछ भी सोचने नहीं देगी। अब स्मृति में रहकर, आपने उस तरंग को पहचानकर देखना है कि "जिधर यह ले जाना चाहती है, वहाँ क्या रखा है ?" यदि इस प्रकार पहचान हो गयी, तो "समझो" शत्रु दीख गया।" तो जैसे ये विकार पहचानना, ऐसे ही इनको जन्माने वाले उन बन्धनों को पहचानना और उन बन्धनों से भी उपर, अविद्या तक पहचानना तथा देखते देखते ही अविद्या को भी उसी तरह टाल देना, जैसे कि 'मान' को उपर्युक्त दृष्टान्त में उस अफसर ने टाला व टाल करके सुखी हुआ। इस प्रकार अविद्या के टलते ही शान्त साक्षी भाव से टिकने से आपको अन्त में सुख मिलेगा। तो ये ही सारा करने का है और यही जानने का है। बस, यही आज कहे हुए का सार (निचोड़) है।

प्रवचन

२७.१२.१९८६

इस सप्ताह के आरम्भ से ही यही प्रसंग चल रहा था कि जो अन्तरात्मा की शक्ति बाहर भटकी हुई है, उसके अपने आप में एकत्रित होने पर अन्तरात्मा में सुख व शान्ति मिलती है और जब तक यह बाहर भटकी हुई है, तो मनुष्य मानो अन्दर से खोखला सा हुआ हुआ अपने आप में शान्ति अनुभव नहीं करता, भले ही बाह्य्य जीवन में उसने कितनी ही सफलता प्राप्त कर रखी हो। अब इस शक्ति के बाहर भटकने या बिखरने का कारण यह है कि मनुष्य को बचपन से लेकर ही जीवन धारण करने की आदत तो बाहर के प्राणियों व पदार्थों के सहारे से ही पड़ी हुई है और उन्हीं के बीच में ही उसका मन उलझा रहता है, जिससे कि प्राण शक्ति का ह्रास (नाश) बाहर होता रहता है। और जितना ह्रास बाहर होता है, उतनी शक्ति अन्दर एकत्रित (इकट्ठी) तो होती नहीं, यह अन्दर इकट्ठी तभी हो, यदि मन बाहर से मुक्त हो तथा जिस प्रकार बाहर से बिछुड़ने पर निद्रा (नींद) में सुख होता है, वैसा ही जागते जागते भी प्राणी को सुख प्राप्त हो, परन्तु मनुष्य केवल एक बार अपना निश्चय तथा इरादा करने से ही इस बाहर बिखरी हुई शक्ति को अन्दर इकट्ठा नहीं कर सकता, क्योंकि राग, द्वेष, इच्छा क्रोध आदि प्रकृति की तरंगों ने अन्दर इतना जोर पकड़ लिया है अर्थात् जिस ओर यह मन एक बार भाग गया है, उधर इस प्रकार का एक ढालू क्षेत्र यानी कि ढाल सी बन गयी है कि न चाहने पर भी, बिना यत्न के, मनुष्य को ये तरंगें बाहर ही कुछ न कुछ अपने ढंग से करने के लिये धक्का देती हैं और इन्हीं की उलझनों में पड़ा हुआ प्राणी बस बाहर ही बाहर सोचता हुआ

श्वाँस भी पूरा अन्दर नहीं ले पाता है, जिससे कि उसके अंग आदि स्वस्थ रहें तथा मन की भी शान्ति हो।

२. तो अब यही कल बतलाया था कि यदि यह मनुष्य अपने अन्तर्मुख हो करके , कर्त्तव्य रीति से जैसे कि अपने बाहर के व्यवसाय (धन्धे) को सफल बनाने के लिये गम्भीरता पूर्वक चिन्तन करता है और उसने जैसा चिन्तन करके उपाय निश्चय किया है, उसके लिये यत्न भी करता हैं, उसी प्रकार से इस सत्य को पाने के लिये भी यत्न करे, जिससे कि अन्तरात्मा में उसकी शक्ति एकत्रित (इकट्ठी) हो जाये, तो उस मनुष्य को बहुत आनन्द प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में कहा जाये, तो आनन्द रूप से वहाँ भगवान् ही अन्दर से प्रकट होता है, जो कि सर्वव्यापक, सबमें एक समान रूप से बसा हुआ है, जिसको शास्त्रों में अन्तर्यामी, परमात्मा व ब्रह्म आदि कई नामों से पुकारा गया है। यद्यपि यह सत्य है, फिर भी हमारी न तो उसको जानने की कोई इच्छा है और न ही उस ओर हमारा कुछ ख्याल ही है। तो अब आपने यही कोशिश करनी है, कि जो शक्ति, ज्ञान के रूप में भी और उसकी क्रिया, प्राण के रूप में भी, बाहर बिखरी हुई है, उसको अन्दर एकत्रित करके अन्दर ही अपना ज्ञान जगाना है। अन्दर ज्ञान जगाने से उसका आनन्द भी होगा। तब मनुष्य स्वयं ही उसके ध्यान में पड़ जायेगा कि "यह क्या है? यह आनन्द अब कहाँ से आया?" बस, जब इसका ध्यान अपने आप आने लग गया और मन यह महसूस करने लग गया कि "तृष्णा में, बाहर के छोटे मोटे सुख में या बहुत धन्धे में अन्त में कोई आराम नहीं है, बल्कि उसके विपरीत दुःख ही पल्ले पड़ना है, जो सुख भी है, वह सदा बना रहने वाला नहीं है", तो उस प्राणी का स्वभाव से ही बाहर से मुख मुड़ जायेगा। जैसे कि जिस भोजन से हमें हानि (नुकसान) होती हो, वह भोजन हम कभी भी नहीं खाना चाहेंगे भले वह घी, दूध इत्यादि कुछ भी हो। परन्तु जब तक परिणाम (नतीजा) हमारी दृष्टि में नहीं है,

तब तक बचपन से जो आदत के रूप में प्रकृति शक्ति बनी बैठी है, वह तो बाहर के सुख की तरफ ही खींच कर ले जायेगी। क्योंकि मन उसी सुख को पाकर ही थोडी खुशी मानता है अन्यथा अपने आप में दुःखी व चिड़चिड़ा होकर, बस, संसार में ही बहता रहता है। यही शक्ति का ह्रास है। अब इस तरह शक्ति के ह्रसित या क्षीण होते हुए रहने पर कौन प्राणी है, जो सदा अपने आपको एक जैसा सुख में बनाये रखेगा? अर्थात् बुढ़ापा (वृद्धावस्था) व उसके (पश्चात्) भी इन्द्रियों की शक्ति का क्षीण होना तथा देह में वैसी शक्ति न रहना, जिससे सुखों को ग्रहण कर सके, अन्त में, यह सब कुछ होना है।

३. अतः ज्ञान द्वारा इन्हीं सत्यों को समझना है तथा उसी के अनुसार फिर अपना जीवन भी बनाना है व दूसरों के बीच में रहते हुए भी बाहर की भक्ति भी ठीक रखनी है। इसके लिये स्मृति यानी सोधी (होश) को भी बना करके रखना होगा। यदि समय पर स्मृति नहीं रह सकी अर्थात् स्मृति भटक गयी ओर मैत्री आदि बलों के न होने से बाहर व्यवहार ठीक नहीं हो सका, तो बाहर की भक्ति अच्छी नहीं होगी। दूसरे भले आपके बेटे, बच्चे या मित्र ही हों, ये सब वैरी ही बनेंगे। क्योंकि ये सब तो आपके प्रिय व मधुर स्वभाव के ही मित्र थे और जब आप में वह प्रिय व मधुर स्वभाव व्यक्त (प्रकट) नहीं होगा, तो वे आपके प्रति कर्तव्यपरायण भी नहीं होंगे और न जांने आपके लिये क्या क्या चाहेंगे? ऐसी भी इच्छा कर सकते हैं कि "ऐसा मनुष्य संसार में न ही रहे, तो अच्छा है। ऐसे की तो संगति ही नहीं करनी चाहिए।" इसलिये जो विश्वव्यापक प्राण व विश्वव्यापक ज्ञान है, जो कि सबमें समान रूप से विद्यमान है, जिस सारे व्यापक, सुगठित (मिले मिलाये, गठे गठाये) सर्व व्यापक जीवन को परमात्मा रूप से कहते हैं, उसकी भक्ति ठीक रखनी बहुत आवश्यक है। क्योंकि अकेले का तो कोई जीवन नहीं है। जीना तो संसार (दुनिया) में हैं। कोई भी अकेला संसार में कुछ भी नहीं है। जैसे मान

लो ! बेटा है, तो संसार में है, अकेले में क्या बेटा? पिता भी है, तो संसार में है, कोई दूसरा बेटा है, तभी वह पिता बना। मित्र, मित्र है, तो दूसरा कोई है, तब मित्र है। इस तरह विश्वव्यापक, सुगठित (गठा गठाया, मिला मिलाया) सारा संसार रूप परमेश्वर न हो, तो अकेला जीव कुछ भी नहीं है। जीव इतने में हैं, जो कि प्राण धारण करके एक देह में जी रहा है। परन्तु ये सारे जो मिले मिलाये हैं और आपस में एक दूसरे के कार्य मिले मिलाये हैं तथा एक दूसरे का जीवन एक दूसरे से जुड़ा हुआ है, इस सारे जुड़े जुड़ाये का नाम है—परमेश्वर।

४. इसी परमेश्वर की संज्ञा विभिन्न आचार्यों ने अपने—अपने ढंग से की है। जैसे कि रामानुज ने इसे विशिष्ट भगवान् की संज्ञा दी है अर्थात् यह भगवान् जो है, वह विशिष्ट हैं, अद्वितीय है। अर्थात् सब एक है किन्तु जुड़ा जुड़ाया सारा का सारा एक है। इसी प्रकार एक अन्य आचार्य बल्लभ कहते हैं कि इस संसार में जितनी भी शक्तियाँ हैं, इन सबसे भरपूर जो है, वह परमेश्वर है अर्थात् सब शक्तियों से युक्त भगवान् जो है, अपने आप में एक है, और दूसरा कौन है ? अब एक दूसरे को सामने देखकर एक क्षण भर में, जो हमारे अन्दर भगवान् प्रकट हो जाता है और वैसे ही प्रकट होकर कुछ का कुछ बना जाता है। जैसे कहीं बेटा बना गया, कहीं पिता बना गया, कहीं मित्र व कहीं वैरी, कहीं किसी का भला करने वाला व कहीं बुरा करने वाला। यह उस समय की एक तरंग ही होती है और, होती तो है यह तरंग उस क्षण भर के लिये प्रकट होने वाले भगवान् की ही, परन्तु हमारे अन्दर अज्ञान के कारण से ऐसी बैठी रहती है कि "यह मैं हूँ।" तो ज्यादा बन्धन इस जीव को इस 'मैं' का ही है। यदि इस 'मैं' के चक्कर से निकल जाये, तो भगवान् ही भगवान् है। गीता जी में भी भगवान् यही कहते हैं कि मैं ही क्षण भर के लिये व्यक्त यानी कि प्रकट हो करके चमक जाता हूँ और जैसा

चमकता हूँ वैसा ही उसको (जीव को) चला जाता हूँ। पीछे भले कोई लड़े या झगड़े कि "उसने यूँ बोला जी ! तो इसलिये मैंने यूँ बोला।" अब वह बुलाने वाला कौन था ? बस ! उस समय की एक क्षण की एक चमक ही थी। इसको एक और उदाहरण से भी समझ सकते हैं। जैसे दो मित्र मिले। एक इधर से आया, दूसरा उधर से आया। अब न जाने वे अन्दर क्या सोचते आ रहे थे। एक के चेहरे पर कुछ ऐसा भाव व्यक्त (प्रकट) हो रहा था कि जिसे देखकर दूसरे के अन्दर कुछ ऐसी प्रेरणा हुई कि उस प्रेरणा के अनुसार उसको हँसी आ गयी, मजाक सूझ गया। उसने हँसी मजाक में कुछ कह दिया, जिससे वह चिढ़ गया। अब देखो ! एक के चेहरे को देख करके दूसरे को हँसी आ गयी। कहीं उसने जान बूझकर हँसी तो प्रकट नहीं की। और दूसरे की हँसी को देख करके वह चिढ़ गया। अब कहीं जान बूझकर तो उसने चिढ़ पैदा नहीं कि और न ही उसमें चिढ़ पैदा करने की शक्ति है, वह तो अपने आप ही हो गयी। तो फिर यही हुआ कि वह ज्ञान रूप से सब जीवों में बसा हुआ भगवान् आमने सामने पड़ने पर न जाने किसी के अन्दर कहाँ क्या प्रकट हो या क्या प्रकट करता है और उससे दूसरा कैसे प्रकट होता है? जैसे कहीं चिढ़ आ गयी, कहीं हँस पड़ा और नाना प्रकार से कुछ न कुछ कह बैठा अर्थात् जैसी जिसके अन्दर प्रेरणा आयी वैसा ही कर बैठा। यह प्रेरणा जान बूझकर या सोच करके कोई उत्पन्न नहीं करता। सबके अन्दर बैठा हुआ वही भगवान् ही चक्कर चला जाता है। बस ! इसी को सदा अपनी दृष्टि (नज़र) में रखना है और अन्त में पूर्ण रीति से इसी को पहचानना है। इसको एक और उदाहरण से भी इस प्रकार समझा जा सकता है। दूर से पिता आ रहा था और उसके हाथ में बच्चे के लिये खिलौना, फल व मिठाई वगैरह थी। अब बच्चे की दृष्टि में जैसे ही वे उसकी रूचि की वस्तुएँ पड़ी कि "ये मेरी रूचि की वस्तुएँ हैं और मेरा पिता मेरे लिये ला

रहा है" तो उस बच्चे के अन्दर इस कारण से जो हँसी फूट रही है, आनन्द आ रहा है और उस बच्चे की देह के बीच में, लपक–लपक कर उसकी ओर जो भागना हो रहा है, तो ये सब बच्चा क्या जान बूझकर कर सकता है? पता है, उसको कि देह कैसे हरकत करेगी? तो ये सब अर्थात् चेहरे पर खुशी छा जानी या चेहरे को खिला देना, अन्दर कोई एक ऐसी शक्ति है कि जो किसी में कुछ प्रतीत करके (महसूस करके) उसी ढंग का कुछ भी प्रकट (उत्पन्न) कर देती है। बस यही जो प्रकाश रूप में प्रकट भाव है, इसी को गीता जी में 'व्यक्त' कहा है। अर्जुन को भगवान् कृष्ण जी बार–बार यही कहते हैं कि "हे अर्जुन ! व्यक्त की भक्ति करो, सब जगह खुली आँखों से मेरे को ही पहचानो। तब तुम राग–द्वेष से रहित होवोगे।" ठीक है। कि ध्यान में ही सभी बन्धनों को पहचानकर उनसे मुक्त होना है। यही कल कहा था कि राग, द्वेष, मान, मोह, अविद्या आदि बन्धनों को ध्यान में पहचानकर इस प्रकार टाल देना है, जैसे खुजली के दुःख को मनुष्य बिना खुजली किये सहन करते–करते ही समाप्त कर देता है। परन्तु अब यह है कि मान लो ! ध्यान में आपने बन्धनों से रहित होकर सुख़ पा भी लिया, परन्तु दूसरे सब में रहते हुए तथा व्यवहार करते समय, यदि आपका व्यवहार (बर्ताव) ऐसा ही है, जैसा कि बाहर से व्यक्त भगवान् करवा रहा है और उसकी भक्ति आपकी ठीक नहीं है, तो फिर आपका ध्यान भी ठीक नहीं रह पायेगा और दूसरों के प्रति आपकी शिकायतें भी समाप्त नहीं होगी। क्योंकि आपको करने कराने वाला तो 'तूँ', 'मैं' ही दीखेगी। वह अनन्त भगवान् तो नहीं दीखेगा, जो कि ज्योति स्वरूप एक क्षण में चमक कर के क्या का क्या किसी को प्रेरित कर जाता है और कैसे उसकी देह इन्द्रियाँ आदि को चला जाता है। इस तरह अनन्त रूप से सबके अन्दर अनन्त का प्रकाश यदि दीखने लग गया, तो आपका मन किसी को भी 'तूँ' 'मैं' करके नहीं मानेगा।

दूसरों को आपके सामने कैसे भी भगवान् प्रकट करके क्या–क्या भी क्रोध आदि की तरंगें उत्पन्न करता है, परन्तु आपकी सही भक्ति होने पर कि "करने वाला तो वही है" बाहर कोई भी खोंटा या वैरी दिखाई नहीं देगा।" इसलिये ऐसी अवस्था में क्षमा और शील (सही बर्ताव) आप नहीं छोड़ेंगे, तो आपके लिये बाहर सब वरदान रूप ही होगा और आपका ध्यान सुख कभी नहीं बिगड़ेगा।

५. पहले अपनी 'मैं' टूटे, तब सब के अन्दर की टूटेगी। इसके लिये पहले अपने अन्दर यही समझना कि "देखो भाई! क्षण–क्षण में बदलता हुआ यह मन न जाने क्या नयी मेरी 'मैं' प्रकट करता है ? "पहले बचपन था, तो मेरी 'मैं' उतने में ही थी, जितना मेरा ज्ञान था कि 'मैं घर का लाल हूँ, सब के हाथों का खिलौना, व सब के मान पूजा वाला हूँ।" जैसे–जैसे मैं बड़ा हुआ तो मैं तो अपने को पहले बच्चे जैसा ही मानता रहा, परन्तु दूसरों ने बताया "बेटा, स्कूल जाओ, अब तुम्हारा खेलने का अधिक समय नहीं रहा।" फिर भी ज्यादा हठ किया, तो थप्पड़ लगे और पहले बचपन जैसी 'मैं' रखने का मतलब हुआ, अब दण्ड। इस तरह बचपन की 'मैं' टूटी। फिर उसके बाद धीरे–धीरे लड़कपन की ! फिर जवानी, बुढ़ापा और अन्त में सारी 'मैं' समाप्त। इस प्रकार जैसे वह लम्बे समय में अवस्थाओं की "मैं" है, वैसे ही दिनों दिन भी यह 'मैं' समाप्त होती जा रही है। जब से बच्चा पैदा हुआ है कोई दिन, क्षण एक जैसा नहीं रहा। उसके अन्दर भगवान् की झाँकी हर क्षण नयी–नयी घटती रहती है। तथा उसी के अनुसार ही शरीर इन्द्रियाँ मन व बुद्धि का सारा ज्ञान बदलता रहता है। यह विवेक हमने अपने मन के अन्दर ध्यान द्वारा उपजाना है और अपनी 'मैं' को भगवान् के अर्पण कर देना है, क्योंकि यह 'मैं' तो उस परमेश्वर की ही है। तथा बाहर व्यवहार करने के लिये, जो भी यह बनाये, वैसा बनते जाना है, परन्तु वैराग्य, सन्तोष आदि गुणों की भक्ति को साथ

अवश्य रखना है, त्याग के दुःख को भी थोड़ा तप रूप से सहन करना है, बाहर कोई अनुचित काम न करते हुए अपना शील बर्ताव भी सही रखना है।

६. अब ये यदि रखते आयेंगे, तो धीरे–धीरे अन्तर्मुख हुआ–हुआ ज्ञान पहले अपने अन्दर ही पहचानेगा कि "सारी ज्ञान की धारा ही तो है, और क्या है? तथा जैसे मेरे अन्दर है, ऐसे ही दूसरों के अन्दर भी है। सब में वही भगवान् की झाँकी क्षण–क्षण बदलती हुई अपनी माया को ही प्रकट कर रही है। बस ! जब प्राणी एक दूसरे के सामने आता है, न जाने क्या उसकी झाँकी दिख जाती है? जैसी उसकी झाँकी, वैसी ही वह अपनी माया को चला जाता है। जैसी माया चल गयी, वैसी ही देह इन्द्रियों में हरकत हो जाती है। इस तरह 'तूँ' 'मैं' वहाँ पर बना कर रखने को कुछ भी नहीं है। करने कराने वाला तो मुरली मनोहर ही है। मुरली मनोहर से अभिप्राय है, एक क्षण चमकने वाला। जैसा कि पहले दो मित्रों के उदाहरण में भी बताया गया है कि "एक के चेहरे को देखकर दूसरे की हँसी फूट पड़ी।" वह जान बूझकर थोड़े ही अपने चेहरे पर हँसी लाया था। वह तो दूसरे के चेहरे में ही कुछ ऐसा भाव था अर्थात् उस ही क्षण के लिये एक ऐसी चमक थी कि उसकी हँसी फूट पड़ी। तो यह जो प्रकाश है या अन्दर जो ज्ञान है, यह जान बूझकर कोई मनुष्य नहीं करता। जान करके कर सकता है केवल विवेक, बन्धन से मुक्त होने के लिये। नहीं तो (यदि विवेक नहीं रखा तो) बँधने के लिये सारे निकम्मे काम हैं।

७. अतः यदि साधारण तौर पर (सीधे साधे) कहा जाये, तो संसार चलाना तो उसी एक के हाथ में ही है जो कि कहाँ–कहाँ क्या–क्या अपनी चमक देकर, क्या का क्या प्रकट हो करके अपनी माया शक्ति से इन सब देहों की पुतलियों को चला रहा है, अब यदि केवल समझ रूप अर्थात् ज्ञान का ही सहारा आप रखेंगे, जिसके कारण से सारी हरकतें हो रही

हैं तो आप उसकी माया रूप शक्ति से मुक्त हो जायेंगे। इसी सम्बन्ध में गीता जी में बार–बार चेतावनी दी गयी है कि "हे अर्जुन ! यह मेरी माया लाँघने के लिये बड़ी मुश्किल है। यह देव की है (देव से अभिप्राय ज्ञान रूप से है)। परन्तु यदि तुम मेरा सहारा ले लो अर्थात् सब जगह मुझे ही पहचान लो, तो फिर कोई मुश्किल बात भी नहीं है।" इसलिये जब भी बन्धनों एवं विकारों के दबाव में दुःख की आग जले तो मन में उस दुःख की आग को ऐसे सहन कर ले, जैसे कि खुजली की जलन को मनुष्य बिना खुजली किये सहन करते–करते ही टाल देता है। जिस प्रकार खुजली के दुःख का मरोड़ है, उसी प्रकार ये सब बन्धन अर्थात् राग, द्वेष, मान, मोह आदि मन के मरोड़ ही हैं। अब इनको पहचान करके सहन करने की शक्ति प्राप्त करनी है। क्योंकि पहचाने बिना ये सहन नहीं होते। इसलिये ज्ञान को जगाना, थोड़ा, बुद्धि के साथ सम्बन्ध करना, एकान्त में बैठकर थोड़ा निद्रा को भी जीत करके, फिर अन्तर्मुख हो करके इन सारे मरोड़ों को पहचान लेना और उनको ऐसे ही नाम देना, जैसे कि शास्त्रों में अनादि काल से ये कहे जा रहे हैं तथा महात्माओं ऋषियों, मुनियों व भक्तों के मुखों से झड़ते आ रहे हैं और दूसरे सुनते आ रहे हैं। इसी मार्ग (रास्ते) से उन्होंने अपने अन्दर के सत्यों का ध्यान किया और अन्दर के तत्त्वों व अन्दर की तरंगों को पहचान करके अन्तर्मुख हो गये। अतः आप भी यदि इसी तरह अन्दर की तरंगों को नहीं पहचानोगे, तो बाहर की तरंगें अवश्य पहचाननी पड़ेगी, क्योंकि अविद्या शान्त नहीं बैठने देगी, जड़ पत्थर हो करके कोई रह नहीं सकता। अतः मन बाहर के प्राणी व पदार्थों के संस्कार जगा कर उन्हीं के चित्र खींचेगा अर्थात् जैसे संसार की चाल है, वैसा ही चलेगा। अब इन शब्दों को जगा–जगा करके, इनके अर्थों का चिन्तन करके, अपने अन्दर इनको बहता हुआ देख करके और इनके कार्यों को पहचान करके, इधर दृष्टि खुल गयी तथा मन बाहर

से बुझ गया, तो ज्ञान तो एक ही है, तब वहाँ उसकी बाहर की शक्ति भी अन्तर्मुख हो जायेगी और वहाँ पर ध्यान का सुख प्राप्त होगा, जो कि सनातन (नित्य) होगा। इस सुख की बाहर की कोई शर्त नहीं कि अमुक (फलाँ) प्राणी व पदार्थ मिलें, तभी यह प्राप्त हो। इसलिये यह आत्मा (अपना आपा) का सुख है। यदि अन्दर एक बार प्रकट हो गया, तो समझो! चाबी अपने हाथ में मिल गयी। परन्तु इतना अवश्य है कि बाहर से ज्ञान मुक्त होना चाहिये। ज्ञान बन्धनों से मुक्त हुए बिना बाहर उसकी शक्ति प्राण रूप मुक्त नहीं होगी और यदि प्राण रूप शक्ति बँधी रही, तो दुःख ही जन्मायेगी और दुःख ही प्रकट करेगी।

८. अब ज्ञान को मुक्त करने के लिये वही पहले बताया गया है कि अन्दर ज्ञान को जगाये। अन्दर की वस्तुओं को पहचाने तथा अपने को सही ढंग से प्रेरित करके कि "भाई, देखो! यदि इस मार्ग (रास्ते) से ठीक नहीं चलोगे, तो इसके बिना तुम्हारा पुरूषार्थ और तुम्हारा अन्तिम भला और किसी दूसरे उपाय करने में नहीं है। यह केवल इसी मार्ग में ही है, तथा बाहर बिखरी हुई शक्ति को अन्दर इकट्ठा करने का भी एक समय है, यदि वह निकल गया, तो फिर इसका इकट्ठा होना भी मुश्किल है।" ऐसे में निद्रा (नींद) का भी थोड़ा ख्याल रखे, क्योंकि बाहर से यदि मन को मोड़ो, तो नींद आती है, आलस्य सुस्ती आती है, जिसके सुख का भी एक आकर्षण (खिंचाव) है। वह इतना मीठा लगता है कि उस समय फिर कुछ सोचने की भी इच्छा नहीं रहती। सोचना तो दूर रहा यदि बाहर की आवाजें भी आती है, तो वे भी जहरीली मालूम होती हैं, और भी कोई कहीं बाहर का ज्ञान होता हो, तो उस समय मन उधर से भी आँखें बन्द करना चाहता है। ऐसी स्थिति में नींद को भी जीत करके ध्यान में ही अपना मन लगाये। इसका अभिप्राय यह नहीं कि नींद लेनी ही नहीं, निद्रा लेनी अवश्य (जरूर) है। परन्तु नींद के

इतना भी वश में होना ठीक नहीं कि जब हम ध्यान करना चाहें, तो नींद वाला मन नींद ला दे या मन नींद के घंटे की ही प्रतीक्षा करता रहे कि कब यहाँ से उठें और सोयें । जब तक वह नींद का घंटा नहीं भूलेगा, तब तक यह ध्यान लगाने वाला मन नहीं है । क्योंकि वह तो अपनी आँख भी चुरायेगा, कान भी समेटेगा और यहाँ तक करेगा कि मुक्ति के मार्ग (रास्ते) की ओर सोचने भी नहीं देगा । तो यदि इससे आपने अपने मन को उन्हीं शब्दों के सहारे जगा लिया और जगाने की आदत पड़ गयी, तो आपको पता लगेगा कि "मेरे जीवन में ये बन्धन एवं विकार कहाँ, क्या कर रहे हैं"? तो जिस समय इस प्रकार से अपने जीवन को बहुत नजदीकी से आप परखने लगेंगे, तो समझो ! वास्तव में आत्म–ज्ञान का मार्ग (रास्ता) आपने खोल लिया (आत्म ज्ञान से अभिप्राय है, अपने आप का ज्ञान) ।

६. इस प्रकार यदि अन्दर के ही सत्यों को महसूस करने में अन्दर ही आपका ध्यान लगने लग गया और ध्यान बाहर से टूट गया, तो इसकी शक्ति भी बाहर भटकने के बजाय अन्दर ही एकत्रित (इकट्ठी) होने लग जायेगी । तब आपको अपने आप अकेले घंटों ही बैठने में भी आनन्द आने लग जायेगा । ऐसा यदि किसी से बन गया, तो समझो ! उसको अपने आप में जीवन भी मिल गया । इसी को ही आध्यात्मिक जीवन कहते हैं । परन्तु इस आध्यात्मिक जीवन का सुख केवल ध्यान तक ही सीमित रहेगा । क्योंकि बाहर व्यापक भगवान् की भक्ति अभी नहीं है । इसके लिये थोड़ा भक्ति योग को जगाना पड़ेगा अर्थात् ज्ञान को यहाँ तक जगाना पड़ेगा कि आनन्द रूप से ध्यान में अपने अन्दर प्रकट हुआ भगवान् ही सब में पहचानने में आये और जो भी बाहर का खेल दिखायी दे रहा है, वहाँ उसी की ही झाँकी दीखे । उदाहरण के तौर पर, मान लो, आप कहीं मेले में जा रहे थे । मेले में भीड़ के कारण किसी दूसरे के जूते से आपका

पैर कुचला गया, जिससे आपको दुःख हुआ। अब आप जरा ताकतवर आदमी थे। आपने भी दुःख के कारण क्रोध में आकर अपनी बाजू से उस व्यक्ति को धक्का मारा और वह बेचारा दूर जा गिरा। तो उसने पीछे आपसे माफी माँगी कि "ओ हो! श्री मानजी, मैंने तो जान बूझकर कुछ नहीं किया। भीड़ में, अनजाने में कहीं आपके ऊपर पैर पड़ गया होगा, जिससे आपको कष्ट हुआ।" परन्तु आपने उसको दो थप्पड़ भी लगा दिये और दो चार गालियों से उसका तिरस्कार भी किया। अब यदि आप धार्मिक वृत्ति के व्यक्ति होते और घटना का थोड़ा समझ से विश्लेषण (छानबीन) करते, तो आपको यही मालूम होता कि "भाई! उस समय का जो खेल था उसमें मैंने यह समझा कि उस नालायक ने मेरा पैर कुचल दिया।" यह तो केवल थोड़े दुःख ने ही व्यक्ति विशेष को नालायक बताया। यदि मैं थोड़ा दुःख को सहन करके विवेक को जगा पाता और आम जीव जन्तुओं की तरह उद्वेग (जोश) में न आकर धैर्य से काम लेता, तो मुझे सच्चाई का पता यूँ लगता कि उस घटना का जिम्मेवार कोई व्यक्ति विशेष (कोई खास) नहीं था। बस, मौके की एक घटना ही थी अर्थात् वह मेले का जमघट। और जिसमें भीड़ में दूसरे का जूता मेरे पैर पर पड़ने से मेरे को जो दुःख हुआ, वह उस समय उस ज्ञान रूप भगवान् की एक चमक ही थी। 'मैं' 'तू' के कारण से बना रखने को वहाँ कुछ नहीं था। अब इस प्रकार विचार करने से आप यदि अपने आपको उस घटना विशेष में बाहर कुछ भी बुरा करने से रोक पाते, तभी आपकी बाहर की भक्ति भी ठीक होती। वास्तव में देखा जाये, तो मनुष्य एक दूसरे को जो भी समझता है, वहाँ उस समझ के लिये ही भगवान् की झाँकी, माया द्वारा एक प्रकार की 'मैं' पैदा कर देती है और मनुष्य विमूढ़ हो करके कहता है कि "मैं करने वाला हूँ" और वहीं 'मैं' रूप से सदा संसार में ही बहता रहता है। इसी कारण से वह सदा बँधा ही रहता है और उसको कभी मुक्ति न होने

से उस भगवान् का सुख नहीं मिलता और न ही बाहर बिखरी हुई शक्ति का अन्दर इकट्ठा होना हो पाता है, जिससे वह परम पद से दूर ही रहता है। इसलिये बाहर की भक्ति जब तक ठीक नहीं होगी, तब तक मन बाहर ही उलझा रहने के कारण, उसी की सोचों में पड़ा हुआ व्यर्थ समय गँवाता रहेगा। ध्यान इत्यादि में समय लगाकर, जो ज्ञान का बल पैदा करना था, वह भी नहीं कर पायेगा। बाहर कुछ खोटा होना तो दूर रहा, परन्तु यदि ऐसा करने के लिये सोच भी लिया, तो वह भी अकेले में ध्यान में डरायेगा। इसलिये बाहर की भक्ति को ठीक रखना अति आवश्यक है। यदि मन स्वच्छ है, अपने अन्दर किसी प्रकार (किस्म) का दोष नहीं है, तो वह व्यापक जीवन एक परमात्मा का रूप ही दीखेगा।

१०. अब इस व्यापक ब्रह्म को एक ही पहचान कर मनुष्य अपने व्यवहार (बर्ताव) को इतना सुधार ले कि कोई त्रुटि होने ही न पाये। त्रुटियाँ दो कारणों से ही होती हैं। (१) सुख बिगड़ने पर या (२) दुःख आ पड़ने पर। इसलिये थोड़ा दुःख व सुख में सम होकर रहने का अभ्यास करना। जले–कटे व बीमारी इत्यादि का दुःख भी तो मनुष्य सहन करता है, दूसरों से अच्छा बर्ताव न मिलने पर जो अपमान का दुःख हो, उसे भी वैसे ही सहन कर ले। तो इस प्रकार से शान्त भाव से यदि मनुष्य अपने आपको थोड़ा सुधारता जाये तथा अभ्यास से शक्ति को बढ़ाता जाये, तो अन्त में साधित मन ज्ञान जागने पर इतना अन्दर से प्रेरित हो जाता है कि "ठीक है! खुली आँखे सब जगह एक ही दीखता है। वहाँ उलझन की कोई बात ही नहीं।" जब एक ही सब जगह दीखने लग गया, तो फिर मिथ्या कर्म भी क्यों बनेगा? और जब मिथ्या कर्म नहीं, तो उसके फल की भी कोई शंका नहीं रहेगी। राग द्वेष पहले ही समाप्त हो गये, मान मोह रहे नहीं, तो ऐसी अवस्था में वहीं प्राण शक्ति, जो ज्ञान भटकने से बाहर भटकती है, वह सदा अपने आप में एक क्षण में एकत्रित

(इकट्ठी) होने लग जायेगी। नींद में उतना आनन्द नहीं, जितना जागते–जागते ज्ञान के साथ ऐसे मनुष्य को प्राप्त होगा।

११. तो यही सारा सत्य शास्त्रों में कहा है तथा यही पाने का परम धाम है। अब इसे प्राप्त करने के लिये, जो मार्ग (रास्ता) चलने का है, इसका नाम 'धर्म' है। धर्म का अर्थ है, धारण करना अर्थात् एक स्वभाव से हो रहा है और एक आपको धारण करना पड़ेगा। यह अपने आप नहीं होता। अपने आप तो बच्चे ने बाहर दूसरे प्राणियों व पदार्थों के संग से दूसरों के साथ ही रहना सीखा है, उन्हीं में ही जीवन देखा है, जिसका नाम है बाह्य अथवा भौतिक जीवन। दूसरा है, कि थोड़ा विवेक द्वारा (ज्ञान द्वारा) बाहर से मुँह मोड़कर अन्तर्मुख का जीवन, इसी को आध्यात्मिक जीवन कहते हैं। आध्यात्मिक जीवन का अर्थ है, अपनी आत्मा में जीना। अब इस जीवन को बनाने के लिये थोड़ी भावना करनी पड़ती है। भले ही अभी हमें यह नहीं पता कि वह जीवन कैसा होता है? परन्तु इतना अवश्य पता है कि जो समझना हमारी शक्ति के लिये है तथा बाहर की उलझन से हटाकर अपनी अन्तरात्मा के सुख से मिलाने के लिये है, यह सच्चाई है और फिर यह हमारा कर्तव्य भी है। अब इसी को धारण करने का नाम धर्म है। इसी में ही सब बुराइयों से हटना व सब अच्छाइयों की तरफ आना सम्मिलित है। अच्छाइयाँ ये ही हैं, वैराग्य क्षमा, शील, सन्तोष, सहनशीलता (सहिष्णुता) और नाना प्रकार के और सारे गुण, तपस्या, त्याग आदि। ये सब अच्छाइयाँ देवता रूप हैं। इनके विपरीत बुराइयाँ यही हैं, सारे बन्धन राग, द्वेष, मान, मोह इत्यादि व सारे विकार काम, क्रोध, ईर्ष्या मत्सर इत्यादि। धर्म के मार्ग (रास्ते) पर चलते हुए भगवान् को भी दृष्टि में रखना पड़ता है, जिसमें सभी अच्छे गुण है और जो परिपूर्ण है, भले ही वह हमको कहीं दीखता है या नहीं परन्तु उसको अपने मन में अवश्य स्थान देना,

क्यों उसी को देखते समझते हुए ही हमारा जीवन सही दिशा में चलेगा। अतः जैसे यह भगवान् सच्चा है, वैसे ही उसको पाने का मार्ग (रास्ता) यह धर्म भी सच्चा है। और जितने भी भक्तजन हैं या पहले हो गये हैं अथवा आगे होंगे, जिन सब के अन्दर यह धर्म बसा हुआ है, उन सब के प्रति भी हमने एक प्रकार से श्रद्धा रखनी है कि जैसे कि वे हमारे परिवार के ही भाई–बन्धु हैं। तो ऐसा भाव रखने से यह महसूस नहीं होगा कि मैं अकेला ही इस धर्म के मार्ग पर चलने वाला हूँ। अन्यथा जो यह काम (इच्छा) वाला मन है अर्थात् संसार में उलझा हुआ मन है, जैसे ही उधर से मुँह मोड़ा नहीं कि अपने को अकेला अनुभव करेगा। अकेले में इसका मन नहीं लगेगा अर्थात् अविद्या इसको तंग करेगी, जिससे फिर वही संसार की उलझन में ही जा पड़ेगा। तो इस प्रकार समझकर मनुष्य को सदा के लिये अपने मन को शान्त करने के लिये यह आवश्यक है कि धर्म का मार्ग (रास्ता) धारण करे। धर्म का जो रास्ता है, यही उस भगवान् को पाने का है और जिस समय पा लिया, तो वही भगवान् का परम धाम, सुख व शान्ति मिलेगी।

१२. तो यह सारा कहने का उपसंहार, समाप्ति या निचोड़ यही हुआ कि भाई! उस शक्ति को, जो कि बाहर बिखरी हुई हैं, अन्दर इकट्ठा करने से सुख मिलता है और बाहर भटके हुए ज्ञान को अर्थात् जो संसार (दुनियाँ) का सब जानने में उलझा हुआ है, उस ज्ञान को अपने मन के अन्दर, अन्दर के ही सत्यों को जानने के लिये जगाना। अपने अन्दर के सत्यों को ही समझकर ज्ञान जगाने में यह शक्ति अन्दर इकट्ठी होती है। अब ज्ञान जगाने के लिये यह आवश्यक (जरूरी) है कि थोड़ा विचार व विवेक का बल बढ़ाये और सत्य को परखे। विचार करने से जब विवेक जाग जायेगा, तो जिधर यह मन भटक रहा है, उधर तुच्छता दृष्टि में आ जायेगी। स्वयं ही मन बाहर से थोड़ा मुड़ना शुरू हो जायेगा।

इस प्रकार यत्न करते हुए बाहर सुखों की तुच्छता को इतना महसूस करना कि स्वयं ही मन कहे कि "बाहर ज्ञान भटकाने में क्या लाभ ?" अब यदि अन्तर्मुख ज्ञान जाग करके अन्दर के सत्यों को परखने लग जायें, तो उसको अन्दर का सुख भी दीख जायेगा। पहले तो ये राग, द्वेष आदि बन्धन ही दिखायी देंगे, जो मन को उधर (संसार की ओर) प्रेरित करते हैं। जैसा कि पहले बताया है कि इन बंधनों के दुःख को खुजली के दृष्टान्त की तरह सहन करना शुरू कर दे, परन्तु इनका आज्ञाकारी होकर संसार में कही भागना न चाहे, तो ये बन्धन टलने लग जायेंगे। बन्धन जब टल गये, तो समझो ! सुख भी मिल ही गया। अब यही सुख आपको एक प्रकार से आस्था व श्रद्धा भी करा देगा कि " अन्दर भी परम सुख है"। तो अपने आप में अब इस सुख को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक (जरूरी) है कि बाहर व्यापक भगवान् की भक्ति ठीक हो और यहाँ तक हो कि "सब के अन्दर खुली आँखें हमको तो केवल वही दिखायी दे, हम नहीं जानते दूसरा कौन है?" परन्तु इसके लिये यही है कि थोड़ा साधन के दुःख को भी सहन करना तथा थोड़ा आदतों के सुख के भी त्यागी बनना। जब आपकी इस तरह की भक्ति होती गयी, तो समझो ! कि अन्त में ज़ा करके मरते समय तक वह पूर्ण (पूरा) ही हो करके मरेगा और यदि पूर्ण न भी हुआ, तो भी इस रास्ते से यदि आगे जायेगा, तो पूर्ण होने के लिये ही जायेगा। और यदि पुनर्जन्म भी हुआ, तो उसमें जन्म से ही उसको भगवान् के मार्ग (रास्ते) पर बढ़ने के लिए सब प्रकार की सुविधा प्राप्त होगी। तो यही है सब, अर्थात् आज कहे हुए का सार रूप यही है।

प्रवचन

२८–१२–१६८६

जैसा कि इस सप्ताह में आध्यात्मिक शान्ति का प्रसंग चल रहा था कि "अपने अन्दर की जो शान्ति है, उसका मुख्य मार्ग (रास्ता) क्या है ?" अर्थात् मन की जो शक्ति बाहर भटकी हुई है, उसके अन्दर इकट्ठा होने से, जो सुख व शान्ति मिलती है उसको प्राप्त करने का मुख्य रास्ता क्या है? तो उसका मुख्य रास्ता यही है कि जिस–जिस भी अभिप्राय से मन बाहर बँधा हुआ है । अर्थात् जिस–जिस भी अभिप्राय से मन बाहर बिखरा हुआ है, उस–उस अभिप्राय के बन्धन से मन मुक्त होता जाये । तो इस प्रकार जैसे–जैसे मन मुक्त होता जायेगा, तो उसकी प्राण शक्ति भी वहाँ से मुक्त होकर, अपने आप में एकत्रित (इकट्ठी) होती जायेगी, जिसका कि एक अपना ही सुख व आनन्द है और जिसको प्राप्त करके मनुष्य किसी दूसरे आनन्द को इसके तुल्य नहीं मानता यह ठीक है ! कि बाहर के प्राणियों व पदार्थों के संयोग से भी सुख व आनन्द प्राप्त होता है, परन्तु वह सदा बना नहीं रहता, किसी न किसी समय में बिलकुल भी बिछुड़ने वाला है । उसके सम्बन्ध से अनर्थ भी कई हैं जैसे रोग, व्याधियाँ व शोक वगैरह, तथा अन्त में बाहर का जीवन भी इस प्रकार का हो जाता है कि सबके साथ प्रीति, प्रेम भी वैसा नहीं बना रहता । तो इसलिये सबसे मुख्य प्राप्ति, यही है कि अपनी आत्मा में ही बिना बाहर की किसी शर्त (उपाधि या कारण) के सुख मिलना चाहिये । अब इसी के ही हेतु मनुष्य सच्चाई की खोज करे, क्योंकि बिना सच्चाई का ज्ञान हुए किसी भी प्रकार से बाहर से छुटकारा नहीं होगा । जैसा कि जिस वस्तु में मन फँस रहा है, भले ही वह ऊपर से देखने में कैसी भी आकर्षित या मीठी दीख रही है, किन्तु यदि उसके अन्दर

छुपा हुआ जहर दृष्टि में आ जाये, तो कितनी भी वह अच्छी हो, वह जहर उसको अच्छा लगने नहीं देगा तथा उस वस्तु के प्रति उसकी आसक्ति व तृष्णा भी समाप्त हो जायेगी। परन्तु जब तक यह सत्य (सच्चाई) का ज्ञान नहीं होता. तब तक तो उसके बीच में मन बँधा ही रहेगा।

२. अब इस सच्चाई के ज्ञान के लिये यही बताया कि मनुष्य ध्यान का मार्ग (रास्ता) अपनाये। ध्यान का अभिप्राय यही है कि जो समझ, अभी जैसे वस्तुओं को बाहर समझ रही है, यही अपने अन्दर ऐसे जाग जाये कि अपने जीवन को समझने के लिये इसकी आँख अन्दर खुले। फिर समझ तो एक ही जगह रह सकती है, भले ही वह एक अन्दर जीवन पहचाने, भले बाहर की वस्तुओं को जाने। अब यदि वह अन्दर की वस्तुओं को पहचानते–पहचानते अपने आप में बनी रही, तो जिस प्रकार वह अन्दर की वस्तुओं को पहचानती रहेगी, उसी के अनुसार मनुष्य के संकल्प, इरादे व भाव बनेंगे और उन्हीं के अनुसार फिर आगे यत्न होगा। मान लो ! आपने ध्यान में यदि यह समझ लिया कि "अमुक (फलाँ) वस्तु मेरे हित के लिये नहीं है और उसके सेवन से, आपको ऐसा मालूम होता हो कि मृत्यु के समान दुःख होगा, तो यह मृत्यु के समान होने वाले दुःख का भाव आपके मन को उस सुख से इतना खींच लेगा कि आप उसको कदापि ग्रहण नहीं करना चाहेंगे। परन्तु जब तक उस सुख के पीछे उसका दुःख आपकी दृष्टि में नहीं आया और उसके त्यागने का भाव पैदा नहीं हुआ, तब तक ऐसा मन दूसरी ओर अर्थात् बाहर के अभिप्रायों में ही उलझा रहेगा। और मनुष्य का सारा यत्न भी बाहर के लिये ही होगा। अतः यह भाव की ही सारी महत्ता है। यदि आपने अपने अन्दर यह पहचान लिया कि बाहर के सुखों से मुख मोड़ने में ही आनन्द है अर्थात् इनसे मुक्ति पाने में ही आनन्द है, तो भाव भी यही रहेगा कि कब इनसे मुक्ति

मिले? अब जैसे ही ये मन से उतर जायेंगी तो समझ लेना चाहिये कि एक प्रकार से मन तो इनसे छूट गया।

३. अब रह गयी वह आदत की शक्ति प्रकृति, जो कि बहुत दिनों से जन्मा रखी है तथा जो मुड़–मुड़कर फिर–फिर बाहर के सुखों में ही धँसने के लिये धक्का सा देती है। अब इसके लिये यह आवश्यक है कि थोड़ा समय निकालकर मनुष्य एकान्त में अपने आसन पर बैठकर तथा और भी अपने सामान्य जीवन में थोड़ा दुःख सहन करने की आदत डाले, जिसके बिना इस शक्ति का क्षय नहीं होगा। जैसे कि पहले कई बार बताया है कि छोटी से छोटी, कोई भी आदत जब मनुष्य पहले पहल छोड़ता है, तो वह उसे परेशान करती है और कुछ दिन तो मन भी नहीं लगने देती, मन चिढ़ा–चिढ़ा सा रहता है, बाहर व्यवहार भी ठीक नहीं हो पाता। अब यह जो भी आदत है, वह धीरे–धीरे ही बनी है और धीरे–धीरे ही समाप्त होगी। आज तिल भर उसको त्यागने का दुःख सहन किया, कल उससे ज्यादा, परसों फिर उससे ज्यादा और करते कराते एक दिन पूरी समाप्त हो जायेगी। अब इस बात का ध्यान रहे कि ऐसा दुःख सहन करना भी तभी सहन करना माना जायेगा, जब मनुष्य मनोमन रोये नहीं, बाहर दूसरों से शिकायतें भी न करे व बाहर अपना बर्ताव भी सही रखे। और यदि ऐसा नहीं कर पाया, तो वह आदत तो क्या छूटेगी, दो और बुराइयाँ साथ लग जायेंगी। मन तक ही यदि कोई बात रह गयी, तो उसकी कमी तो मनुष्य अपने आप अकेले में ही पूरी कर लेगा परन्तु बाहर जो भी कोई बुरा कर्म हो गया, तो उसका दण्ड अवश्य भुगतना पड़ेगा। दूसरे भी आपको ऐसा समझेंगे कि "यह मनुष्य तो किसी काम (मतलब) का नहीं"। तो इस प्रकार जब हम किसी काम के नहीं रहेंगे, तो हमारे लिये बाहर से बर्ताव भी किसी काम(मतलब) का नहीं आयेगा।

४. अब इसमें कल थोड़ा सा यही बताया था कि ईश्वर भक्ति को सम्मुख रखना पड़ता है सबके अन्दर व्यापक 'तूँ' 'तूँ', 'मैं' 'मैं' अपने ही ढंग का देखने के बजाय सब में एक परमात्मा परमेश्वर देखना अच्छा है। वह एक चेतन ही तो है, जो कि सब जीवों की देहों को जीता रख रहा है। उसी परमेश्वर को ही अपने मन के अन्दर पहचानना है, जो कि एक देह में क्षण भर के लिये चमकता है और जैसे चमकता है, वैसे ही दूसरे को चला जाता है। कहीं किसी से क्रोध (गुस्सा) करवा गया, किसी से प्रीति करवा गया, कहीं अच्छा बुलवा गया, तो कहीं मन्दा बुलवा गया। अब ध्यान में बैठ कर, यदि यह ख्याल आप रखेंगे (कि भगवान् ही सर्वत्र है) तो समझना चाहिये कि एक दिन आप बाहर से मुक्त हो जाओगे और यदि यह ख्याल नहीं रहा और बाहर वैरी, दुःखदाता इत्यादि इत्यादि की दृष्टियाँ (नजरें) लिये ही बैठे रहे, तो मन इस संसार में ही उलझा रहेगा और दूसरों से बदले लेने के लिये न जाने क्या क्या योजनाएँ, दलीलें व स्कीमें बनायेगा। अब इस उलझन में पड़े पड़े ऐसे मनुष्य को रात को शान्ति से कभी नींद भी नहीं आयेगी। ऐसे मनुष्य का तो सारा जीवन ही बेकार चला जाता है। क्योंकि उसने केवल आज के लिये ही सोचा है, अपनी आत्मा के लिये नहीं, जो कि आज भी है, कल भी रहेगी, महीने बाद भी, आने वाले वर्षों में भी और फिर अनन्त काल तक रहेगी। संस्कृत में आत्मा शब्द का अर्थ है जो कि सतत यानी कि निरन्तर (लगातार) गमन करता है, सदा एक रस बना रहता है अर्थात् कभी नष्ट नहीं होता। कभी भी ऐसा नहीं कि "जब वह आत्मा नहीं रहता।" तो उसके हित (भलाई) के लिये मनुष्य ने सोचना है। इसके लिये मनुष्य थोड़ा अपना विवेक जगाये कि "जैसे मैं आज चल रहा हूँ, वैसे चलते रहने से क्या मैं आगे सुखी होऊँगा ?" और इन्हीं सुखों के दुष्परिणामों (बुरे नतीजों) को देखते हुए अपना मार्ग (रास्ता) आगे के लिये

ठीक करे। यदि ऐसा करता है, तो ठीक है, अन्यथा यही समझना चाहिये कि उसने अपनी आत्मा के लिये नहीं सोचा, आज ही के लिये सोचा है। आज किये हुए ने यदि दस दिन के बाद उसे तंग किया, तो वह आत्मा के लिये सुखकारी तो नहीं हुआ। तो ऐसे छोटे मोटे सुख के पीछे पड़ने वाला आत्मवादी भी कैसे हुआ? आत्मवादी नहीं, वह तो अनात्मवादी, भौतिकवादी हुआ। भौतिक सुखों के पीछे लगा हुआ मनुष्य यही करता है कि जो भी अभी अच्छा लगा, वही कर दिया, परिणाम (नतीजा) उसकी दृष्टि में नहीं होता। परन्तु आत्मा का सुख, जो सच्चा है व सदा बना रहने वाला है, वह जिसकी दृष्टि (नज़र) में होगा, वह आगे (आने वाले समय) को पहले सुखी बनाकर, पीछे आज को देखेगा तथा बाहर व्यापक भगवान् की जो आराधना है, उसे भी खोंटा नहीं होने देगा। जैसा कि कल भी बताया था कि जो भगवान्, परमेश्वर हमारे अन्दर बैठा हुआ है, वह सारे विश्व की आत्मा रूप से एक है, हम तो अपने आप में एक हैं और वह सारा जुड़ा जुड़ाया एक है। इसलिये जितने भी ये जीव हैं, उन सबके एक दूसरे से अपने अपने कर्मो द्वारा जुड़ जुड़ाकर यह सारा व्यापक संसार बना हुआ है। अतः इसकी जो आत्मा रूप परमात्मा है, उसकी आराधना ठीक होनी चाहिए।

५. मान लो! एक बड़ा कारीगर है। संसार में तो वह एक जीव है, परन्तु उसमें कारीगरपना रूप भगवान् की शक्ति विद्यमान है। अब यदि आप उसी ढंग से उसका आदर नहीं करेंगे, तो वह आपके काम को बिगाड़ देगा। तो इसी तरीके से सब के अन्दर अपने अपने कर्म के ढंग से एक 'मैं' या 'अहंकार' बैठा हुआ है, जिसके अनुसार उचित व्यवहार आपको करना पड़ेगा। तो इस तरीके से जो मनुष्य अपनी 'मैं' को तो नीचे रखता है और उस व्यापक भगवान् की 'मैं' को आगे रखकर उसकी आराधना इस तरह करता है कि कम से कम यदि कोई मित्र न हो, तो वैरी भी कोई न बने। यदि आपका

कोई वैरी भी नहीं बनेगा, तो जब भी आप शान्त, एकान्त ध्यान में बैठेंगे, उस समय आपको अपने मन को स्थिर करने का अवसर मिल जायेगा। अन्यथा अकेले में बैठे हुए मन संशय ही पैदा करेगा कि "कहीं मुझे कोई हानि पहुँचाने वाला तो नहीं ?" अतः अन्दर के सत्यों की खबर तभी लगेगी, जब बाहर किसी भी प्रकार की शंका या उलझन मन में नहीं रहेगी। साथ ही बाहर कोई किसी किस्म का फालतू राग भी नहीं होना चाहिये। यही छोटी मोटी सुख की वस्तु में बँधने का नाम राग है। मान लो, मन किसी प्राणी में बँधा हुआ है और उस प्राणी के संयोग से सुख के कारण बस, उसी की ही यादें मस्तिष्क (दिमाग) में घूमती हैं व उसी के कर्तव्य चक्कर काटते रहते हैं, तो अब यह बताओ ! अनन्त संसार का बन्धन, यदि यह बाहर ही बाहर है, तो यह कितनी एक आयु तक देगा सुख किसी को ? क्या उसकी सत्ता है, सदा बनी रहने वाली ? अब यह सारा विचार अपने मन के अन्दर एकान्त में करना है। क्योंकि मन जब तक सच्चाई को महसूस नहीं कर लेगा और उसमें भाव पैदा नहीं होगा, तब तक वह बुराई से मुख मोड़ेगा नहीं। ऐसे तो पढने व सुनने से भी पता लग जायेगा। परन्तु यह केवल पढ़ना व सुनना मात्र ही प्रभाव (असर) नहीं करता, क्योंकि प्रकृति का बन्धन बहुत कड़ा है। जिन जिन सूतों व धागों से प्रकृति के बन्धनों ने जकड़ा हुआ है, उनको कौन तोड़ेगा यदि आपको अभी संसार में यह महसूस हो रहा है कि "अमुक (फलाँ) वस्तु के बिना मेरा निर्वाह (गुजारा) नहीं।" अब ध्यान अन्दर यदि बन पायेगा तो वही महसूस करवायेगा कि "यह तो प्रत्यक्ष नरक है, प्रत्यक्ष जलती आग है। जितनी जल्दी हो, इससे मुक्ति पायी जाये।" संसार में बने रहने का जो भाव है, यह ध्यान का विघ्न है। परन्तु खाली अकेले रहा नहीं जाता। इसलिये बाहर कुछ न कुछ बनने का ही भाव रहेगा। अब है यह थोड़े दिन का ही। जब कि चाहिये वह, जो कि सदा बना रहे। इसी प्रकार

नींद में सुख प्राप्त होता है, इसी प्रकार जागते जागते सदा रहने वाला सुख मिले और उसी सुख पाने का भाव उन्पन्न हो।

६. अब इसके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य बाहर की उलझन से सबसे पहले निकले। उसी उलझन से निकलने के लिये भगवद्–भक्ति कही गयी है अर्थात् "मैं" तो ज्यादा अपनी रखनी नहीं, 'मैं' तो भगवान् के अर्पण कर देनी कि यह 'मैं' उसी की है और स्वयं अपनी त्रुटियों का विचार करता हुआ अपने जीवन की ही घटनाओं से सीखता रहे, आगे के लिये वैसी त्रुटि न हो, इसी के लिये यत्न (कोशिश) करे। और अपने आपको लेकर ही, व्यावहारिक रीति से करने के ढँग से इतना तैयार कर ले कि जिससे नित्य प्रति अपना जीवन उन्नत होता जाये तथा यहाँ तक हो जाये कि "अपनी आत्मा में आकर टिक जाये, न कि संसार में ही बहते रहने का भाव रखे"। जब तक अपनी आत्मा में टिकेगा नहीं, सुख शान्ति नहीं होगी। जिसके लिये बार बार यही कहा जा रहा है कि मनुष्य अन्दर के बन्धनों को पहचाने व उनसे मुक्त हो। इन बन्धनों में अविद्या सबसे आखिर का बन्धन है। अविद्या में पड़ा हुआ मन बाहर ही कुछ न कुछ जानने के लिये झुका रहता है। अब इसके लिये मन को इस प्रकार समझाये कि "जो जानना था वह तो जान ही लिया है, अर्थात् यही तो जानना था कि बाहर प्राणी व पदार्थों के संयोग से होने वाला सुख सदा एक जैसा बना नहीं रहता और ये सब अन्त में सजा के रूप में रोग, शोक व व्याधियाँ ही देने वाले हैं।" मन को यही कहे कि "हे मन! बाहर तुम कुछ भी बनोगे, वह सदा बना नहीं रहेगा। यदि तुम शरीर का अभिमान करो, तो शरीर भी सदा एक जैसा नहीं बना रहेगा, बुद्धिमान् व विद्वान् बनो, तो बुद्धिमत्ता व विद्वत्ता भी सदा वैसी नहीं बनी रहेगी और इनका सुख भी सदा नहीं बना रहेगा तथा इनके यश भी थोड़े ही काल (समय) के लिये हैं।" मन को आप

अच्छी तरह विश्लेषण (छानबीन) से जँचा दें कि "क्या संसार में कोई ऐसी वस्तु है, जो कि स्वर्ग हो?" अर्थात् सदा एक जैसी बनी रहने वाली हो ?" और अन्त में मन को इसी निष्कर्ष (निचोड़) पर पहुँचाये कि "बाहर की वस्तुओं की तरफ जाना तो क्या, इनके बारे में शरीर की आवश्यकता से अधिक सोचना व समझना भी व्यर्थ और हानिकारक है।" परन्तु आपका यत्न यहीं पर समाप्त नहीं हो जायेगा, क्योंकि यदि आप इस निष्कर्ष (निचोड़) पर पहुँच भी गये, तो भी वह प्रकृति शान्त बैठने नहीं देगी। वह पुराने संस्कारों के ही अनुसार कुछ न कुछ जानने व समझने के लिये धक्का सा देगी। कहीं किसी की आकृति (शक्ल) ला कर खड़ी कर देगी और कहीं नींद जैसे ला करके भी कोई चकमा देकर के कोई वस्तु (चीज़) खड़ी कर देगी और फिर इसी उलझन में कई प्रकार की सोचों में डाल देगी, क्योंकि उसने ज्ञान फिर भी उत्पन्न करना है। तो इसलिये वहाँ इतने जोर से जागना पड़ेगा कि आलस्य, सुस्ती के क्षणों में भी प्रकृति आपके ऊपर सवार न हो सके। तो इसके लिये यही है कि उन्हीं शब्दों के सहारे अपने अन्दर ज्ञान जगाना, जो कि शास्त्रकारों ने अपने ढंग से बताये हैं, जैसे राग, द्वेष, मान, मोह इत्यादि। ऐसी अवस्था में, यदि आलस्य, निद्रा भी तंग करे, तो उसका भी पूरा विश्लेषण (छान बीन) करके उसे हटाये।

७. आलस्य निद्रा जब आती है, तो मन सोने के सिवाय और कुछ नहीं करना चाहता। ऐसी अवस्था में मन को समझाये कि "भाई ! आलस्य आ रहा है। ऐसा अभी ठीक नहीं है। मैं शान्त होकर जरा उठकर के बैठूँ।" तो पता लगेगा कि नींद तो टल नहीं रही बल्कि यह तो बड़ा जोर मार रही है। अब आगे यदि विचार किया, तो देखने में आयेगा कि "नींद लेने के लिये मैं स्वयं ही ढीला पड़ रहा हूँ। जब इसके सुख में रंगा हुआ मेरा मन है, और उसको लेने के लिये मैं अपने आप तैयार हूँ, तो ढीला तो मैं होता हूँ, फिर

निद्रा (नींद) सिर पर क्यों न चढ़े ?" तो फिर क्या करना चाहिए? यही करना चाहिये कि "मैं उसके सुख को मनोमन छोड़ दूँ कि मुझे इस समय निद्रा (नींद) का सुख नहीं चाहिये।" इस लिये क्षण क्षण नींद को टालता हुआ जागता रहे। वह निद्रा आना चाहे और आप उसको ग्रहण करने के लिये तैयार न हों। यही मन को जगाने का मार्ग (रास्ता) है। और जैसे ही मन इधर से जगेगा तो फिर प्रकृति वही बीती बातों के संस्कारों को ला लाकर सामने खड़ा करेगी। उनके बारे में ही सोचों में डालेगी। तब फिर आपका यही कर्तव्य है कि जिस भी कारण से मन बाहर की ओर झुकने लगे तो उसकी सत्यता का विचार करने लग गये, जैसा कि पहले इसी व्याख्यान में कहा गया है। ऐसा करने से उन सब वस्तुओं की अच्छाई, जो कि संस्कारों वश मन पर पड़ी हुई थी, जैसे ही मन से उतर जायेगी, तो मन स्वयं ही कहेगा कि "इसमें अच्छा क्या है? यह तो सत्यानाश की ओर ले जाने वाली है। जब से बच्चा इस संसार में जन्मा है, तब से ही सारे संसार का काम (इच्छा) उसके अन्दर घुस गया है। उसे राजा बनना भी अच्छा लग रहा है, बुद्धिमान्, विद्वान् और धनवान् बनना भी अच्छा लग रहा है। जो भी कोई आदर की वस्तु (चीज़) है, भले वह छोटा मोटा सुख ही देती है, वह सब इसको चाहिये। और भले वह उसे प्राप्त कर सकता है या नहीं, परन्तु कामना तो उसके अन्दर उन सब की प्रवेश किये बैठी हुई है। अतः जब भी आप मन को जगाना चाहोगे, तो यही मन पर लदा हुआ काम (इच्छा) ही बार बार आकर परेशान करेगा। तो इसके लिये यही है आप इसके विकार व द्वेष देखकर अपने मन को यह महसूस करने तक वापिस लाओ कि "संसार में एक तिनका जितना भी काम (इच्छा) वाला मन, जो कुछ बाहर करेगा, तो समझो! उससे अपनी ज्ञान शक्ति ही बाहर भटकेगी, जिससे प्राण शक्ति भी बाहर ही भटकेगी तथा जिसका परिणाम (नतीजा) यह

होगा कि अन्दर खोंटी गाँठ पड़ेगी। और फिर इस सत्य को जानने के लिये काया का योग जाग जायेगा।

८. काया के योग से क्या अभिप्राय है? यही कि आप बड़े आराम से बैठे बैठे महसूस कर रहे हैं कि "देखो भाई! जिस वस्तु की तरफ मेरा मन गया है, वह देखने में तो बड़ी अच्छी प्रतीत (मालूम) हो रही है, परन्तु साफ दीख रहा है कि इसमें रखा कुछ भी नहीं।" और जैसे ही उसके लिये मन अन्दर सोचों में पड़ा हुआ नजर आयेगा, तो साथ ही देखना "श्वाँस (साँस) अन्दर घुट घुट कर चल रहा है, जिससे साँस लेने में तंगी भी हो रही है।" फिर आप तुरन्त ही पहचान जाओगे कि इस तंगी का कारण यही है कि मन उस वस्तु (चीज़), की सोचों में पड़ा हुआ है। ऐसा होने पर फिर आपको किसी दूसरे द्वारा बताये जाने की आवश्यकता (जरुरत) नहीं है कि 'बाहर खोंटा है या बाहर मन का जाना बुरा है।" यह तो आपने तब देखा, जब आपको काया का योग जाग गया अर्थात् मन काया के साथ जुड़ गया। तो मन काया के साथ तभी जुड़ेगा, जब बाहर के बारे में अन्दर से ही भाव रूप से जाग जायेगा कि "हाँ भाई! बाहर की वस्तुओं में कुछ नहीं रखा, उनका सुख भी थोड़ी देर रहने वाला है, जो कि अनर्थ में समाप्त होता है जैसे शोक, व्याधियाँ व रोग वगैरह।" इस प्रकार यदि बाहर जीवन की तुच्छता समझ आ गयी और समझकर के चुपचाप देखते गये, तब वह पहला प्रकृति वाला मन बाहर की वस्तुओं की याद करता हुआ जैसे ही उधर जाने लगेगा, तो साथ ही श्वाँस (साँस) भी भारी हो जायेगा, हृदय में जकड़न जैसी मालूम होगी, कहीं पेट में गैस चढ़ जायेगी, कहीं माथा तना हुआ सा हो जायेगा। तो आप स्वयं ही देख लोगे कि यह सब उस सुख की सोच में प्राण के रुक जाने से हुआ। ऐसी अवस्था में यही कहा जायेगा कि आपके अन्दर जो दोष, विकार या बन्धन थे, उनको आपने अपने अन्दर आँख खोल कर देख लिया। जब ये आप देख

लेंगे, तब आपको कौन बतायेगा कि "जहर कैसा होता है ?" तो आपको मालूम होगा कि "संखिया जहर नहीं है। जहर तो यही है बाहर भटका हुआ ज्ञान और ज्ञान के साथ यही भटका हुआ प्राण।" "जब मैने उधर बाहर का चिन्तन किया, तब यहाँ गाँठ पड़ी। जिससे मेरा हृदय जकड़ा गया और तब तक ऐसा रहा, जब तक मैंने उस तरफ का चिन्तन नहीं छोड़ा। और जैसे ही चिन्तन छूटा तो श्वाँस (साँस) पूरा चलने लगा और मन हल्का हो गया। हल्का होते ही देह में खुशी आ गयी।" तो अपने आप मनोमन उछल पड़ोगे और नींद भूल जाओगे। इस तरह दिनों दिन अपने आप में स्वयं ही प्रभावित हो हो कर यदि जागते रहे तो यही मन अन्त में आपको एक दिन विवश (लाचार) कर देगा कि "भाई! बाहर के सुखों से सम्बन्ध तो पूर्णतया ही तोड़ना पड़ेगा।"

६. अब ऐसी अवस्था में, यदि मर भी गये तो आगे बढ़िया लोक मिलेगा। स्वर्ग लोक, ब्रह्म लोक व विष्णु लोक इत्यादि। और नहीं तो, कम से कम एक उत्तम मनुष्य का जन्म तो अवश्य (जरुर) मिलेगा, जहाँ पर जाकर फिर आप इसी कल्याण के मार्ग पर पड़ जाओगे। परन्तु यदि इन्हीं संसार की चिन्ताओं में व बाहर नाना प्रकार की दूसरों के प्रति शिकायतों का बोझा (गठ्ठड़) बाँधे हुए लेकर ही इस संसार से बिदा हुए, तो पता नहीं ऐसे भावों वाला मन कई प्रकार की शंकाओं में पड़ा हुआ आगे क्या सृष्टि बनायेगा ? अर्थात् भाव के अनुसार ही आगे संसार पैदा होगा। निद्रा (नींद) भी एक प्रकार से मौत के समान है। जब नींद आते ही स्वप्न में भावों के अनुसार सृष्टि दीखने लग जाती है, तो यह मौत आने पर कैसे सृष्टि नहीं होगी? और जैसा भाव होगा, वैसी ही आगे शक्ल भी मिलेगी। ये नाना प्रकार की शक्लें, जो हम चौरासी लाख जीवों की इस संसार में देख रहे हैं, ये सारी भावों के अनुसार ही तो है। यदि बुद्धिपूर्वक समझ को साथ रखते हुए अपने को सम्भाल कर रखा जाये, तो जैसा

कि पहले कहा है, मनुष्य का जीवन ऐसे व्यक्ति को ही मिलेगा। ऐसा मनुष्य मन, बुद्धि, देह व इन्द्रियों आदि को सम्भालता हुआ भगवद्–भक्ति में ही लगा रहता है। मैत्री आदि बलों को धारण करके अपने जीवन को शुद्धता की ओर ले जाता है। राग, द्वेष, क्रोध, आदि प्रकृति की तरंगें आम जीवों को तो अपने ही रास्ते पर चलाकर ले जाती हैं परन्तु ऐसा मनुष्य स्मृति से सदा ज्ञान को उपस्थित (हाजिर) रखता हुआ वीर्य (वीर भाव) से उनका मुकाबला करता हे, जिससे उसके पापों का नाश होकर उसको अपनी आत्मा में टिकाव प्राप्त होता है। अब कोई यदि किसी छोटे मोटे सुख के कारण से ही प्रकृति की इन काम (इच्छा), क्रोध आदि की तरंगों में झट से बह जाता है, तो उसका इस कारण से किया हुआ कोई भी कर्म दुःख के एक रिकार्ड के रूप में अन्दर अंकित हुआ हुआ, कभी न कभी यही देवता चित्रगुप्त जब भी अपनी पोथी खोलेगा, तो, सजा के रूप मे अवश्य सामने आयेगा।

१०. मान लो! एक चोर ने चोरी कर ली और चोरी करने के बाद उसके मन में यह आया कि "मुझे किसी ने देखा तो है नहीं, इसलिये मेरा कोई भी क्या बिगाड़ सकता है?" परन्तु साथ ही उसके मन में यह भाव भी रहा कि "यह कर्म ऐसा है कि यदि मैं किसी प्रकार से पकड़ा गया तो इसका दण्ड भयंकर होगा, मैं बुरी तरह पिटूँगा तथा इससे मेरी बहुत बड़ी दुर्गति होगी।" अब इन्हीं भावों को लिये हुए जैसे ही वह चोर सोया, तो सपने में वह क्या देख रहा है कि "मैं पिट रहा हूँ, घसीटा भी जा रहा हूँ व डण्डे भी खा रहा हूँ।" इसी दौरान उसका स्वप्न टूट जाता है और उठते ही जब अपने स्वप्न के बारे में विचार करने लगा, तो उसे यह बात निश्चय में आयी कि "एक देह (जागते हुए देह) में किये हुए कर्म का भुगतान सपने में दूसरी देह में जाकर मुझे मिला, परन्तु दोनों देहों में था मैं आप ही।" तो इसी प्रकार हो सकता है (सम्भव है), जो कर्म इस देह में किया, जब यह निद्रा के समान ही

दूसरे मृत्यु (मौत) की निद्रा में चला जायेगा, तो वहाँ भी दूसरे देह में इसके कर्मों का फल प्राप्त हो। तो इससे यही स्पष्ट हुआ कि जैसा जैसा हमारा कर्म होगा, वैसे ही हमारे भाव बनेगें तथा वैसा वैसा ही हमें आगे का खेल दिखायी देगा। अब यह जितना भी खेल है, उसे 'मैं' 'तूँ' उत्पन्न नहीं करता। उसे पैदा करने वाला तो वही एक ही है, जिसे परमेश्वर, भगवान् या ब्रह्म इत्यादि कहते है। वही अपनी माया द्वारा यह सारा खेल रचता है। और रचता है वैसा ही, जैसा कि हमारे अन्दर अंकित हो चुका है। तो इसलिये यही है कि बाहर अपनी भक्ति ऐसी करनी कि किसी का भी कुछ खोटा न होने पाये। और यदि कुछ ऐसा खोटा हुआ है, तो यह बिचार करे कि यह खोटा कर्म किस कारण से बना ? जिस कारण से बना है उसको समझकर, भविष्य के लिये उसको टालने की सीखले कि "इस कर्म के कारण को ही नहीं बनने दूँगा।" तो ऐसा सीखकर उस पाप से हटने वाले व्यक्ति का पिछले वैसे कर्म का पाप भी दब जाता है। अब इस प्रकार आप यदि करते रहेंगे, तो धीरे धीरे सारे बन्धन मिट जायेंगे। जब बाँधने वाला कोई बाहर नहीं रहेगा, तो मन भाव से युक्त होकर उधर जाने की इच्छा भी नहीं रखेगा। जब जाना ही नहीं, तो उधर के बारे में सोचना भी क्यों ? अर्थात् वहाँ पर चित्त (२६. १२. ८६) के व्याख्यान में 'चित्त' का विस्तृत विवरण दिया गया है) भी नहीं रहेगा। इस प्रकार बाहर जब जानने व सोचने का कुछ रहेगा ही नहीं, तो समझो ! अविद्या दम घुट घुट कर वहीं मर जायेगी।

११. जितना मन बाहर कुछ भी जानने के लिये लपकता है, उतना ही वह अन्दर भगवान् को जानने के लिये परहेज करता है, कारण कि बाहर ही उसका स्वार्थ होने के कारण, उसका सब कुछ जानने का बाहर ही पड़ा हुआ है। इसलिये अन्दर कुछ जानने की वह इच्छा ही नहीं करता। अब अन्दर जानने का तभी हो सकता है, जब बाहर का स्वार्थ छूटे।

इसके लिये ही बताया कि अविद्या जब भी बाहर कुछ जानने के लिये लपके, तो उसे खुजली के दुःख की तरह सहन करता हुआ ही टाल दे। अविद्या के टलते ही अन्दर परमात्मा का सच्चा ज्ञान, जो कि निद्रा (नींद) में सुखरूप से प्रकट होता है, वही अन्दर जागते जागते प्रकट हो जायेगा। उसके प्रकट होते ही आप कृतकृत्य हो जायेंगे अर्थात् जो करना था सो कर लिया। अब आपको और कुछ करने का शेष नहीं रहेगा। फिर यही होगा कि "बस, जो पाना था सो पा लिया।" अब यह कैसे मिटेगा, जो कि सबके अन्दर स्वाभााविक है? तब पता चलेगा कि यह मेरी ही आत्मा नहीं है, यह सारे विश्व की आत्मा है, जो कि सभी जीव जन्तुओं, पेड़ पौधों इत्यादि में समान रूप से है। इसमें कुछ भेद भाव नहीं है। भेदभाव तो केवल इस "हम" "तुम" अर्थात् "मैं" "तूँ" के सापेक्ष जगत् में ही है अर्थात् जहाँ हम तुम का सम्बन्ध है, वहीं "मैं" तूँ" होती है, जो कि एक दूसरे को देख कर पैदा होती है। तो इस प्रकार भेदभाव के इस संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठकर मन को उस परमात्मा में ही स्थिर करना पड़ता है, जिसके लिये आवश्यक (जरूरी) है कि मनुष्य संसार से मुख मोड़े। यहाँ तक कि संसार में कुछ जानने तक की भी इच्छा न रहे। तभी वह अविद्या का ढक्कन समाप्त होता है। फिर भगवान् तो सदा प्रकाशमान है, जब वह निद्रा (नींद) के बीच में अपना सुख प्रकट करता है तो जागते जागते क्यों नहीं करेगा? बस, जागते जागते तभी नहीं करेगा, यदि मन में कोई उलझन पड़ी हुई है।

१२. अब उलझन में डालने वाले हैं, वही बन्धन दृष्टि, संशय, राग, द्वेष, मान, मोह इत्यादि, जिनका कि वर्णन इस सप्ताह में पहले किया जा चुका है। इनके लिये यह अति आवश्यक है कि इन सब बन्धनों को एक एक करके जैसे बाहर खुली आँख कोई वस्तु (चीज़) देखती है, वैसे ही अपने अन्दर जागते मन में इन बन्धनों को देखे। तब तो इनकी

बुराई दीखने पर ये एक न एक दिन झड़ भी जायेंगे । अन्यथा इनके झड़ने का कोई मार्ग (रास्ता) नहीं है । अब फिर इन बन्धनों के अन्दर दीखने के लिये यह भी जरूरी हैं कि मनुष्य इस संसार की आसक्ति या तृष्णा से भी थोड़ा पीछे हटे अर्थात् संसार में सुख का जो भाव बना हुआ है, उससे थोड़ा निवृत्ति पाये और साथ ही निद्रा (नींद) के सुख से भी थोड़ा सा किनारा करने का यत्न करे । क्योंकि नींद पर काबू पाकर अन्दर ज्ञान तो जगाना है । इसका अभिप्राय यह नहीं की निद्रा (नींद) लेनी नहीं । लेनी जरूर है, परन्तु नियम (कायदे) के अन्तर्गत ही । मान लो, नींद में मन ऊब रहा है, मन यही सोच रहा है कि "चलो ! घंटा जप कर लो या माला फेर लो, फिर सोना तो है ही है ।" दूसरा जब सुबह उठे, तो भी मन यही दलील कर रहा हैं कि "चलो भाई ! घण्टा भर बैठ लो, फिर जल्दी जल्दी नहा लो, माला फेर लो या जप कर लो, चाय पी लो और फिर वहाँ जाना है ।" तो जब तक मनुष्य इन बन्धनों में ही बँधा हुआ है, तब तक उसके अन्दर सच्चा ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा, सच्चे ज्ञान बिना इनको त्यागने का भाव नहीं बनेगा, भाव बने बिना वैराग्य नहीं होगा । यदि वैराग्य नहीं होगा, तो मन बाहर संसार से फीका होकर उससे मुख नहीं मोड़ेगा । यदि उससे मुख नहीं मुड़ा तो फिर समझो! जो ज्ञान शक्ति बाहर ही उलझ या भटक रही है, वह अन्दर इकट्ठी कैसे होगी? अब उसके अन्दर इकट्ठा न होने पर मनुष्य खोया खोया खुसा खुसा सा ही रहेगा । तो मरते समय तक उस बेचारे को यही रहेगा कि "यहाँ मन नहीं लगता, वहाँ जाओ, वहाँ मन नहीं लगता, कारण कि आदर मान व खाने पीने के सुख पहले जैसे रहे नहीं ।" ऐसी अवस्था में नींद भी तंग करती है और ऐसा मनुष्य शोक संतप्त हुआ हुआ अन्त में यही कहेगा कि "हे भगवन् ! अब मुझे इस संसार से उठा लो, तो अच्छा है ।" तो ऐसी अवस्था (स्थिति) न ही बने, इसी के लिये यह आवश्यक (जरूरी) है कि मनुष्य

अपनी आत्मा में डुबकी लगाये, जिसके लिये घ्यान में थोड़ा सच्चाई का ज्ञान जगाये। ध्यान का पहला लक्षण ही यह है कि अन्दर पहचान जाग जाये। भले ही वह पहचान अभी इतनी ही जागे कि अपनी दिनचर्या का ही विश्लेषण (छानबीन) करके मनुष्य अपने मन की थोड़ी सफाई करता जाये।

१३. अब इस प्रकार करते करते अपनी आत्मा को जगा करके कुछ करने की तैयारी हो गयी, समझो ! आपने मनोमन संसार से बिछुड़ना (मुक्त होना) शुरू कर दिया। इस तरह यह मुक्ति का मार्ग (रास्ता) धीरे धीरे आगे ही आगे चलता जाये, तो इसके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य इन तीन के प्रति भी थोड़ी श्रद्धा करले। सर्वप्रथम, उस भगवान् के प्रति श्रद्धा रखनी है, जिसने यह मार्ग (रास्ता) चला रखा है, वेद शास्त्र भी उसी के कहे हुए हैं, वह सनातन (सदा एक जैसा रहने वाला) है तथा अपने धाम में सदा विराजमान है, उसी ने यह मार्ग (रास्ता) इधर नीचे संसार में भेजा हुआ है। उसके प्रति भी इस प्रकार श्रद्धा रखनी है कि जब वह अपने धाम में पहुँचा बैठा है, तो हम भी अवश्य वहाँ पहुँचेंगे। अब हमने जिस मार्ग (रास्ते) से उस भगवान् के धाम तक पहुँचना है, उसका नाम धर्म है। सब अच्छाइयों में रहना, बुराइयों को त्यागना, मन की शुद्धि व सफाई करते रहना तथा थोड़ा थोड़ा विचार को जगाते रहना ये सब धर्म के अंग हैं। अतः धर्म के प्रति भी श्रद्धा रखनी है, फिर तीसरा उन सब के प्रति भी श्रद्धा रखनी है, जो इस धर्म के मार्ग (रास्ते) पर चले है, चल रहे हैं तथा आगे चलेंगे। भले वह कोई छोटा मनुष्य भी है, उसके प्रति खोंटी दृष्टि नहीं रखनी है, बल्कि उसकी अच्छाई को देखकर थोड़ा मन में प्रसन्न होना। धर्म के मार्ग (रास्ते) पर चलने वाले भक्तजनों के लिये अपने मन से थोड़ा नम्र रहना।

१४. अतः उपर्युक्त बतायी रीति के अनुसार पूर्णतया यदि क़ोई मनुष्य अपने जीवन को चलाता है, तो यही जो संसार

का भौतिक जीवन है, वही एक तरफ से मुक्त होकर आध्यात्मिक जीवन बन जाता है। तो अन्त में यह आध्यात्मिक जीवन ही पार लगाने वाला है, जिसकी कुञ्जी यही है कि बाहर सारी अच्छाइयाँ स्थापित हों अर्थात् भक्तियोग से इस विश्व की अच्छी आराधना हो तथा मन में ध्यान द्वारा मन की सारी वस्तुएँ (चीज़ें) अर्थात् अन्दर के सत्य पहचानकर सारे बन्धनों से छुट्टी पायी जाये। इस प्रकार छुट्टी पाते ही वह शक्ति अन्दर एकाग्र हुई हुई परम सुख को देती है, जो कि परमेश्वर में बसा हुआ है। आज बस यही है।



प्रवचन

३०—१२—१९८९

जैसा कि पिछले सप्ताह आत्मा परमात्मा के परम सुख के बारे में बतलाया था, तो इस सप्ताह में प्रकृति के बन्धन और उससे मुक्ति (छुटकारों) के सम्बन्ध में बतलाना है।

मन को जो प्रतिकूल (उल्टा) भाव प्रतीत (मालूम) होता है, उसी का नाम दुःख है, जो कि मन को अच्छा करके नहीं लगता। वह प्रकृति वाला मन प्रतिकूलों से डरता है और चाहता है कि जो अच्छा लगता है, केवल वही मिलता रहे। इससे अनुकूलता की दासता बढ़ जाती है। अन्त में अनुकूलताओं को खोजते—खोजते अपने अनुकूलों को भी प्रतिकूल ही बना लेता है। संसार में जितनी अच्छी लगने की वस्तुएँ हैं उनका सुख दिन प्रतिदिन घटता ही जाता है। जैसे उसको एक बार कोई वस्तु अच्छी लग गई, तो अब उसने मन से उसी माप की अच्छाई खोजनी है। तृष्णा उसी वस्तु की होती है, जिसमें मन ज्यादा आकर्षित हो गया है अर्थात् खिंच गया है। जो एक बार उसको अच्छा लगा है, वह पुनः अच्छाई (सुख) उतनी ही मात्रा में दूसरी बार मिलेगी नहीं और समय पाकर जितनी अधिक तृष्णा बढ़ती जायेगी, उतनी ही उस वस्तु की अच्छाई व सुख भी दिनोंदिन कम होता जायेगा। अन्त में किसी समय उसकी अच्छाई व सुख के स्थान पर बुराई या दुःख भी अनुभव में आने लगेगा कारण कि कोई वस्तु भी परिवर्तन (बदलाव) के बिना नहीं है, इसलिए एक जैसी नहीं रहती है। इसलिए फिर वह जिस ओर भी भागेगा, खाली उसकी तृष्णा ही तृष्णा है। जो बाहर संसार में इधर उधर भागना दौड़ना है, यह सब संसार के बीच में इतना रुल जाना व बह जाना है कि जिससे वह सारा संसार भी उसके लिए दुःख रूप ही हो जाता है। अब यदि इससे

बचकर कहीं सुख पाना हो, तो अपनी अन्तरात्मा में लौटने व वहीं बैठने के अतिरिक्त (सिवाय) कोई उपाय (चारा) ही नहीं हैं। परन्तु मनुष्य अन्तरात्मा में तभी बैठ सकेगा, यदि उसको ध्यान का उपाय मिल जाये। ध्यान एक ऐसा साधन है, जो बाहर से बिछोड़ा करके अपनी अन्तरात्मा के साथ मेल या योग करवायेगा। तब जिस प्रकार व्यक्ति को बाहर दूसरे के साथ संग करने में समय व्यतीत करने में अच्छा लगता है, वैसे ही अन्तरात्मा के साथ ध्यान द्वारा जुड़ जाने पर मन अति सुखी होगा और उसमें समय व्यतीत होने की भी खबर नहीं लगेगी, तब पुनः संसार में भटकने की आवश्यकता भी नहीं होगी। जो अपनी आत्मा में सुख नहीं पाता, उसी मन को बाहर भटकना पड़ता है और बाहर के दुःखों में समय व्यतीत करना पड़ता है। ध्यान भी ऐसा होना चाहिए, जो स्वाभाविक हो। यही नहीं कि कभी तो ध्यान लग गया, कभी नहीं लगा। यह ध्यान कोई विशेष मतलब (काम) का नहीं है। जब हमारे मन को ध्यान चाहिए, तब यदि हम अपने अन्दर नहीं आ सके व अन्दर का सुख नहीं मिला, तो मन तड़फता ही रहेगा। इसलिये ध्यान स्वाभाविक होना चाहिए, जिसमें चार गुण हों। पहला गुण स्वाभाविक ध्यान का यही है कि जिस समय हम चाहें, उसी समय ध्यान लगा लें। यह नहीं होना चाहिये कि किसी विशेष समय यानी सुबह, दोपहर या शाम को ही ध्यान लगेगा और जिस समय हमको ध्यान की आवश्यकता (जरूरत) है उस समय ध्यान लग नहीं सके, अर्थात् स्वाभाविक ध्यान का पहला गुण यह है कि जिस समय पर हम चाहे, उसी समय हमकों ध्यान मिल जाये। (२) स्वाभाविक ध्यान का दूसरा गुण यह है कि जिस जगह हम चाहें, उसी जगह पर ध्यान लग जाये। यह नहीं होना चाहिए कि अमुक (फलाँ) स्थान में बैठे है, तो ध्यान लग गया और यहाँ से दस मील दूर छोड़कर चले गये, तो वहाँ ध्यान ही नहीं लगे कारण कि हमारे मन के अनुकूल (मुताबिक) वहाँ

का वातावरण नहीं है व उस स्थान पर शंकाएँ व भय बना हुआ है, तो समझो यह ध्यान स्वाभाविक नहीं है। इसका तात्पर्य (मतलब) यह है कि सकल आयु भर एक ही जगह पर पड़े रहें, तभी जाकर के ध्यान लगेगा। (३) तीसरा गुण यह है कि ध्यान किसी प्राणी व पदार्थों के मिलने पर ही लगने वाला नहीं होना चाहिए। यदि नियम से, जो जैसा हम खाते पीते है, जैसी वस्तुएँ (पदार्थ) हम को प्रतिदिन (हर रोज) मिलती है, वे मिलती रहें, तभी ध्यान लगेगा ओर यदि वे वस्तुएँ मन के अनुकूल (मुताबिक) नहीं मिली, तो ध्यान ही न लगे, तो यह ध्यान भी स्वभाविक नहीं कहा जायेगा। इस मनुष्य का यदि थोड़ा सुख बिगड़ गया, तो ध्यान ही नहीं लगना, जो कि एक रेत की दीवार पर टिकने के समान व पोला ध्यान है। (४) चौथा गुण यह है कि ध्यान जितना समय तक हम लगाना चाहें, उतना समय तक लगा रहे। यह नहीं होना चाहिये कि एक बार तो ध्यान में डुबकी मार ली अर्थात् थोड़ा ध्यान लग गया और फिर झटपट वह ध्यान हट गया और फिर लगता ही नहीं। यह ध्यान भी स्वाभाविक नहीं कहा जायेगा।

३. इसलिये ऊपर कहे हुए चारों गुण ध्यान में चाहिये, वही ध्यान स्वाभाविक होता है। अर्थात् ध्यान देश, स्थान से बँधा हुआ नहीं हो, काल (समय) से भी बँधा हुआ नहीं हो और किसी प्रकार की अपने अन्दर की शर्त (चाय बीड़ी पीना आदि) से बँधा नहीं हो और जितने समय के लिये ध्यान लगाना चाहें, उतने समय तक ध्यान लगा रहे। जब चाहें, तब ध्यान से उठ जायें। उठने के पश्चात् , पुनः जब चाहें, तब ध्यान में स्थिर हो जायें। ऐसा ध्यान जो है, वह स्वाभाविक ध्यान कहा जाता है। भले ही कोई व्यक्ति मृत्यु (मौत) की अवस्था (हालत) में बैठा है, और जिस स्थान पर भी बैठा है, वहाँ भी चाहे, तो ध्यान लगा ले, ध्यान ऐसा स्वाभाविक होना चाहिये। यदि किसी मनुष्य का ध्यान इस प्रकार का स्वाभाविक

बन गया है, तभी भगवान् (प्रभु) अन्त समय (मरते समय) में याद आयेगा। जैसे गीता में आता है व भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं कि "जो मरण काल में मेरा ध्यान करता है, वह मेरे को ही प्राप्त होता है"। जब तक ध्यान स्वाभाविक नहीं होता, तब तक वह ध्यान वास्तविक बल नहीं बनता। अब ध्यान का बल यही है कि जब चाहे संसार को पटक करके अपनी अन्तरात्मा में आ जायें। वहाँ पर ठण्डी व गर्म हवा नहीं लगती। निद्रा (नींद) में भी भूख, प्यास, व रोग आदि की पीड़ा (दुःख) प्रतीत (मालूम) नहीं होती, क्योंकि वह मनुष्य एक ऐसी अवस्था में पहुँच गया है, जहाँ इस संसार का एक भी दुःख नहीं रहा। वहाँ भी ज्ञानदेव नींद में समाप्त नहीं हुआ है अर्थात् वह जीता ही है। यदि निद्रा (नींद) नहीं लेने पर मनुष्य को स्वाभाविक ध्यान मिल जाये, तो यह निद्रा (नींद) से भी उत्तम होगा, कारण कि जागते–जागते सारे संसार से मुख मोड़ लिया अर्थात् अपने मन को मोड़ लिया। वैसे तो प्रजापति देव संसार में थक जाने पर निद्रा (नींद) में डाल कर भी मन को थोड़े समय के लिये संसार से मोड़ देता है। ऐसा मन का जागते–जागते मुड़ना उस मनुष्य के लिये सम्भव होता है, जिसके लिये ध्यान इतना स्वाभाविक हो गया है कि जरा थोड़ा संसार से मुख मोड़ते ही वह अपने ध्यान में चला जाता है। इस प्रकार से मनुष्य का स्वाभाविक ध्यान न किसी प्राणी से बँधा हो, न ही किसी बाहर के पदार्थ से बँधा हो, न ही किसी देश, स्थान से और किसी काल (समय) से बँधा हो अर्थात् सुबह (प्रातःकाल) दोपहर अथवा रात को न देखते हुए ध्यान लग जाना चाहिये। जब अवकाश (फुरसत) मिला, तभी ध्यान लग जाना ही स्वाभाविक ध्यान का लक्षण है। स्वाभाविक ध्यान का यह गुण भी है कि ध्यान ऐसा लगना चाहिए कि जितने समय तक हम ध्यान में रहना चाहें, ध्यान में रह सकें। यह नहीं कि एक मिनट के लिये डुबकी ध्यान में लगी और फिर उचट गई। थोड़ी देर के बाद फिर ध्यान

लगा, फिर उचट (टूट) गया। स्वाभाविक ध्यान में ऐसा होता है कि यदि कोई कई घंटे तक ध्यान में बैठना चाहें, तो वह घंटों ही ध्यान में बैठा रह सकता है और उसको ध्यान में किसी प्रकार का क्लेश या दुःख नहीं होता।

४. स्वाभाविक ध्यान उसका बनता है, जिसने ठीक प्रकार से पाँच बल, (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, ध्यान और प्रज्ञा) प्राप्त कर लिये। इनमें अधिक तो स्मृति, वीर्य और ध्यान को ही स्वाभाविक बनाना है। इनके नाम तो आप कई बार सुनते आये हैं, परन्तु इनको अपने व्यवहार (बर्ताव) में अपनाकर (लाकर) ऐसा स्वाभाविक बनाना है, जैसे कोई दवाई शरीर के अन्दर रोम–रोम में रस जाती है। जब ये तीनों हर समय आपका साथ देंगे, तो ध्यान को स्वाभाविक बनाने में कोई अड़चन नहीं करेगा। अतः प्रत्येक कर्म के बीच में ये तीनों रहें, तो कैसे रहेंगे? और रहते क्यों नहीं? इसका कारण केवल काम (इच्छा) रूपी ठग है, जिसके लिये गीता में श्री कृष्ण भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! "निष्काम कर्मयोग सीख" अर्थात् प्रत्येक कर्म के बीच में से इस काम (इच्छा) रूपी ठग को निकालते–निकालते मन को जोड़ कर करना सीखें। परन्तु मन का संसार में भटकना और रोग व्याधि आदि ऐसा करने नहीं देते। जो देहादि की तन्दुरुस्ती की अवस्था को भंग करने वाला है, उसी का नाम रोग है। वही शारीरिक रोग आदि, जो विशेष करके मन की व्यथा करने वाले हैं या कष्ट देने वाले हैं, उतने से ही ये रोग ही व्याधि रूप से कहे जाते हैं। जब किसी बाहरी बन्धन के साथ बँध गये, तो वह बन्धन शरीर (देह) को तोड़–फोड़ देता है ओर मन को भी नाना प्रकार से परेशान करता है इसका नाम भी रोग (व्याधि) होता है। व्याधि का तात्पर्य है कि मन के अन्दर व्यर्थ चिन्ता सोच लगी रहती है, कि "कब हटें, क्या करें ?" ऐसी चिन्ता फिकर आदि ही सब व्याधियाँ हैं। इसी काम (इच्छा) के जाल के कारण, जो हर समय सिर पर लदा रहता है, ध्यान

स्वाभाविक नहीं बन पाता और उसी के कारण से ही स्मृति, वीर्य, और ध्यान नहीं बन पाते । जैसे हम हाथ धो रहे हैं कोई भी काम (इच्छा) का जाल सिर पर लदा होने के कारण से हाथ साफ करते हुए भटका हुआ मन अन्दर से चाय पीने की सोच रहा है कि "जल्दी जल्दी हाथ साफ कर लें, ताकि अन्दर कमरे में जाकर के गर्म गर्म चाय पीयें ।" इस प्रकार हाथ तो स्वभाव (आदत)से धुल रहे हैं, परन्तु स्मृति वहाँ हाथ साफ करने में नहीं है । अब देखो ! काम (इच्छा) का जाल मन को उड़ा करके चाय पीने की ओर ले गया । जिस समय एक छोटे से कार्य में "एक काम एक ध्यान" नहीं है, तो ऐसे ही जिस समय आप आसन पर बैठकर ध्यान करेंगे, तो वहाँ पर भी काम (इच्छा) रूपी ठग स्मृति को चुरा करके ले जायेगा । ध्यान में ही काम (इच्छा) निद्रा (नींद) लेने के लिये आ जायेगा कि "सोना है", क्योंकि उस मन का सुख उस निद्रा (नींद) रूपी काम (इच्छा) में पड़ा हुआ है । काम (इच्छा) के सुख का तात्पर्य है कि काम (इच्छा) सुख के पीछे चलता है । जो मन को अच्छा लगता है, उसका नाम सुख है और वही मिलना चाहिए, जो अच्छा लगता है, इसी का नाम काम है । अब मन उसी की चिन्ता में बहता रहता है, इसका नाम "राग" है । इन तीनों की धारा या जंजीर मनुष्य के मन के अन्दर हर समय बनी रहती है । जो मनुष्य प्रत्येक अपने कर्म के बीच में इस काम (इच्छा) को पहचानने वाला है, तो वह इस ठग से बच सकता है ओर नहीं तो, यह काम (इच्छा) रूपी ठग सदा ही मनुष्य को ठगने वाला है । इसलिये अपने सारे कर्मो को निष्काम बनाओ अर्थात् कर्म करते हुए मन में किसी प्रकार की भी इच्छा लदी हुई नहीं होनी चाहिये अथवा मन पूर्णतया कार्य करने में ही लगा हुआ होना चाहिये । इस प्रकार कर्म करने से यह भी एक निष्काम कर्मयोग हो जाता है । जैसे कि हम हाथ धो रहे है, यदि ठीक प्रकार से स्मृति में हाथ धुल रहे है, तो पता है कि "हाथ ही धुल रहे है, अर्थात्

हाथ धोने के कर्म में ही मन जुड़ा हुआ है और तभी दूसरे काम (इच्छा)को भी टालता जा रहा है। इसी काम (इच्छा) से निकलते हुए जो मन को कर्म में जोड़े रखना है, यही निष्काम कर्मयोग का अर्थ है। यदि मन बाहर भटका हुआ है और हाथ आदत से धुल रहे हैं, तो यह निष्काम कर्मयोग नहीं। ऐसी अवस्था में, यदि थोड़ी देर के लिये आप ध्यान से हाथ धोने को देखेंगे, तो पता चलेगा कि "कान हाथ धोने की आवाज न सुन करके पता नहीं कहीं और जगह की ही आवाज सुन रहे हैं।" तो देखो। मन दो हो गये। इस समय हाथ धोने में यह ध्यान वाला मन नहीं है वरना उसको हाथ धोने में हाथ स्पर्श का पता लगता, कि "हाथ धोने का कार्य कैसे चल रहा है, मिट्टी लग रही है, ठण्डी-गर्मी लग रही है और हाथ रगड़ने की आवाज भी सुनाई दे रही है।" इस मन की भटकन के साथ हाथ धोने का तात्पर्य है कि कहीं मन के अन्दर ठंडी का भय घुसा हुआ है ओर वह भय ही ध्यान खराब करता है कि "जल्दी-जल्दी हाथ धो लो फिर गर्म जगह जाना है"। "एक मन एक काम"तो तब होगा, जब काम भय आदि वाला मन काम भय आदि को त्याग (छोड़) करके कर्म करने में पूरा लगा हुआ हो। यही प्रकृति के सुख वाला मन धूप में कार्य करता हुआ या चलता हुआ ठण्डी (छाया) की खोज करने के बारे में सोचता रहता है। यदि इस प्रकार मन के वृत्तान्त आप देखने लग गये, तो आपका ध्यान स्वाभाविक बनने लगेगा। इस प्रकार आपको अनुभव में आयेगा कि काम (इच्छा) को छोड़ कर कर्म के साथ जुड़ने का नाम निष्काम कर्म योग है। योग नाम जुड़ने का है। निष्काम रूप कर्म में जुड़ना बस इतना है कि कार्य को करते हुए कर्म के बीच में से काम (इच्छा) को निकाल देना है। इस जीवन में शेष सारी देह की जितनी आवश्यकता की वस्तुएँ है, वे तो मिलती या होती ही रहेंगी। काम (इच्छा) का कलंक यही है कि मन बाहर ही संसार में किसी स्थान

पर किसी वस्तु विशेष का सुख पाने के साथ बँधा (जकड़ा) रहता है। उस बन्धन (जकड़न) को ही थोड़ा छीनना अथवा हटाना है। इसके लिये धीरे–धीरे पहले कर्मयोग में लगा रहे। कर्म योग सही सीखे कि "कर्म के साथ जुड़ करके कार्य करने का नाम ही कर्म योग है"।

५. इस कर्मयोग के अभ्यास की सफलता के लिए हाथ धोने आदि सकल कर्मों में भटकते हुए मन को पहचानना और फिर उसको (मन को) बाहर से मोड़–मोड़ कर करते हुए कार्य में लगाने से समझो आपने तीन बल (ध्यान, स्मृति और वीर्य) एक साथ अपना लिये। यह छोटी सी बात है इसे एक ही दिन में आप भले ही पढ़ लो या किसी से सुन लो परन्तु जब तक यह बात व्यवहार (बर्ताव) में नहीं आयेगी, तो इसका अपने अन्दर निकट से ज्ञान नहीं होगा। निकट से ज्ञान हुए बिना इसका फल नहीं होगा। इसको कार्य में लाने के लिये आपको प्रत्येक (हर एक) कर्म की पढ़ाई या निरीक्षण करना होगा अर्थात् अपने. आपको ध्यान में रखते हुए कर्म करना होगा और अपना कार्य ऐसे ढंग (प्रकार) से करना है कि वह कार्य ठीक रीति से भी हो। ठीक रीति का तात्पर्य यह है कि "उस कर्म के बीच में हम जुड़ रहे हैं व अडचनें दृष्टि (नजर) में आ रही हैं।" अधिक अड़चन उसी काम (इच्छा) की ही दृष्टि (नजर) में आयेगी। जो काम (इच्छा) जिस समय भी बहता हुआ दिखाई दे जाये, भले आँख, कान अथवा मन को भटकाने वाला हो, उसी समय अपनी बारीक (सूक्ष्म) दृष्टि (नजर) खोल कर यदि आपने इसको पहचानना आरम्भ कर दिया, तो समझो मन ध्यान के योग्य हो गया। अब "आप मार्ग चलते हुए भी ध्यान में ही है, अर्थात् आपको पता है कि "पैर. कहाँ पर पड़ रहा है"। चलते समय मोटर गाड़ी आदि से बचकर सम्भलकर सावधानी से तो चलना पड़ता है,. उतना ध्यान तो बाहर रहना भी ठीक है। शेष (बाकी) खाली दायें, बायें दृष्टि घुमाना, जहाँ अपने प्रयोजन

(मतलब) का कुछ नहीं रखा मन का केवल बाहर भटकना ही है। आपने उस भटके हुए मन को वहाँ से मोड़कर पाँव की चाप सुनने में चलते समय लगाना होगा इस प्रकार प्रत्येक कर्म में जैसे हाथ धोना, दातून कुल्ला करना, खाना पीना आदि, करते हुए पाँचों इन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक जिह्वा, चमड़ी) और छठा मन, जिस समय एक ओर (तरफ) लग गये, तो इसका नाम ध्यान या समाधि हो जाता है।

६. इन इन्द्रियों को बाहर से मोड़ने (खींचने) का नाम योगी लोग "प्रत्याहार" कहते हैं। जिधर आपने अपना मन लगा दिया, अर्थात् मन लगाया कर्म में, तो सारी इन्द्रियाँ इसके पीछे आनी आरम्भ हो जायेंगी–यही प्रत्याहार है। मन को आप किसी एक स्थान में लगा देंगे, तो वही ध्यान बन जायेगा। प्रत्याहार का तात्पर्य यह है कि "अपने सुख की आदत के मार्ग से किसी दूसरी जगह मन जा रहा है, उसको बाहर से मोड़कर अन्दर लाना।" मन बाहर सुख के साथ बसा हुआ है, अर्थात् इच्छा, जो कि उसकी अपनी लगन में बसी, हुई है, हर समय मन उधर ही बह रहा है। ऐसी अवस्था में अपने मन को समझाये कि "क्या इनका चिन्तन करना? अपने शरीर अथवा कर्तव्य सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी करना तो उचित (ठीक) है। परन्तु व्यर्थ (फालतू) की छोटी मोटी वस्तुओं के पीछे आदत के मार्ग से सदा बहते रहना उचित नहीं है।" दातून, कुल्ला, नहाना धोना, खाना पीना, बातचीत करना आदि में अपने कभी मिले हुए मान अपमान की सोचना, जो कि अधिक सार वाली वस्तु भी नहीं, ठीक नहीं है। अपने मन को समझाये कि "यदि उनके लिये सोचना ही है, तो एक अलग समय निकाल लो। जो योजना बनानी है, उसी समय बना लेना"। प्रत्येक कार्य करते समय काम (इच्छा) का सिर पर लदे होना अथवा आदत के अनुसार सोचों में पड़े रहना ध्यान वाले मन का काम (कार्य) नहीं है। यह कर्म को विक्षिप्त कर देता है और एकाग्रतापूर्वक नहीं होने देता है। और

भटकने के अभ्यास को बढ़ाता हुआ ध्यान के कार्य के लिये तो अवकाश तक भी नहीं देता। थोड़ा मन का निरीक्षण करना अर्थात् अपने आप को प्रत्येक कर्म करते हुए पहचानना। परन्तु स्मृति रखे बिना अपने आपको पहचाना नहीं जायेगा। थोड़ा उस मन को मोड़ना है, जो विपरीत (उल्टे) काम (इच्छा) के मार्ग पर जा रहा है, वही मन को मोड़ने की हिम्मत करना ही वीर्य हो जायेगा। मनोयोग थोड़ा देने से ही वह ध्यान हो गया। थोड़ा मन को समझना अथवा ध्यान द्वारा भले बुरे मार्ग की समझ भी अन्दर पड़ना, यहीं प्रज्ञा या ज्ञान हो जायेगा।

७. शरीर की जितनी आसक्तियाँ है, ये सब काम (तृष्णा) की है। इस काम (इच्छा)रूपी मन को इतनी बारीकी तक पहचाने कि " इसकी जड़ तक पहुँच कर इसकी जड़ ही काटनी है"। इसकी जड़ वह सुख ही हैं, जो दूसरे प्राणी या पदार्थों से होता है। इनको विवेक द्वारा यह समझना कि ये सुख तो सदा किसी के रहने वाले नहीं हैं। ये ही सुख एक दिन, जितनी अधिक इनकी भक्ति अथवा दासता करेंगे, उतने ही अधिक रोग और व्याधियाँ लायेंगे"। यह काम (इच्छा) ही मनुष्य को चंचल करके फिर नशों में डाल देता है। यदि ध्यान के अन्दर आपको काम (इच्छा) के विकार स्पष्ट (साफ–साफ) दिखने लग गये और उनकी याद आते ही मन भी उनसे मुड़ने लग गया तो समझो आपको ज्ञान होने लग गया। यही प्रज्ञा की भक्ति है ओर इन्हीं से मुक्ति मिलती है।

८. अपने अन्दर यह विश्वास रखना है कि श्रद्धा रख करके, यदि इस धर्म मार्ग पर लगा रहूँगा, तो अवश्य ही संसार के बन्धनों से मोक्ष (छुटकारा) प्राप्त करूँगा। यही श्रद्धा का फल है। फिर याद (होश) को ठिकाने रख करके बाहर के सारे काम (कार्य) करना सीखे। यदि मनुष्य अपने मन को उचित ढंग से कार्य में लगा सके, तो उस समय आपके पास समझो धर्म का बल है। यदि आपने बाहर दैनिक जीवन में ये अभ्यास

नहीं किये, तो आप समझिये कि आसन पर बैठने के बाद भी वहाँ ध्यान लगने का कोई काम ही नहीं है, कारण कि अपने मन की तो आपकी कोई पहचान ही नहीं है कि "वह कहाँ पर संसार में भटक रहा है।" वहाँ तो ध्यान करते समय नींद, आलस्य, सुस्ती है या फिर वही संसार के विचार मन में दौड़ रहे है।" जो मनुष्य थोड़ा थोड़ा करके मन को पहचानने लग गया, तो समझो मन की पहचान खुल गई और संसार की पहचान टलने लग गई अर्थात् समाप्त होने लग गई और ध्यान का भी श्रीगणेश (आरम्भ) हो गया। जब तक संसार की पहचान ही अन्दर चल रही है, अर्थात् संसार की ही बातों को जानने के लिये मन भटक रहा है तो समझो मन के अन्दर अन्धकार छा रहा है, यही अविद्या है, जो कि मोक्ष के मार्ग में सबसे बड़ा बन्धन है। धीरे–धीरे यह मन की पहचान इतनी खुलती जायेगी कि हाथ धोते, दातून कुल्ला करते वही दस बन्धन (दृष्टि, संशय, शीलव्रत परामर्श, राग, द्वेष रूप–राग, अरूप–राग, मोह, मान और अविद्या) ये सब ही पहचानने में आने लगेंगे। आप इन सब को पहचानते जायें अर्थात् किस प्रकार ये मनुष्य को दुःखी करते हैं। इसको ध्यान द्वारा समझते जायें और आप एक एक बन्धन को उड़ाने (समाप्त करने) का यत्न भी करते जायें। मन का बाहर भटकना ही जीवन में दुःखदायी है।

६. बाहर से यदि सारी आत्मा अर्थात् मन या ज्ञान भटका हुआ अपनी अन्तरात्मा में एकत्रित (इकट्ठा) हो जाये, तो उसकी जीवन शक्ति (प्राणशक्ति) भी एकत्रित (इक्ट्ठी) हो जाती है। उसके अन्दर इकट्ठा होने से ही सुख का साक्षात्कार होता है, आनन्द का पता लगता है, जो कि ब्रह्म (सर्वव्यापक) का है। सबसे उत्तम (बढ़िया) वस्तु भी संसार में पाने की यही आत्मा का आनन्द है। एक बार यह आनन्द प्राप्त होने पर कहीं जाता नहीं अर्थात् नष्ट नहीं होता है।

१०. सब कार्य करते हुए मन को जगाने का अभ्यास करे और संसार से बिछोड़ना (अलग करना) सीख ले। जैसे चाय में कम मीठा मिलने पर या सब्जी में अधिक नमक होने पर यदि आपको चिढ़ और क्रोध आ जाये या मन चाय या सब्जी बनाने वालों की मिथ्या (खोंटी) दृष्टि अथवा उनके बारे में मिथ्या कुछ चिन्तन करने लग जाये अर्थात् सोचने लग जाये तो समझो चाय पीते या खाना खाते समय मन उसी खाने पीने के कर्म में उपस्थित नहीं है, और बाहर ही उलझा हुआ है। यह काम (इच्छा) वाला मन है, जिसको उसके अनुसार नमक मिलने पर ही सुख प्राप्त होने की आशा है। मन यह नहीं समझता कि आज नमक सब्जी में ठीक नहीं है, तो भी मैं मरता तो नहीं हूँ। उस समय मन को बोल–बोल कर समझाओ कि "कोई बात नहीं, सब्जी में नमक अधिक या चाय में कम मीठा होने से मैं मरता नहीं हूँ, मना ! थोड़ी तपस्या करके देख लो" "परन्तु मन तो चिढ़ रहा है, फिर भी कोई बात नहीं।" उस चिढ़ को भी शान्त करते–करते चाय की घूँट भरो, तो यह मनोयोग हो जायेगा। और उत्तम कर्मयोग भी हो जायेगा, कारण ! कि काम (इच्छा) को आप कर्म के बीच में से निकाल रहे है। प्रत्येक कर्म में जो काम (इच्छा) लगा हुआ है, वही संसार में आपको धकेल रहा है। इस तरह तृष्णा का त्याग ही काम का त्याग है। यदि यह सब अपने अन्दर करोगे, तो जीवन अपने आप में आ जायेगा और संसार से बिछुड़ने लगेगा, और यही हर समय की भक्ति भी हो जायेगी और जीवन ही इसी प्रकार का सध जायेगा, जो कि स्वभाव से ही आत्मा और परमात्मा के आनन्द को पाने वाला होगा। नहीं तो, प्रत्येक कर्म में वह काम (इच्छा) संसार में ही उलझायेगा। फिर बताओ ! कैसे ध्यान स्वाभाविक होगा? ध्यान को सब इल्लतें (खोंटी आदतें) ही स्वाभाविक नहीं होने देती। इसलिये सब बुराइयों से बाहर होना पड़ेगा। बुराई एक ही है अर्थात् काम (इच्छा), यही मुख्य ठग है। थोड़ा सा

किसी से अपराध (कसूर) हो गया, तो काम (इच्छा) वाला मन झटपट उसका चित्र मस्तिष्क (दिमाग) में रखेगा कि "वह दुष्ट मनुष्य है" इसी का नाम दृष्टि बन्धन है। उसके खोंटेपन की दृष्टि (नजर ही नजर) तो है। यदि आप थोड़ा नजर को रफा दफा कर दें अर्थात् अन्दर दूसरे मनुष्य के दुष्ट होने की दृष्टि (नजर) को मन से उतार दें, तो वह खोंटा व्यक्ति फिर कौन है? आपको वही व्यापक भगवान् ही दिखाई देगा, जो अपने और उसके अन्दर बैठा है, जिसका सुख लेने के लिये कहा जा रहा है। यदि किसी की दृष्टि आपके अन्दर नहीं बनती तो जो आपकी देह के अन्दर व्यापक ज्योति बैठी हे, वही सब के अन्दर है। परन्तु यही काम (इच्छा) के कारण न जाने जितनी शक्लें, उतने ही मनुष्य अपने मन के अनुसार बना रखें हैं। एक ही मनुष्य है, जिसको किसी ने उसको बैरी, किसी ने मित्र, प्यारा बना रखा है। जैसा–जैसा उसका उसके साथ काम (इच्छा) का स्वार्थ है, वैसे–वैसे उसको सत्ता (हस्ती) दे रखी है। सत्ता तो बस। एक उस प्रभु व्यापक की ही है, जो क्षण–क्षण सब देहों के अन्दर चेतता हुआ श्वाँस ले रहा है, रक्त का संचार कर रहा है, हड्डी, चमड़ा माँस ओर पत्थर जैसी हड्डी में भी बैठा हुआ उसको पुष्ट (मजबूत) कर रहा है। तो सबके अन्दर केवल उस व्यापक भगवान् को ही पहचानना चाहिए। यह काम (इच्छा) रूपी ढँग या इसी का सारा परिवार लोभ क्रोध इत्यादि–इत्यादि असंख्य विकार इस व्यापक भगवान् को पहचानने नहीं देते ओर देश, काल, प्राणी पदार्थों के साथ ही उलझाये रखते हैं। इन सब से यदि हटना है, तो मनुष्य हर क्षण चेते, चेते तो, सुचेतन हो। चेतन भगवान् है। जैसे अग्नि (आग) राख में दबी हुई है, तो उसको घास फूस डालकर फूँक मार मार कर चेतन कर दिया जाता है अथवा उसमें से ज्योति निकल आती है। इसी प्रकार हमारे अन्दर सोया (दबा) हुआ परमेश्वर है, जो निद्रा (नींद) में तो

अपना सुख व्यक्त करता है, परन्तु जागते–जागते सामान्य जन को उसका कुछ पता नहीं लगता।

११. कहते हैं कि " उस चेतन भगवान् को भोग लगाओ।" भोग लगाने का सही मार्ग (रास्ता) यही है कि स्मृति (होश) ठिकाने रखकर खाना खाओ। जिस समय यह काम (इच्छा) आदि के परिवार का कोई भी आ जाये कि "खाना ऐसा नहीं है खाना वैसा नहीं है, जो अच्छा लगता है," तो मन को शब्द बोल–बोल कर कहो कि " ऐसा वैसा कुछ नहीं" और खोंटे विकारों को मन से रहित करते जाओ। ज्ञान तो जगा हुआ अन्दर बैठा ही है, तो समझो ज्ञान रूप से उस भगवान् को भोग लग गया। नहीं तो, किसको अन्दर भोग लग रहा है, कोई पता नहीं? कौन राक्षस भोजन खा रहा है या कौन असुर (क्रोध, इच्छा, मत्सर, द्वेष, लोभ आदि) खाना खा गया यह कुछ पता नहीं। ये सारे राक्षस विकार रूप से अन्दर बैठे हुए ही भोग लगाते रहते है। इन सबको समझ करके देखे कि "देवी देवता भी अन्दर हैं।" स्मृति उपस्थित है, तो दुर्गा देवी को भोग लग रहा है। वीर्य है, तो महावीर जी अन्दर वहाँ बैठे हुए हैं, विचार जागृत है, तो वैराग्य रूप राम जी बैठे हुए हैं। यदि आप उस अवस्था में भड़के हुए मन को शान्त करते गये, तो शंकर भगवान् भी बैठे हुए है। अब आप इन सब देवताओं को भोग लगाने का यत्न करें। इसलिये स्मृति हर समय बनी रहनी चाहिये और वीर्य (हिम्मत) जागता रहे, ताकि मन को जिधर से टालना है, मोड़ा जा सके। जैसे कि एक दृष्टांत है– दो महात्मा किसी के यहाँ भोजन कर रहे थे। उनमे से एक आयुर्वेद का आचार्य और दूसरा आध्यात्मिक विद्या का आचार्य था। न जाने किसी ने जान करके या भूल में ही दाल में नमक नहीं डाला। आयुर्वेद के आचार्य ने पहला ही ग्रास मुख में डालते ही बड़ी शीघ्रता से दूसरे महात्मा को कहा कि "दाल में नमक तो है ही नहीं।" दूसरे महात्मा ने भी शीघ्रता से कहा कि "चुपचाप खा लो।" दाल में नमक

नहीं होने से उस आयुर्वेद आचार्य के भड़के हुए मन में क्रोध और चिढ़ आ रही थी, जो कि उसके स्वाद भंग होने से थी। थोड़ी देर के पश्चात् फिर उस आयुर्वेद के आचार्य ने कहा " नमक तो स्वास्थ्य के लिए बहुत आवश्यक है।" यह सुनकर आध्यात्मिक महात्मा ने कहा कि " कोई बात नहीं, यदि नमक आपके स्वास्थ्य के लिए इतना आवश्यक ही है, तो पीछे पानी में नमक डाल (घोल) कर पी लेना। अब आप शोर (हल्ला गुल्ला) क्यों कर रहे हो? तो वह आयुर्वेद आचार्य चुप करके बैठ गया। देखो ! तृष्णा कहाँ कहाँ ठगी करती है। वह काम (इच्छा का जाल) उस आयुर्वेद आचार्य के सिर पर लदा हुआ है। उसको रोटी का ख्याल नहीं कि "पेट ही भरना है", परन्तु उसके स्वाद वाले मन में चिढ़ है और वह दुःखी हो रहा है। और उसी दुःख के कारण क्या–क्या विचारों में पड़ा हुआ है इस भड़के हुए मन की अवस्था में सारा खाना ही उसका खराब हो गया। यह काम (इच्छा) ऐसा पापी है, जो किसी की भी नहीं मानता। यदि आपने प्रत्येक कर्म में इसको पहचान कर जड़ से निकालना आरम्भ कर दिया, तो उधर ज्ञान के जागते ही दुर्गा भगवती रूप स्मृति भी दृढ़ होने लगी। मन के अन्दर तेज आने लगा। यह दुर्गा सिंह (शेर) पर बैठती है अर्थात् सिंह की सवारी करती है। जो मनुष्य हिम्मत करके थोड़ा काम (इच्छा) को भी टाल सके और अपने सुख का भी त्याग कर सके, तो ऐसा व्यक्ति सिंह–पुरुष होता है, जिस पर " यह दुर्गा भगवती रूपी स्मृति बैठती है। संस्कृत में "दुर्ग" उसे कहते है जहाँ जाना बड़ा मुश्किल (कठिन) है। इसी प्रकार जो वश में करने के लिये कठोर (कठिन) अवस्थाएँ भी है उनमें भी जो स्मृति टिकी रहे, और वीर्य (हिम्मत) बन पाये, वहाँ पहुँची हुई, जो स्मृति रूप भगवती है, वह दुर्गा है और यही स्मृति रूप बल है। जैसा कि ऊपर कहा है कि उस आध्यात्मिक महात्मा के ऊपर वह स्मृति रूपी दुर्गा सवार थी जिसने उसको बचा लिया। उसका मन भी भोजन करते

समय शान्त रहा और दूसरा महात्मा (आयुर्वेद आचार्य) भटकता ही रहा, जितनी देर तक वह भोजन करता रहा। इस प्रकार जो करड़ाई की जगह है, जहाँ पर पहुँचना बड़ा कठिन है, वहाँ यह दुर्गा भगवती पहुँचने वाली होती है। ऐसी अवस्था में यह स्मृति सदा अपने साथ रहे, दुःख में भी उपस्थित (हाजिर) रहे और जब मन चिढ़ा हुआ है अथवा कुछ उल्टा सीधा करने वाला है उस (समय) यह स्मृति रूपी भगवती उपस्थित हो करके आप को रोक ले और उस काम (इच्छा) वाले मन के सब विकार आपने पटक दिये, तो समझो स्मृति रूपी दुर्गा भगवती ने सारे असुर सुला दिये अर्थात् उसने सब राक्षस मार डाले। इसलिये पहले अपने मन के अन्दर उस स्मृति रूप भगवती शक्ति को बसाओ, यही भगवती देवी, स्मृति, क्षमा और श्रद्धा रूप से अन्दर बैठी है। यही मन की शक्ति रूप जो भगवती है, सर्व विश्व–व्यापक है। कहीं एक मेरे तेरे में थोड़े ही है। इसलिये ये व्यापक देव होते हैं।

१२. होश (याद) का नाम ही स्मृति है। इस स्मृति को रख करके आपने अपना जीवन ही ऐसा बना लेना है कि जब आप चाहे, अपने ध्यान में आ जायें। ऐसे मनुष्य को बेपरवाही है कि " किसी समय भी मर जाये, मेरे लिये वह भगवान् का दरवाजा सदा खुला है"। वास्तव में वह हरिद्वार (हरि के द्वार पर) पहुँचा।" जैसे कर्म, वैसी गति"। कोई पता नहीं कि मनुष्य के अन्दर कर्म किस प्रकार के कैसे–कैसे हो जाते हैं। यही एक यहाँ पर सुरक्षा है कि हर अवस्था में चेतते रहना, अर्थात् जागते रहना। इसमें किसी का बिगड़ता कुछ नहीं है, जिम्मेवारियाँ अथवा दूसरे कार्य भी नहीं बिगड़ते हैं, खाना, पीना रहना सहना कहीं नहीं जाता है। केवल एक ही वस्तु जाती हैं कि जो वह काम (इच्छा) रूपी बली है, उस बली को तो ठगना पड़ेगा। विष्णु भगवान् ने इसी काम बल को छोटा रूप बनाकर ठगा है। बस मन के अन्दर ज्ञान का रूप बना कर इसको ठगना पड़ेगा। इस काम (इच्छा) को

ठगने के बाद आपको सही मार्ग मिलेगा। फिर यह ध्यान आपका इतना बलवान् हो जायेगा कि "आपको अपनी सुगति या मुक्ति के बारे में कोई चिन्ता फिकर की बात ही नहीं रहेगी अथवा आप सुरक्षित है।" जब तक पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर नहीं हुई तो ध्यान नहीं कहा जायेगा। अपने अन्दर दोष दुर्गण नहीं होने चाहिए। यदि आप अपने कार्य में मन लगाये हुए है, तो समझो आप अपने आप में हैं। जो मनुष्य इस काम रूपी ठग को पहचान कर इसका मार्ग (रास्ता) रोकेगा, उसका ध्यान स्वाभाविक हो जायेगा। अन्त में वह कर्मयोग के समय पर ही नहीं और भी अपने सब व्यवहारों (बर्तावों) में या रहने सहने के कार्यों में समाधि में होगा अर्थात् आसन पर बैठकर ही नहीं, चलते, खाते और बोलते आदि में भी समाधि में होगा। इसके लिये उसको थोड़ा दस बलों (मैत्री, करुणा आदि) का भाव रखना पड़ेगा। इस प्रकार से थोड़ी बाहर की भक्ति भी करनी पड़ेगी।

१३. दैनिक जीवन के कर्म जैसे दातून करना, खाना पीना आदि सब करने ही पड़ते है। जब इन नित्य निमित्त कर्मों के बीच में आपने योग साध लिया, तो धीरे–धीरे अपने काम धन्धे में भी यही योग चलेगा। जो कुछ भी कर्म है, उसी में यदि आपने मन को जोड़ दिया, और जोड़कर उन्हीं कर्मों को करने का अभ्यास बढ़ा लिया, तो उस मन के जोड़ने का नाम ही योग है और कर्म में जुड़ना कर्मयोग है। संसार में रहते हुए कर्म किये बिना तो कोई रह नहीं सकता। जैसे कि गीता में कहा है कि "मनुष्य कर्म किये बिना एक क्षण भर भी नहीं रह सकता।" कर्म तो करने ही पड़ेंगे। परन्तु कर्म करने को ऐसे बना देना है कि " वह भक्ति योग बन जाये।" यदि कर्म के साथ जुड़कर के आपको कर्म करना आ गया, तो कर्म के बीच में आपकी समाधि होने लगेगी। कर्म के साथ जुड़ने से समझो ध्यान भी हो गया और ज्ञान भी हो गया। यदि नाना प्रकार की मन की खींच को टालने लग गये, तो

यही वीर्य बन गया। ये पाँचों बल (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति ध्यान, (समाधि) प्रज्ञा) आपको सबके बीच में रहते हुए भी सब से छीन लेंगे अर्थात् सबसे न्यारा, अछूता या बेलाग भी रखेंगे। ऐसा भी नहीं होगा कि आप का मन नहीं लगे? मन तो तब नहीं लगता है कि आदत से तो हट गये और दूसरे किसी स्थान पर लगाने का मार्ग भी मिला नहीं है। फिर अविद्या तंग नहीं करेगी। जैसे कि आप बैठे है, पेट में हवा रड़क रही है, बस वहीं पर मन लगा दिया, तो चलो, इस दुःख को देखने लग गये। उसी पेट की हवा को जो कोई दवाई भी नहीं निकाल पाती, वह आपका ध्यान हटा देगा। जैसे खुजली कहीं शरीर पर हो रही है। काम (इच्छा) वाला मन कहेगा कि "जल्दी से खुजली करके इसे मिटा दो।" वहाँ खुजली को जल्दी मिटाने वाला तो वही काम (इच्छा) रूपी ठग है। परन्तु आप अपने मन से कहो कि " रहने दो, देखते हैं कि इसका कितना दुःख है।" इस प्रकार देखते–देखते, वह खुजली मिट ही जायेगी और उसी खुजली के स्थान पर सुख प्रकट हो जायेगा।

१४. पहले अपने मन को साधो। परन्तु ध्यान को एक जगह टिकाना भी सीखो। एक जगह ध्यान तब टिकेगा, जब सारी इन्द्रियाँ व मन एक कर्म में जुड़ जायेंगे पहले उसे हाथ धोने, दातून करने, नहाने धोने, खाने पीने व बोलने चालने और भी मन के अन्दर कोई ऐसी वैसी अवस्था आ जाये, उसी में मन को जोड़ने का प्रयास (यत्न) करें। जैसे कि " देखो जी! अमुक (फलाँ) व्यक्ति ने एक बात कह दी थी, वह ऐसी मेरे मन के अन्दर घूम रही है, रड़क रही है कि मन बेचैन हो रहा है। मन को कहो कि "कोई नहीं, मैं बेचैनी देख रहा हूँ, परन्तु बाहर मैनें कुछ नहीं करना है"। उस बेचैनी को देखते–देखते यदि आपने कुछ समय बिता दिया, तो समझो अकेले अपने आप में दुःख देखना आ गया। जब आपने प्रतिकूल भी देखना सीख लिया और अनुकूल से भी थोड़ा

किनारा करना सीख लिया, तो समझो आपका उत्तम ध्यान सधने लगा और मुक्ति का मार्ग भी मिलने लगा ।

१५. स्वाभाविक ध्यान की यह शर्त होनी चाहिये कि बस! जिस समय स्मृति टिकाई व मन को संसार से खींच लिया, तो वह मन उसी ओर (तरफ) उधर ध्यान में चल दे । यह नहीं होना चाहिये कि अमुक वस्तुएँ यदि मिल जाये, तभी ध्यान लगेगा । विशेष मिलने वाली वस्तु इस संसार में कुछ नहीं है, केवल पेट भर कर रोटी मिल गई, तो पर्याप्त (काफी) है, बाकी आपने दूसरी वस्तुओं का बन्धन कुछ नहीं रखना है । शरीर रखने के लिये जितनी वस्तुओं की आवश्यकता है, वे तो ठीक हैं । परन्तु ऐसा ठीक नहीं कि अमुक मनुष्य चाहिये, जो कि अपनी कामनाओं या मिथ्या आदतों के कारण प्यारे लगते हैं व उनकी दृष्टियाँ (प्यारा, वैरी, विरोधी आदि की) बनी हुई होती है । जब ये राग–द्वेष के बन्धन झड़ने लग गये, तो समझ में आयेगा कि " मनुष्य सारे एक ही हैं और वह भगवान् ही सब जगह दिखाई देगा ।

१६. सब कर्म सोये–सोये रह कर करने की आवश्यकता नहीं है अर्थात् सजग होकर प्रत्येक कर्म करना चाहिये । आम जन (साधारण मनुष्य) अविद्या में सोया–सोया ही कर्म करता है । वह कार्य तो कर रहा है, परन्तु उसके मन में वह काम (इच्छा) का जाल बसा हुआ है, जो भविष्य (आगे आने वाले समय) में पूरा करना है या छोटा मोटा दुःख जो उसको दूर करना है । जैसे वर्षा (बरसात) के मौसम में कोई मनुष्य पैदल चल रहा है, तो मन में सोचता है कि " जल्दी–जल्दी चलो जी, ठण्डी लग रही है, घर जाकर के गर्म चाय पीयेंगे ।" अब देखो ! घर में उसी समय उसका मन चला गया, भले अभी दो मील का मार्ग (रास्ता) उसने तय करना है अर्थात् चलना है । इस अवस्था में "पाँव कहाँ पर पड़ रहा है, उसको कोई पता नहीं है, कहीं पाँव फिसल भी जाये अर्थात् रास्ते चलते कहीं कुछ भी हो जाये इसका भी उसको कुछ पता नहीं है ।

देखो। काम (इच्छा) वाला मन उड़ा हुआ है कि "घर पहुँचते ही चाय पीनी है।" यह कर्मयोग नहीं है। चलते समय मन को भटकते हुए अर्थात् बाहर जाते हुए मन को पहचाने कि "किधर जा रहा है ?" स्मृति बनी रहने पर ही ऐसा मन पहचाना जायेगा। इसलिये स्मृति रखते हुए ही चलने का कर्म करे। आपको पता चलेगा कि " मन तो घर पर चाय पीने की इच्छा में चिपका हुआ है, जिसका सुख सदा बना रहने वाला नहीं है।" ऐसा करते–करते यदि उचित ढंग (ठीक कायदे) से आप कर्म कर गये, तो यह काम (इच्छा) का तिरस्कार (ठुकराना) है। यद्यपि संसार का स्वार्थ किसी से भी नहीं छूटता है, परन्तु आपने यही करना है कि " जो यह काम (इच्छा) व्यर्थ मन में लदी हुई है, जिसकी अब आवश्यकता भी नहीं, उसको समाप्त कर देना है। उस व्यर्थ (फालतू) की इच्छा को समाप्त करने का यत्न करना ही वीर्य (हिम्मत) रखना है। मन के अन्दर जो विकार आते है, उन सबको उड़ाना है। इसके लिये अपने अन्दर स्मृति जागती रहे, ताकि उन विकारों का पता लगता रहे। यदि स्मृति रूपी भगवती जागती रहेगी, तो वह बतायेगी कि "विकार (दोष) रूप राक्षस अन्दर आ गया है और उसको बाहर निकालना है। उसी स्मृति रूप भगवती की शक्ति से ही उस राक्षस को सुलाया (नष्ट किया) जाना चाहिये। अब इसके लिये थोड़ा ध्यान भी करना है कि "मन जिधर जा रहा है, वहाँ कुछ भी नहीं रखा है अर्थात् सांसारिक वस्तुओं की वह मन की प्राप्ति जीवन में कल्याण करने वाली नहीं है व उनका सुख सदा रहना भी नहीं है। इस प्रकार ध्यान द्वारा अपने अन्दर ज्ञान जगाना है। इस रीति से यदि आपका ज़ीवन कुछ वर्षो तक चलता रहा, तो आपको यह आध्यात्मिक (धार्मिक) जीवन मिल जायेगा। इस प्रकार के जीवन के बिना तो मोक्ष के लिये और कोई मार्ग (रास्ता) नहीं है। इस मार्ग द्वारा जीवन काल

में ही मोक्ष और मोक्ष के सुख की भी अनुभूति प्राप्त होगी, यही सारे कहे हुए का सार (निचोड़) है।



प्रवचन

३१–१२–१६८६

कल जैसे बतलाया था कि यदि मनुष्य प्रत्येक कार्य में अपनी स्मृति को समाहित करके रखे अर्थात् प्रत्येक कार्य वह ध्यान से करें व जागते–जागते इस संसार में उसको सारे कर्म समझ के साथ करने की आदत पड़ जाये, तो एकान्त में उसको ध्यान करने की योग्यता, बल या सामर्थ्य भी प्राप्त हो जायेगा। जिस प्रकार उसने अपने मन को दूसरी जगह से मोड़ करके कार्य में लगाया है, इसी प्रकार ध्यान करते समय भी उसका मन अन्दर के सत्यों को समझने में लगा रहेगा। यदि बाहर कर्म करते हुए यह अभ्यास नहीं हुआ अर्थात् बाहर जिस समय संसार में हम खुली आँखे व बुद्धि के द्वारा जागृत अवस्था में चल फिर रहे है, वहाँ पर यदि यह मन नहीं जागा तो ऐसे मन वाला व्यक्ति फिर एकान्त में भी ध्यान में बैठा हुआ अपने मन को जगा नहीं सकेगा। अकेले बैठे हुए को या तो निद्रा (नींद) आलस्य व सुस्ती परेशान करेगी या फिर संसार में ही उसका मन भागेगा। उसके लिये अपने अन्दर के सत्यों को समझने का ध्यान लगना असम्भव (नामुमकिन) है।

२. इसलिये सबसे पहला काम ध्यान के विघ्नों को टालना है। ध्यान के यही पाँच विघ्न, दृष्टि, संशय, इच्छा, क्रोध व आलस्य निद्रा हैं। (१) पहले तो संसार के उलझन अर्थात् प्राणी व पदार्थों की दृष्टि (नजर) बनती है क्योंकि इन्हीं के सहारे इसके सुख दुःख है अर्थात् संसार में जो यह सुख लेता है और दुःख पाता है, उन्हीं से ये सब उत्पन्न होते रहते हैं। (२) उसी दृष्टि (नजर) के अनुसार संशय (शंकाएँ) मन में पैदा हो जाते है कि "कहीं यह इस प्रकार न हो जाये या उस प्रकार न हो जाये।" (३) संसार में ही फिर कुछ अपना

स्वार्थ होने के कारण इच्छा उत्पन्न (पैदा) होती है। (४) इस इच्छा के पूरी न होने के कारण से उस मनुष्य के मन में क्रोध (चिढ़) आदि की दशा बनती है (५) जब ये सक्रिय अवस्थाएँ (मन के सोचने की अवस्थाएँ) नहीं है, तो आराम करने के लिये मन, आँख कान आदि सब को बन्द करना चाहता है, यही आलस्य सुस्ती या निद्रा रूपी विघ्न है। इन सब विघ्नों को पहले कर्मयोग में पहचानते–पहचानते टालने का यत्न (कोशिश) करे। कोई भी सांसारिक कार्य (काम) बिना ध्यान के अर्थात् मन को वहाँ उस कार्य में लगाये बिना पूरा नहीं होता। इसलिये प्रत्येक कर्म के साथ जुड़ना ही पड़ता है, यही कर्मयोग है। यह बात ठीक है कि बचपन से कर्म करते–करते मनुष्य को वह कार्य करने की एक आदत पड़ गई है। यद्यपि एक बार पहले–पहले तो उसने बचपन से समझते–समझते सारे कार्य किये हैं व अपने यत्न से चलना, भागना, दौड़ना बगैरह सीखे हैं। उस समय तो उसके यत्न वहाँ जाग कर हो रहे थे, कारण कि बच्चा संसार में अपना जीवन विकसित कर रहा था। परन्तु अब वे कर्म करना इतना स्वाभाविक हो गया है कि मन दूसरी जगह तृष्णा व स्वार्थ के कारण पड़ा हुआ है व सब कार्य आदत (स्वभाव) से चलने लग गये। इंस प्रकार ज्यों–ज्यों आगे जीवन बढ़ता जाता है, तो पिछले कर्म किये हुए आदत में आ जाते है अर्थात् स्वाभाविक होने लग जाते हैं। वे ही बार–बार किये गये कर्म हमारे लिये अब बाँधने वाली प्रकृति (आदतों की शक्ति) बन गई है। वह शक्ति अब इतनी बलवती हो गई है कि यदि हम उस प्रकृति का कहना नहीं मानते हैं अर्थात् उसके अनुसार नहीं चलते हैं, तो मन में तंगी (क्लेश) चिढ़ व दुःख होने लगता है व संसार में कहीं भी मन नहीं लगता है। प्रकृति (आदतों की शक्ति) उसी तरफ तो जाकर के वही वही कार्य पुनः पुनः करवाना चाहती है, जो पहले बचपन से अब तक किये हैं। जैसे नशा पीना, कड़वा बोलना आदि–आदि। प्रकृति कहती

है कि अहंकार मान में यदि कुछ मिथ्या कर्म किये हैं, तो वे ही कर्म करो। यह शक्ति दूसरी दिशा में साधारण मनुष्य को नहीं जाने देती। जिस प्रकार की अब तक उसकी "मैं" बन चुकी है, उस "मैं" को मनुष्य नष्ट नहीं करना चाहता व सदा उसे ही बनाये रखना चाहता है। यही "मैं" का इस संसार में संकट है, जो "मैं" बचपन से प्राणी व पदार्थों के संग से बनी बैठी है। यह सकल आयु (सारी उमर) एक जैसी "मैं" किसी के लिये नहीं रहती और जीते जी के लिये (जीवन काल में) ही अपने लिये क्लेश बन जाती है। यह सारा ज्ञान तो अपने अन्दर आत्मा में जानना व समझना पड़ेगा और समझ करके उसी के अनुसार कोई अपना चलने का मार्ग (रास्ता) भी बनाना पड़ेगा। दूसरों की समझ व शास्त्र सुनने से तो केवल तब तक आप श्रद्धा से चल सकते हैं, जब तक आपने अपने मन के अन्दर इन सत्यों को अपने ध्यान द्वारा पहचाना (परखा) नहीं अर्थात् जब तक आपकी समझ में ये अन्दर के सत्य नहीं आते है, तब तक आपको थोड़ा श्रद्धा रखते हुए ही चलना पड़ता है।

३. चलने का मार्ग तो यही है कि श्रद्धा से बाहर के जीवन में अपने ठीक ढँग से अपने आपको चलाये, जो कि सामान्य (आम) मनुष्य अभी चलना नहीं जानता। जैसे कि आँख, कान, वाणी आदि को थोड़ा रोक–रोक कर अपने जीवन में चलाये। खाना पीना व विचार शुद्धि का भी ध्यान रखे। चोरी, झूठ, दुराचार इत्यादि नाना प्रकार के खोंटे कर्मो से बचे, जो कि बच्चे को तो अपने सुख के कारण से अच्छे लगते थे। उस बच्चे को यह पता नहीं था कि ऐसे खोंटे कर्मो का सुख थोड़ी देर रहने वाला है और अन्त में न समाप्त होने वाले दुःखों में पटक देता है। जब तक मनुष्य के अन्दर विचार नहीं जागता व इन सुखों की तुच्छता (सारहीनता) समझ में नहीं आती, तब तक बचपन वाला मन बाहर संसार में ही भागता रहता है। इसलिये सबसे पहले अपने चरित्र

का सुधार अच्छे कर्मों के द्वारा थोड़ी श्रद्धा रखते हुए ही करना पड़ेगा। यदि आप बाहर के कर्म ठीक नहीं कर पायेंगे, तो प्रकृति (आदतों की शक्ति) का मुकाबला (सामना) करना आपको नहीं आयेगा व उस प्रकृति के चंगुल से निकलना बड़ा मुश्किल (कठिन) पड़ेगा। प्रकृति सहज से कर्म करवाने वाली अपने अन्दर ही एक ऐसी शक्ति (ताकत) है, भले ही वह किसी को दिखाई देती है या नहीं, परन्तु वह अन्दर की प्रकृति की शक्ति ध्यान करने वालों को अवश्य दिखाई देती है। वैसे तो वही शक्ति सब प्राणी, जीव, पशु, पक्षी, कीट पतंग आदि के अन्दर बैठी हुई सब को संसार के रास्ते पर चला रही है। इसी की प्ररेणा से ही सब जीवों को उत्पन्न होते ही सुख दुःख का पता लगने लग जाता है। प्रत्येक जीव को कोई वस्तु अच्छी लगती है और कोई वस्तु बुरी लगती है। वस्तु का अच्छा लगना ही सुख रूप कहलाता है और बुरा लगना ही दुःख नाम से कहा गया है। अच्छी लगने वाली वस्तु जीव को अपनी ओर आकर्षित करती (खींचती) है और बुरी लगने वाली उच्चाटन करती है अर्थात् दूर भगाती है। सुख दुःख के प्रभाव से प्रकृति ही मनुष्य को चलने की दिशा बतलाती है। सुख दुःख से प्रभावित मनुष्य को इतना विवेक नहीं है कि वह इस प्रकृति के मार्ग में चलने से भविष्य में होने वाले अपने कर्मों के अच्छे बुरे परिणाम (नतीजे) सोच सके। यदि आप प्रकृति की प्रेरणाओं व धक्कों से ही चलेंगे, तो वह शक्ति तो किसी का भला बुरा जानती नहीं हैं अर्थात् उसको तो धक्का देकर कर्म करवाना ही आता है और संसार की दिशा में ही चलाना आता है। उसके परिणाम का उसको कोई पता नहीं है। ऐसी अवस्था में आप श्रद्धा से बलपूर्वक भी हिंसा, चोरी, झूठ दुराचार आदि से बचने का यत्न करें, जो कि पशु पक्षी इत्यादि ऐसा करना अर्थात् इन खोंटे कर्मों से बचना भी नहीं जानते हैं। प्रकृति ही इन सब पशु पक्षी आदि जीवों को चलाती है कारण कि उनके अन्दर विवेक

करने की योग्यता नहीं है। विवेक का अर्थ है कि भले बुरे को सही रूप से समझना। पशु आदि दूसरे की समझ से सीख भी नहीं सकता है, केवल मनुष्य के अन्दर ही यह योग्यता है कि वह अपनी बुद्धि से जान सकता है अर्थात् मनुष्य में ही अपना अन्तिम कल्याण सोचने के बारे में ज्ञान उत्पन्न करने की योग्यता है। जब तक आपकी बुद्धि इतनी विकसित व उन्नत नहीं हुई है, तब तक श्रद्धा से ही बाहर सब कर्म ठीक करने पड़ेगे। बुद्धि के विकसित होने पर मनुष्य खोंटे कर्मों से बच जाता है, कारण कि उसकी बुद्धि इनके दुष्परिणामों (बुरे नतीजों) का निश्चय पहले ही करवा देती है। यदि बाहर जागृत अवस्था में मनुष्य ने प्रकृति का विरोध करना सीख लिया, तो उसको प्रकृति (आदतों की शक्ति) पर काबू पाने की थोड़ी सी युक्ति व बल भी प्राप्त हो जायेगा।

४. खोंटे कर्म करवाने वाले जोश व सारी प्रेरणाएँ प्रकृति की ही सन्तान हैं। प्रकृति ही काम, क्रोध, लोभ मोह व अहंकार आदि विकारों व जोशों से प्रेरित करती है। ये सब प्रकृति की तरंगे हैं, जो कि सब जीवों के अन्दर समान रूप से बह रही हैं। पेड़, पौधे, पशु, पक्षी, कीट पतंग आदि सब के अन्दर यही प्रकृति शक्ति बनी बैठी है, परन्तु मनुष्य के अन्दर यह साफ दृष्टि (नजर) में आती है। जैसा ज्ञान वैसी ही उसकी क्रिया (हरकत)। क्रोध, लोभ, मान मोह आदि अपने ही ढंग से क्रिया पैदा करते हैं व भाव उत्पन्न करके देह आदि को चलाते हैं। क्रोध लोभ आदि सब प्रकृति रूप ही है, परन्तु इनको ज्ञान ही चलाता है और इनके भाव प्रकट होते हैं, जिसको रजोगुण कहते हैं। जैसे किसी को किसी प्रकार का सुख हो गया। इस सुख के ज्ञान के साथ बाद में उस जीव के अन्दर उस वस्तु का चिन्तन और उसी को प्राप्त करने की इच्छा व कोशिश बनी रहती है, यही रजोगुण है। यह रजोगुण तब तक मनुष्य को बाहर कुछ करने के लिये फेंकता रहता है, जब तक वह थक नहीं जाता। ऐसी थकान की अवस्था में,

वह मनुष्य परेशान होकर के उधर से मुड़ना ही चाहेगा। "बस ! समझो यही तमोगुण सवार हो गया व मनुष्य आलस्य, सुस्ती, निद्रा (नींद) में पड़ जाएगा।" इस प्रकार संसार में बाहर भागना तो रजोगुण है और फिर यदि वहाँ संसार में नहीं चलने योग्य रहे अर्थात् संसार में बाहर कुछ करने चलने की सामर्थ्य नहीं बनी रही, तो निद्रा में पड़ गये, जो तमोगुण है। इन दोनो अवस्थाओं में सत्य के ज्ञान को अपने अन्दर उत्पन्न होने का अवकाश (मौका) ही नहीं मिलता। रजोगुण व तमोगुण प्रकृति की सन्तान भव–तृष्णा और विभव–तृष्णा रूप हैं, कारण कि रजोगुण (भव–तृष्णा) से मनुष्य बाहर संसार में ही अपने सुख के लिये कुछ "होने व बनने"के चक्र में पड़ा रहता है व कर्म करता रहता है और तमोगुण (विभव तृष्णा) में इन सब बाहर संसार के "होने बनने" के चक्करों से तंग आकर " न होने बनने" की अवस्था (निद्रा) में जाना चाहता है, जहाँ उसको अपनी आत्मा में लौटने से कुछ सुख की अनुभूति होती है। यह सब प्रकृति का ही जाल है। अब इस प्रकृति के मार्ग पर इसका विरोध करके इसके चंगुल से छूटना है।

५. जो मनुष्य इस भूत (पृथ्वी, जल, तेज वायु व आकाश) प्रकृति और दूसरी बचपन से हुई–हुई (बनी हुई) आदतों के बन्धन रूप प्रकृति (स्वभाव) और इन दोनों प्रकृतियों से मोक्ष (छुटकारा) को जानता है, वही परम–पद को प्राप्त होता है। प्रकृति से परे वह सच्चिदानन्द आत्मा है, जिसका सहज सुख कभी समाप्त (खत्म) होने वाला नहीं है। प्राणी व पदार्थो से मिलने वाला सुख हर क्षण बदलता रहता है व दुःख में ही समाप्त होता है। जो आत्मा का सुख है, उसे एक बार प्राप्त होने पर कुछ परिवर्तन (तबदीली) या समाप्ति उसमें नहीं होती। इस परम सुख को वही प्राप्त कर सकेगा, जो अपने अन्दर सत्य का ज्ञान जगाकर उसके अनुसार अपने आपको चला सकेगा परन्तु यही सत्य का ज्ञान बिना ध्यान व विचार

के उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी ध्यान के ही विघ्नों की चर्चा विस्तार से की जा रही है, जिससे कि प्रत्येक कर्म करते हुए भी इन्हीं दृष्टि, संशय, काम (इच्छा) क्रोध, आलस्य निद्रा को टालने का अभ्यास सदा बनता रहे और एक दिन उन्नत होकर ध्यान को स्वाभाविक बना दे। ये सब ऊपर कही अवस्थाएँ प्रकृति की ही तरंगें है। चलने के लिये, प्रकृति की तरंगें, जो इतनी कड़ी व बलवाली है, प्रत्येक जीव को अवसर (मौका) ही नहीं देती। केवल मनुष्य को अपने अन्दर ज्ञान की प्रबलता होने के कारण इन तरंगों से पार होने का अवसर मिल सकता है, यदि उसके अन्दर यह सत्य का ज्ञान जाग जाये, जो कि रजोगुण (भव तृष्णा) व तमोगुण (विभव तृष्णा) से छुट्टी पाने पर ही सम्भव हो सकता है। यह प्रकृति उस सत्य के ज्ञान को अन्दर जागने ही नहीं देती। अपने अन्दर ज्ञान जगाने के लिये इस प्रकृति का थोड़ा विरोध करना सीखना पड़ता है। इस विरोध करने के लिये भी इस प्रकृति को थोड़ा पहचानना पड़ता है। इस प्रकृति की पहचान भी सही रूप से ध्यान द्वारा ही हो सकती है। यदि आप प्रत्येक कर्म को ध्यान से करेंगे, तो वहाँ भी यह प्रकृति पहचानने में आयेगी। प्रकृति के पहचाने जाने पर इसका विरोध करने से टाली भी जा सकेगी। इसके लिए पहले कर्मयोग में लगना पड़ेगा। जहाँ कर्म के साथ आप जुड़ते हैं, वहाँ आप यह देख लेना कि " जो कर्म बहुत आवश्यकता के नहीं है, उनको आपने नहीं करना है व टाल देने में ही अपना हित (भला) है"। बाहर समाज में मोटे–मोटे पाप जैसे कि हिंसा, झूठ दुराचार चोरी, नशे पीना, नाना प्रकार के लोभ लालच के कार्य व कई प्रकार की वस्तुएँ इकट्ठी करना आदि न करे। इन खोंटे कर्मों से बचने से प्रकति का विरोध यहीं से आरम्भ हो जायेगा और मनुष्य अपने सार्थक जीवन के लिये कुछ सीखेगा। प्रकृति तो इन्हीं सब कर्मों को करने के लिये मनुष्य को हर समय प्रेरित करती रहती है और इनसे बचने व टालने

का यत्न करना ही प्रकृति के प्रतिकूल चलना व उसका विरोध करना है। इसके उपरान्त (बाद) अन्दर के कुछ ऐसे नियम होते है, जिनका पालन करने से मन थोड़ा सा अन्तर्मुख होगा। जैसे कि पहला नियम शौच (पवित्रता) का है। प्रकृति इस पवित्रता के गुण व लाभ नहीं जानती। यह जीव गन्दगी से उत्पन्न होता है और इसी में रुलता रहता है, यही प्रकृति का मार्ग है। जैसे कि जल से शुद्धि होती है। यदि शरीर को साफ व पवित्र रखने के लिये ठण्डे जल से स्नान करना पड़ जाये, तो प्रकृति वाला मन कहेगा कि " स्नान करने की क्या आवश्यकता (जरूरत) है ?" वह मन ठण्डी से बचने का सुख चाहता है, जब कि यह ठण्डी मनुष्य को कोई मारने वाली नहीं है। यदि आप प्रकृति के सुख के पीछे पड़े रहे, तो यह आपको इतना कमजोर कर देगी कि "दुःख के भय के कारण आप अपना जीवन में भला भी नहीं कर सकेंगे"। अतः थोड़ा दुःख का सामना करते हुए भी चलना सीखें अर्थात् जीवन व्यतीत करना सीखें और थोड़ा इस प्रकृति के सुख को भी त्यागने की हिम्मत करें। इस अवस्था में यदि आपको तंगी के साथ भी बाहर की पवित्रता लाने के कर्म करने पड़े, तो उनको करने का मार्ग सोचें व ऐसा करने का यत्न भी करें। इसी प्रकार अपने मन के अन्दर भी मैत्री, करूणा, मुदिता व उपेक्षा आदि भगवान् के बलों से पवित्रता करनी है। दूसरे के सुख को देखकर मनुष्य का मन जल उठता है व दुःख मानता है, यही मन की अपवित्रता है अर्थात् ऐसा दूसरे के सुख को देखकर जलने वाले का मन पवित्र (साफ) नहीं है। उस अवस्था में मन को पवित्र करने के लिये उसके सुख में सुखी होना सीखें। यही मन को पवित्र रखना है। वाणी द्वारा बोले गये बचनों को भी पवित्र रखना है।

६. यह प्रकृति ज्ञान भी नहीं अन्दर जगने देती व बाहर संसार में भी सब अच्छे कर्म नहीं करने देती। वह ज्ञान को कैसे जगने देगी? अर्थात् वह प्रकृति तो केवल आलस्य सुस्ती

छा देगी व मन में काम क्रोध बहाती रहेगी। वह प्रकृति ध्यान तक नहीं करने देगी और प्रेरणा करेगी कि " वही करो, जो इस प्रकृति के रास्ते से कर्म किये हैं।" "वही मिथ्या झूठे ध्यान व संकल्प करो ओर काम क्रोध में ही बहते रहो।" ऐसा नहीं होता कि मनुष्य उस प्रकृति की तरंगों को रोक कर अपने मन को शान्त करने के लिये भी सोच सके। इसके लिये पहले बाहर अपने शील (बर्ताव) अर्थात् कर्मयोग को ही सुधारे। बाहर समाज में जो कुछ भी कर्म करने पड़ते है, उनके लिये अपने जीवन को ऐसे साधे व ढाले कि "उससे अपना आध्यात्मिक जीवन न बिगड़े"। सब मिथ्या कर्मों से आपने टलना है ओर थोड़े पवित्रता जैसे अच्छे नियम रखने हैं। ऐसे ही थोड़ा खाने पीने आदि में भी सन्तोष रखना है, यही लोभ का उल्टा है। लोभ एक ऐसी प्रकृति की तरंग है कि उसके बीच में पक्षी, मछलियाँ बगैरह बँध जाती है, जानवर भी दुःखी होते रहते हैं। मनुष्य भी लोभ आदि के कारण झूठ इत्यादि बोलता है व अन्य पाप कर्म करता रहता है। जब तक आप ध्यान के योग्य नहीं हुए, तो ये सब अन्दर की विद्याएँ पता नहीं लगेंगी। इसलिये अपने जीवन में इस ध्यान को उन्नत करने का सदा यत्न बनाये रखना, जिससे कि आपको अपनी सही भलाई के बारे में सत्य का ज्ञान उपजता रहे और आपको सही मार्ग पर प्रेरित करता रहे और थोड़ा दुःख में भी अपने आपको सही मार्ग पर चलने का धैर्य (धीरज) उत्पन्न कर दे।

७. अब सन्तोष रूपी गुण को धारण करने के लिये जो वस्तु आप टालेंगे उससे दुःख होगा इस दुःख को सहन करना ही तप रूप है। जब किसी ने कड़वा बचन बोल दिया, तो प्रकृति (आदतों की शक्ति) वाला मन कहता है कि " मैं क्यों पीछे हटूँ"? क्रोध में हमेशा कड़वा वचन ही निकलता है, जिसका भविष्य में परिणाम (नतीजा) बुरा होता है। प्रकृति यह सब नहीं जानती, वह तो केवल धक्का मार कर कर्म करवाना ही

जानती है। जब तक आपके अन्दर समझने की अभी योग्यता नहीं है, तो सुनकर भी श्रद्धा से थोड़ा तप कर लो व जो खोटा कर्म होने जा रहा है, उससे बच लें। इस प्रकृति के मार्ग से बचने में होने वाले दुःख (तंगी) को सहन करने का नाम ही तप है। जो वस्तु मन चाहता है आप यदि इस मन को उधर से रोकेंगे और उसे मनचाही वस्तु नहीं देंगे, तो मन के बीच में मरोड़ आता है अर्थात् मन तंगी मानता है। इस तंगी का नाम ही दुःख है। दुःख से डरता हुआ मन बस ! उधर संसार में ही जाता है, जिधर से उसको आदत का सुख मिलता है। यदि इस मरोड़ (तंगी) को कोई थोड़ा तिल तिल जितना धीरे–धीरे सहन करना सीख ले, तो यह तप जो है, हजम होने लग जायेगा। यह तप होते–होते इतना बलशाली हो जायेगा कि " एक दिन संसार के बीच में रहते हुए कितना भी कोई विरोध या दुःख आ पड़े, वह मनुष्य उसे बड़े आराम से सहन कर लेगा।" राग, द्वेष, मान, मोह अहंकार आदि के कारण से जो मन में भड़काव आते हैं, उन सब भड़कावों को सहन करने में तंगी ही होती है।

८. इस प्रकार से श्रद्धा के बल से बाहर चरित्र को सुधारना है और थोड़ा ध्यान को उन्नत करके, अपने को सही मार्ग पर प्रेरित करते हुए अपने बल को और भी अधिक बढ़ाना है। थोड़ा मन को भी पवित्र रखना है। अपने मन में सन्तोष भी बसाये रखना है थोड़ी तंगी भी सहन कर लेनी है, परन्तु आपने खोंटे कर्मों से बचने का यत्न करना है। तंगी सहन करने का नाम ही तप है। फ़िर इसके पश्चात् थोड़ा स्वाध्याय भी करना है। स्वाध्याय यही है कि अपने आपको थोड़ा समझने की कोशिश करते रहना है और देखना कि " मन कहाँ चला गया था", "मन तो ऐसा हो रहा था, मन तो वैसा हो रहा था, इत्यादि इत्यादि," । यह सब अपने आप समझना है। जब तक अपने आप को नहीं पढ़ा जायेगा, तब तक कोई विशेष लाभ होने वाला नहीं है, अपने अन्दर की सफाई भी

नहीं हो सकेगी, बुरे कर्मों से बचा भी नहीं जा सकेगा और अच्छे गुण बसाये भी नहीं जा सकेंगे। वैसे तो पुस्तकों से धर्म की बातें पढ़ने का नाम भी स्वाध्याय है, परन्तु यह असली स्वाध्याय नहीं है। वास्तविक स्वाध्याय यही है कि अपने आपका अध्ययन करना अर्थात् पढ़ना व अन्दर की वस्तुओं (सत्यों) को पहचानना कि " क्या हो रहा है, कैसे होता जा रहा है? जैसे होता जा रहा है, वह कहाँ पहुँचेगा? यह मन किधर ले जा रहा है और दूसरी जगह भटकता–भटकता क्या–क्या परिणाम (नतीजे) उत्पन्न करेगा?" इस प्रकार से थोड़ा एकान्त में बैठकर के अपना (स्व का) अध्ययन करना ही स्वाध्याय है। पहले–पहले एकान्त में बैठने पर अन्धेरा (अन्धकार) ही दिखलाई देगा, तो कोई घबराने की बात नहीं है। निद्रा (नींद) सी भी आने लगती है। ऐसी अवस्था में मन कहता है कि " अकेले बैठने का क्या लाभ है ? जरा लेट ही जाओ।" परन्तु उस समय आपने ऐसा नहीं करना और एकान्त में बैठने की तंगी सहन करके यदि यह भी उसकी दृष्टि (नजर) में आ जाये व अपने आप समझ जाये कि "मन बैठने को नहीं चाह रहा है", तो यह भी स्वाध्याय हो गया। थोड़ी हिम्मत भी करना, जिसका नाम वीर्य है। थोड़ा ज्ञान जगाना कि अधिक रात होने पर भी दो दो घंटे का समय व्यर्थ की बातचीत करने (गप्पे मारने) में भी लगा देते थे, इस लिये इस ध्यान स्वाध्याय करते हुए जागने के कार्य में भी १५ मिनट बैठकर देखते हैं कि "मन किधर जा रहा है ?" तब पता चलेगा कि मन बैठना नहीं चाहता व तंगी हो रही है। ऐसी अवस्था में अपने मन से कहे और प्रेरित करे कि "कोई बात नहीं, दुःख से ही सारे कर्म होते हैं।" इसलिये बैठने का थोड़ा दुःख भी झेलें, यह तपस्या हो गई, भले ही अभी मन नहीं जानता कि "इन दुःख झेलने आदि तपस्या का क्या फल (नतीजा) होगा ?" परन्तु यदि आपने श्रद्धा से भी इनको अपनाकर थोड़ा इनके साथ जुड़ना

सीख लिया, तो समझो यही कर्मयोग बन गया, भले अभी ध्यानयोग नहीं आया। इससे आपके अन्दर एक ऐसी शक्ति एकत्रित (इकट्ठी) होगी, जो आपको धीरे–धीरे इन महा ऋषियों के मार्ग पर ले जायेगी। आपने अन्त में जाकर के आत्मा के अन्दर का सारा बल प्राप्त करना है और इस बल द्वारा प्रकृति के ऊपर पूर्ण विजय प्राप्त करनी है। देखते–देखते प्रकृति को टालते–टालते उस आत्मा के सुख का अनुभव करना है। उस आत्मा (ज्ञान रूप चेतन) के सुख का अनुभव होने के बाद मनुष्य कहता है कि "मैं बन्धन से मुक्त हो गया, मुझे अब कुछ भी कर्तव्य दिखाई नहीं देता, जो मैंने पाना था, सो पा लिया।" परन्तु यह तभी सम्भव होगा, जब पहले आप " अ आ इ ई" से कुछ अभ्यास करना आरम्भ करेंगे, इसका मतलब है कि पहले श्रद्धा रख करके कर्म में जुड़ना सीखे। कर्म करते हुए कर्म का भी पता लगता रहे और मन कहाँ व किधर जा रहा है, इसकी भी खबर रहे, यही कर्म में जुड़ना है।

६. यदि थोड़ी अपने आपकी समझ आने लग जाये, तो समझना चाहिये कि अन्दर की कुछ विद्या तो जाग गई व प्रकृति का विरोध काफी दूर तक पहुँच गया। यदि स्मृति जाग गई, तो पता चलेगा कि प्रकृति चाहती है कि "संसार में ही रूलते रहो, अन्दर का कोई हिसाब ही नहीं, अन्दर तो मेरा राज्य है"। प्रकृति के अन्दर स्वाभाविक ऐसा बल है कि वह किसी को अन्दर झाँकने नहीं देती। प्रकृति के अन्दर झुकने का मतलब निद्रा (नींद) अर्थात् तमोगुण है व बाहर जाने का अर्थ संसार में फैलना अर्थात् रजोगुण है। प्रकृति चाहती है कि " बाहर ही खेलते रहो," कारण कि आँख, कान आदि सब इन्द्रियाँ बाहर ही खुली हुई है और मन भी बाहर की ही सोचे, तो अच्छा है। अन्दर का मतलब है कि "भगवान् का रास्ता" वह भगवान् ही एक ऐसा था, जिसने कभी अन्तर्मुख होकर के प्रकृति पर पूर्ण विजय पाई व सारा आनन्दमय जीवन व्यतीत किया। ऐसा होने पर मनुष्य ने उसको अवतार

कहा होगा। अपने जीवन द्वारा प्रमाणित करके उस परम–सुख को सारे संसार को दिखला दिया और सब मनुष्य बड़े प्रेरित हुए। उनका चला हुआ रास्ता वेद शास्त्रों द्वारा हमारे तक पहुँच रहा है। आप भी करने लायक ढँग से समझ करके उसी भगवान् के मार्ग पर पड़ जाओगे। यदि आपने करने लायक कुछ नहीं किया, फिर तो आपको यह विश्वास ही करना पड़ेगा कि "मेरा बेड़ा पार तो कोई दूसरा ही करेगा या केवल अपने ढँग की श्रद्धा ही करेगी," यह कोई अन्तिम फल की प्राप्ति नहीं है, केवल इसमें श्रद्धा का ही थोड़ा पुण्य है।

१०. असलियत (वास्तविकता) तो यह है कि अपने अन्दर बल उपजाना ही पड़ेगा। प्रकृति (आदतों की शक्ति) का विरोध भी करना ही पड़ेगा। उससे जो दुःख होता है, उसको भी तप समझकर सहन करना ही पड़ेगा। फिर धीरे–धीरे आगे यह तीर्थ यात्रा (तैरने के स्थान की यात्रा) अर्थात् परम पद तक पहुँचने की यात्रा चलती है। उसके लिये यही है कि सबसे पहले बाहर सामाजिक खोंटे पापों से बचना है। उसके बाद अपने अन्दर की व्यक्तिगत बुराइयों से बचे, जिसमें थोड़ी पवित्रता भी आयेगी, थोड़ा खाने पीने में भी सन्तोष व बोलने चालने में भी विचार रखना पड़ेगा। मनचाहे को टालने की तंगी को सहन करना रूपी तप (खेद) भी मन को सहन करवाना पड़ेगा। प्रकृति (आदतों की शक्ति) नहीं चाहती कि " यह सब इस प्रकार हो।" अर्थात् अच्छे गुण अपनाये जायें फिर इसके बाद स्वयं का अध्ययन (पढ़ाई) करे कि "मन की क्या अवस्था है? हम ऐसा करते हैं, तो मन क्या कहता है?" ऐसे स्वाध्याय करते हुए मनुष्य का मन कहेगा कि " तूँ तो मूर्ख मनुष्य है, संसार के मनुष्य क्या इसी तरह सुखी होते हैं? तूँ अपने इसी धर्म के मार्ग से बुद्धू बना बैठा है। तूँ सहन शक्ति में पड़ा कब तक सहन करता रहेगा?" ये सब प्रकृति की तरंगें हैं, जो बुद्धि को भी भ्रष्ट करती हैं इसलिये ये सब

प्रकार के दूसरों के साथ संघर्ष में ही डाल कर दुःखों में ही पहुँचाती है। स्वाध्याय के बिना इन प्रकृति की तरंगों का पता ही नहीं लगता है। स्वाध्याय द्वारा यह ध्यान में लाना है कि "किस तरह प्रकृति बुद्धि को प्रेरित करती है, मन में उद्वेग (जोश) पैदा करती है ?" " कैसे इन्द्रियाँ व शरीर को चला करके किधर–किधर उलझा देती हैं ?" ये सारी बातें स्वाध्याय करने वाला ही समझेगा।

११. इस प्रकार स्वाध्याय करते–करते मन पहचानने में आने लग जाये, तो समझो ध्यान आ गया अर्थात् ध्यान लगने लग गया। यदि अपने मन में आप जाग गये, तो समझो बाहर संसार खो गया अर्थात् काम (इच्छा) का जाल मन से उतर गया। कारण कि मन तो एक ही है, यदि वह मन संसार में ही कुछ जानने में लगा हुआ है अर्थात् समझ रहा है, तो समझो वह मन अन्दर सोया पड़ा है अर्थात् अविद्या में पड़ा है। यदि अन्दर की बातें उसको खुलने लग गई, अन्दर जाग गया अन्दर समझ आ गई, तो समझ एक ही है ओर वह अन्दर ही लगी रहेगी। अर्थात् मन संसार से विछुड़ कर अन्दर अपने ध्यान में ही लगा रहेगा। यदि वह समझ अपने अन्दर ही रहेगी, तो बाहर संसार बुझने लग जायेगा। जितनी देर आप अन्दर के सत्यों को समझते रहेंगे,तो समझना चाहिये कि उतनी देर तक बाहर संसार से आप कटे हुए हैं। यह मन की जागृति की अवस्था बहुत उत्तम है, यह ध्यान की अवस्था हो जाती है। इस अवस्था में भावों का परिचय व जानकारी मिलती है कि "मन उस समय क्या इच्छा कर रहा था, क्या सोच रहा था ?" जब यह मन आपको पहचानने में आ गया, तो इससे लड़ना भी आ जायेगा। इस मन के कहने से चलना नहीं है और खोटे कर्मों के भावों को भी मन में टिकने नहीं देना है, भले ही कितना भी क्लेश (तंगी) रूप तप आपको सहन करना पड़े। यही सब अन्दर के सत्यों का ज्ञान होता है और अन्दर की विद्याएँ प्राप्त होती हैं, जिससे

कि अविद्या या आत्मा पर पड़ा हुआ पर्दा दूर हो जाने पर नित्य सुख प्रकट होता है और वह अनुभव में आने लगता है।

१२. प्रकृति बुद्धि उत्पन्न नहीं होने देती, कारण कि उसकी दृष्टि (नजर) उधर संसार के छोटे मोटे सुख पर टिकी रहती है। बस ! मन को उस सुख का बिछोड़ा ही तंग कर रहा है। वह बाहर के सुख लेने वाली प्रकृति शक्ति रूप बनी हुई या तो इसको निद्रा (नींद) में सुला देगी या फिर उन सुख के संकल्प (इरादे) ही करवायेगी, जो कभी बचपन में मिले थे। आपने तंगी सहन करके भी इस प्रकृति के मार्ग पर नहीं जाना है। यदि आप प्रकृति का इस प्रकार से विरोध करते जाओगे, तो धीरे–धीरे बल मन व बुद्धि तक पहुँच जायेगा। जहाँ बुद्धि निश्चय करके गलत मार्ग पर ले जाती है, वहाँ आप अच्छा निश्चय कर लें। मन में जोश आकर के जोर से धक्का देता है, आप उस धक्के को भी सहन कर जायें अर्थात् जिधर ये धक्के ले जा रहे थे। उन सब मिथ्या कर्मों से आप बचे रहें, तो यही अनर्थ से मुक्ति (छुटकारा) मिल गयी अर्थात् आपको उनसे होने वाले पापों का दण्ड नहीं भुगतना पड़ेगा। यही एक प्रकार से प्रकृति के बन्धन से मुक्ति (छुटकारा) सिद्ध होगी। जब ये दोनों प्रकार के धक्के सहन होने लग जायें, तो समझो उनसे छुट्टी पाने का नाम ही मुक्ति (छुटकारा) है। जब यह छुटकारा हो गया, तो समझो ज्ञान पूरा जाग गया। अब आप स्वाधीन हो गये व यहाँ पर अब श्रद्धा का काम नहीं रहा। अब किसी से आपको सुनने सुनाने की भी आवश्यकता नहीं। आपने जो पढ़ा या सुना हुआ है, वह सब सत्य अपने अनुभव द्वारा प्रमाणित (साबित) हो जायेगा। जब तक इतनी बुद्धि अभी नहीं विकसित हुई है, तब तक श्रद्धा रूपी बल को रखना ही पड़ेगा। यदि थोड़ी श्रद्धा रख कर के धर्म के मार्ग पर नहीं चले, तो उस मनुष्य को अन्दर सोई–सोई (छुपी–छुपी) प्रकृति अपने मार्ग पर ही चलाती रहेगी।

१३. प्रकृति के तत्व काम (इच्छा), क्रोध, लोभ, मोह, मान व अहंकार आदि भड़क पड़ते हैं। भड़के हुए मन के अन्दर उत्तेजित होकर के वे खोंटे भाव ही पैदा करते हैं। जैसे किसी दूसरे मनुष्य से अपने को थोड़ा दुःख हो गया, तो दुःख से भड़की हुई बुद्धि झटपट निश्चय यही करती है कि " यह मेरा वैरी है व दुष्ट मनुष्य है" । यह मिथ्या (खोंटा) निश्चय है। इस अवस्था में अपने मन व बुद्धि से पूछे कि " कितना ज्यादा दुःख हुआ है, जो कि मना ! तूँ अमुक मनुष्य को अपना वैरी व दुष्ट समझ रहा है? इससे ज्यादा दुःख तो काँटा लगने, जलने, चोट लगने व बीमारी आदि से भी हो जाता है। इस थोड़े दुःख होने के कारण से ही वह वैरी व दुष्ट लग रहा है।" उस वैरी भाव के साथ–साथ खोंटा वैर भाव न जाने किन किन दुष्ट कर्मों के लिये प्रेरित कर रहा है। इन सब कर्मों से अन्त में भला किस व्यक्ति का कल्याण होगा। उस मनुष्य को मिथ्या भावों से न समझकर आप थोड़ा सोचो कि " यह दुःख क्यों और कैसे हुआ"? तब आपको मालूम होगा कि यह केवल अपना सुख चाहने वाली प्रकृति (आदतों की शक्ति) मुझे श्वाँस (दम) नहीं लेने देती व आदत का सुख न मिलने के कारण यह इतनी भड़की हुई शक्ति ही मुझे परेशान कर रही है व बुद्धि को भी मिथ्या निश्चय करने के लिये प्रेरित कर रही है। इसी प्रकार सब देहों के अन्दर भी यही एक बनी बैठी है। आपके अन्दर ऐसा भाव बनने पर समझो यह व्यापक सत्य का आपको ज्ञान हुआ अर्थात् समझो कि यह आपको ब्रह्म ज्ञान (व्यापक जीवन के सत्य का ज्ञान) हो गया। यदि दूसरों के अन्दर यह प्रकृति शक्ति समझ कर आप सही मार्ग पर चल पड़े, तो समझो आप परमात्मा के भक्त हो गये। जब तक आपको अपने अन्दर का ज्ञान नहीं कि " मुझे कौन शक्ति इस संसार में चला रही है", तो आपको दूसरे मनुष्य कैसे समझ में आयेंगे। सबसे पहले अपने आपको समझाना है कि "मेरे अन्दर यह

सुख के लोभ से भड़की हुई बुद्धि किस प्रकार मन को उत्तेजित कर रही है और दूसरे का अहित करने के लिये चला रही है अर्थात् मिथ्या निश्चय करवा रही है ।" इसमें खोंटापन समझकर यदि आप थोड़ा भड़के हुए मन के दुःख को हजम करके उसका मार्ग टाल गये, तो समझो आपने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली । ऐसी अवस्था में जिधर से भी आपको थोड़ा मन का भड़कावा आया है, उसके बारे में सोचना आरम्भ कर दिया कि "जब मेरे को यह शक्ति बेचैन करके इस प्रकार चला रही है, तो उसको भी अर्थात् जिसको वैरी व दुष्ट समझ रहा हूँ, कोई बेचैन करने वाला होगा? उसकी बेचैनी के कारण से कुछ उससे मुझे दुःख हो गया । उसमें भी यह प्रकृति (आदतों की शक्ति) ही दोषवाली है, इसी का नाम भगवान् की माया है ।" "इस संसार में सबको ठगने वाली यही प्रकृति है और ज्ञानदेव के साथ बसी हुई बैठी है । परमात्मा इसको चेतन करता जाता है ।" "किसी" तेरे मेरे" का क्या अपराध (कसूर) है"? मेरा थोड़ा सुख बिगड़ने पर ऐसी अवस्था में खाली मेरी मति ही खोंटी बन गई कि "वह दुःख देने वाला है ।" परन्तु सही समझ आने पर मालूम होगा कि इस संसार में दुःख देने वाला कोई मनुष्य नहीं, दुःख देने वाली तो यह प्रकृति शक्ति है और साथ–साथ अपनी मानसिक दुर्बलता है । यही सब जीवों के अन्दर बैठी हुई उनको अपनी इच्छा के अनुसार चला रही है । ऐसा ज्ञान उत्पन्न करके यदि आपने बुद्धि सुधार ली, तो समझो बुद्धि तक आप अपने पर काबू पा गये, तो फिर खोंटा निश्चय नहीं होगा । जब खोंटी बुद्धि नहीं बनेगी, तो खोंटा (मिथ्या) संकल्प (इरादा) भी नहीं बनेगा । खोंटा संकल्प (इरादा) नहीं तो खोंटे भाव (काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि) भी नहीं जन्मेंगे । जब ये खोंटे भाव नहीं उत्पन्न होंगे, तो सारे देह व इन्द्रियों का कार्य बड़े उचित ढँग से आरामपूर्वक चलेगा अर्थात् खोंटे कर्म भी नहीं होंगे, जो संसार में ही धकेलने वाले हैं ।

१४. जैसा अपने अन्दर ज्ञान होता है, उसी के अनुसार दूसरों पर प्रभाव पड़ते हैं। यदि आप अपने मन में जहर लिये बैठे हुए हैं, तो उस अन्दर के विष (जहर) को छुपाने के लिये आपके बनावट (दिखावा) करने पर भी सामने दूसरों से प्रभाव जहर वाला ही आयेगा। यदि दूसरे के मन में जहर है, आप भले नहीं भी पहचानों, परन्तु आपके अन्दर बैठा हुआ देव उसके जहर के अनुसार (मुताबिक) उसी तरीके से तरंग आपके मन में चलायेगा कि " आपसे अच्छा व्यवहार होने ही नहीं देगा।" "यही प्रतीत–समुत्पाद या जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि" होने का सत्य है अर्थात् जैसा भी आपसे दूसरे को महसूस होगा, उस महसूस होने के ढंग से ही दूसरे के अन्दर सृष्टि खड़ी होगी। यह सब अन्दर के भाव पहचानने वाला ज्ञानदेव सबके अन्दर बसा हुआ है और वह सब जानता है कि " मुझे भय खतरा कहाँ है ?" इस जानने के अनुसार ही आगे क्रिया होती है। इसी का नाम दृष्टि है और उसी के अनुसार सृष्टि बनती है अर्थात् " जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।"

१५. बच्चा भी प्रतीत करता है कि "भय कहाँ से है ?" जहाँ से भी भय है उसी भय की दृष्टि (नजर) बनते ही, उसी समय प्रकृति उसके अन्दर घुट कर उसका चेहरा भारी कर देगी व उसका रोना (अश्रुपात) आरम्भ हो जायेगा। यह बच्चा नहीं जानता कि " इस देह की मशीन कैसे चलती है ?" यह प्रकृति ही उसके अन्दर से रोना उत्पन्न कर देती है और आँसू गिराती है, इत्यादि इत्यादि। परन्तु यह ज्ञानदेव, जो अन्दर बैठा है, वह अपने प्रभावों द्वारा, जैसी जैसी हरकत करनी है, उस प्रकृति के अन्दर ऐसे भाव उत्पन्न (पैदा) करके बाहर चक्कर चला देता है। हम आप तो कहने सुनने के लिये है कि "मैंने ऐसा किया, उसने वैसा किया," "उसने खोंटा बोल दिया," "वह अमुक मनुष्य ऐसा है।" इस संसार में ऐसा वैसा कोई नहीं है, ये सब प्रकृति के प्रभाव हैं। एक दूसरे को प्रतीत (महसूस) करके आमने सामने पड़ने पर बनते

हैं। जैसे–जैसे वे प्रभाव अन्दर रचे हुए हैं, उन्हीं के अनुसार बाहर कर्म होते हैं। चोर के कर्म अपने ढँग के हैं और दूसरे मनुष्यों के कर्म अपने–अपने ढँग से है। जैसे–जैसे जिसके नाना प्रकार के कर्म है, वैसे–वैसे उनके चेहरों से उन कर्मों के प्रभाव व्यक्त (प्रकट) होते रहते हैं। बोल वाणी में भी दूसरों के सामने जाकर के ये प्रकृति के प्रभाव उसकी आँखों द्वारा उसके ज्ञान में घुसेंगे, तो अपने ढंग का ही प्रभाव पैदा करेंगे। अब जैसा–जैसा उसका प्रभाव दूसरे के अन्दर पड़ेगा, उधर से भी वैसी ही वाणी निकलेगी और वैसा ही भाव पैदा होगा। यह सब जान बूझकर के कोई नहीं करता है। यह अन्दर की जो माया है, अन्दर के जो प्रकृति के तत्त्व व प्रभाव है, वे ऐसा बल रखते हैं कि इनको समझना बड़ा कठिन है कि "ये किधर किधर प्रत्येक मनुष्य को चलाते हैं।" इन सबको अपने अन्दर ही ध्यान में परखना आवश्यक है। इनके परखे बिना अर्थात् पूर्ण ज्ञान बिना कोई भी मनुष्य संसार जाल से मुक्त नहीं हो सकता और संसार जाल में बँधा मनुष्य कोई सुख नहीं पा सकता। इसलिये अपने ध्यान को इतना स्वाभाविक बनाये कि प्रत्येक समय यह सत्य दृष्टि में रहे और मनुष्य को सही दिशा में चलाता रहे, जिससे कि वह संसार जाल से सदा मुक्त रहे और मुक्त मन में सुख व प्रसन्नता और जीवन की प्रीति का अनुभव करता रहे।

१६. शास्त्र में शिष्य कहते है, " सीखने वाले को" अर्थात् जो सीखने की योग्यता रखता हो।" व " अनुशासन में रहने वाले को" अर्थात् नियमानुसार धर्म के मार्ग पर अपने आपको चलाने वाले का नाम ही शिष्य है। फिर मनुष्य यह सब किस प्रकार सीखेगा? सीखने का मार्ग यह है कि " थोड़ा स्वाध्याय द्वारा अपने को जाने।" पाँच पाप तो बाहर टालने के है, जो कि यम नाम से कहे जाने वाले है और पाँच नियम अपने अन्दर अपनाने हैं। स्वाध्याय के बाद पाँचवा नियम ईश्वर प्रणिधान है अर्थात् अपने आपको थोड़ा पहचानना कि " किस

प्रकार प्रकृति शक्ति मुझे प्रेरित करके चला रही है।" और उसी मार्ग से दूसरों को भी वही समझना तो यही ईश्वर प्रणिधान है। ईश्वर (व्यापक जीवन) में मन को लगाना है। अल्प (छोटा) अपने एक व्यक्ति का जीवन एक देह में है और सर्वव्यापक जीवन एक दूसरे के साथ जुड़ा जुड़ाया है। इस संसार में कोई मनुष्य भी अकेला नहीं जी रहा है अर्थात् सकल संसार एक रूप में जो प्रत्येक व्यक्ति के समझ में पड़ रहा है, उसी में ही सब प्राणी अपना जीवन धारण कर रहे हैं। इस व्यापक जीवन के बीच में कई प्रकार के प्रकृति के प्रभाव होते हैं। जैसा अपना मन बना होता है अर्थात् जैसा ही इधर से ज्ञान प्रकट होता है, वह प्रकट हुआ–हुआ ज्ञान दूसरे के अन्दर उसके ज्ञान को वैसा ही जगा देता है। जैसा यहाँ ज्ञान जगता है वैसी ही वहाँ दूसरे के अन्दर तरंगें चलना आरम्भ हो जाती हैं। अब बताओ, तेरा मेरा" इसमें क्या रखा है? ऐसा समझ करके फिर अपने मन को काबू करने का प्रयास करो। यदि मैंने अपना यह मन को काबू करने का धर्म पहचान लिया अब, दूसरा चाहे जैसा करता रहे, कारण कि उससे प्रकृति (आदतों की शक्ति) ही ऐसा करवा रही है। इसके लिये ही अपने अन्दर यह भाव जगाये कि "जब मेरे को ही मन चैन नहीं लेने दे रहा है, बुद्धि भ्रष्ट हो रही है, भाव विकृत हो रहे है, इन्द्रियाँ भटक रही है, देह काबू से बाहर जा रहा है, निद्रा (नींद) नहीं आ रही है, तो यही अवस्था बेचारे दूसरों के साथ भी ऐसी ही होगी"। यही सब ईश्वर (व्यापक जीवन) का प्रणिधान है, व्यापक जीवन में मन को लगाना व उसको समझना (पहचानना) जिससे, कि अपने कल्याण (शान्ति) का मार्ग (रास्ता) साफ हो। बेचारे कहने से आपको उन पर दया आ गई। इससे वे दस बल (मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, शील, क्षमा, दान वीर्य, ध्यान व प्रज्ञा) आदि बढ़ेंगे। इसने मेरा सुख बिगाड़ दिया, इस प्रकार किसी व्यक्ति को समझने पर मन चाहता है कि " उसके सुख को

देखकर मैं क्यों सुखी होऊँ ?" ऐसी अवस्था में अपने मन से कहे कि तथा प्रेरित करे कि "यह प्रकृति ऐसी है कि इस बेचारे से तो मेरा सुख सहन नहीं हुआ परन्तु मैं, इसके सुख में दुःखी क्यों होऊँ ?" इस प्रकार मनुष्य को अपने कर्त्तव्य का सोचना व भाव भी बनाना है इस भाव को पुराने व्यक्ति आर्य, भद्र व श्रेष्ठ भाव कहते थे। मनुष्य अपने मन के अन्दर धीरे–धीरे इस भाव को उत्पन्न करता जाये, तो वह व्यक्ति एक दिन ऐसा करेगा, कि "भगवान् की यात्रा की ओर चल रहा है और भगवान् के मार्ग पर ऐसी जगह पहुँचेगा, जो कि उस भगवान् के रास्ते का होगा, जिसको वह चलने वाला ही जानेगा।" इसके लिये ज्यादा तर्क वितर्क करने की आवश्यकता नहीं है कि " भगवान् क्या है कौन कहाँ पर पहुँचेगा, क्या मिलेगा"? इस धर्म के मार्ग पर चलने वाले के लिये इतना तो अवश्य है कि " वह संसार की बुराइयों, उलझनों से बचकर मन की काफी शान्ति पाता है"। परन्तु यह तब सम्भव होगा, जब वह इस प्रकृति का थोड़ा विरोध करना सीखे। यह प्रकृति पाँच स्थानों (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि व सुख दुःख की वेदनाएँ)पर टिकी हुई है। प्रकृति दिखलाती है कि " यह अच्छा लग रहा है, सुख मिलता है, तो कैसे छोड़ा जा सकता है"? अपने मन से बोल बोल कर समझाये कि " नहीं नहीं यह अच्छा कुछ नहीं है, थोड़ा समय बीतने पर ओछा हो जायेगा। यदि थोड़ा सुख छोड़ने से बड़ा सुख मिल जाये, तो इसको छोड़ देना चाहिये।" यदि यह ज्ञान आपके अन्दर जन्म गया, तो आप प्रकृति की दासता को पार कर जायेंगे। यदि ज्ञान अभी अन्दर नहीं जाग सका और थोड़े सुख को लेने के लिये आप चल पड़े तो पता नहीं आगे क्या होगा ? अर्थात् कितना बड़ा दुःख इसी तुच्छ सुख के कारण प्राप्त होगा अर्थात् भोगना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि थोड़ा दुःख सहन करने से बड़ा दुःख टलता है, तो थोड़ा दुःख भी सहन कर लेना चाहिये। जैसे बीमारी की अवस्था में थोड़ा

स्वादिष्ट (अच्छा) भोजन छोड़ने से यदि स्वास्थ्य ठीक होता है, तो उस समय अच्छा अपना मनपसन्द का भोजन भी छोड़ दिया जाता है। इसी तरीके से धीरे धीरे जीवन में सीखना पड़ता है और सीख सीख करके अपने आपको चलाना पड़ता है। यदि आप दूसरों को ही देखते रहे, तो यह आध्यात्मिक (धार्मिक) जीवन नहीं चला जा सकेगा। आप अपने आपको देखकर अर्थात् समझकर ही इस प्रकृति के बल को पहचानने का यत्न करें। जब आप अपने अन्दर प्रकृति का बल पहचान गये, तो आपको दूसरों के लिये सोचने की भी हिम्मत बन जायेगी। यदि यह ईश्वर प्रणिधान रूप भगवान का बल आपके अन्दर नहीं आया, तो " बस ठीक है आप प्रकृति के ही चंगुल में हैं प्रकृति तो कहती है कि " मैं अपने आपको तो जानती हूँ, दूसरों का मुझे कुछ पता नहीं है"। अपने आपके अतिरिक्त दूसरे प्राणियों के बारे में भी ध्यान द्वारा उनके अन्दर के सत्यों को समझने और उन सब की बाध्यता या लाचारी को भी ध्यान द्वारा अनुभव करते हुए उन सब जीवों के प्रति सही धर्म का भाव रखना, जिससे कि वह मनुष्य के मोक्ष मार्ग या कल्याण के मार्ग में बाधा न करे, यही सब ईश्वर प्रणिधान या व्यापक जीवन रूप ईश्वर में मन का जोड़ना है। ईश्वर प्रणिधान से मनुष्य को दूसरों के अन्दर के सब भावों की भी समझ पड़ने लग जायेगी और वह सही कल्याण के मार्ग से कभी भी विचलित नहीं होगा।

१७. यदि मनुष्य के अन्दर धर्म मार्ग को छोड़कर केवल वही प्रकृति की ही तरंगें इस विश्व में उसको चलाने वाली है, तो उस मनुष्य का इसमें भला नहीं है। जीवन काल (जीते जी) में भी अहित (बुरा) ही है और मरने के बाद भी यह नहीं है कि "यह इतनी व्यापक शक्ति, जो ज्ञानमयी है, कभी नष्ट हो जायेगी।" विनाश करके कुछ भी इस संसार में नहीं है। यही होता है कि उसकी अवस्था बदलती है, भले ही वह वस्तु जड़ है या चेतन है। कोई भी वस्तु है, जैसे एक जगह

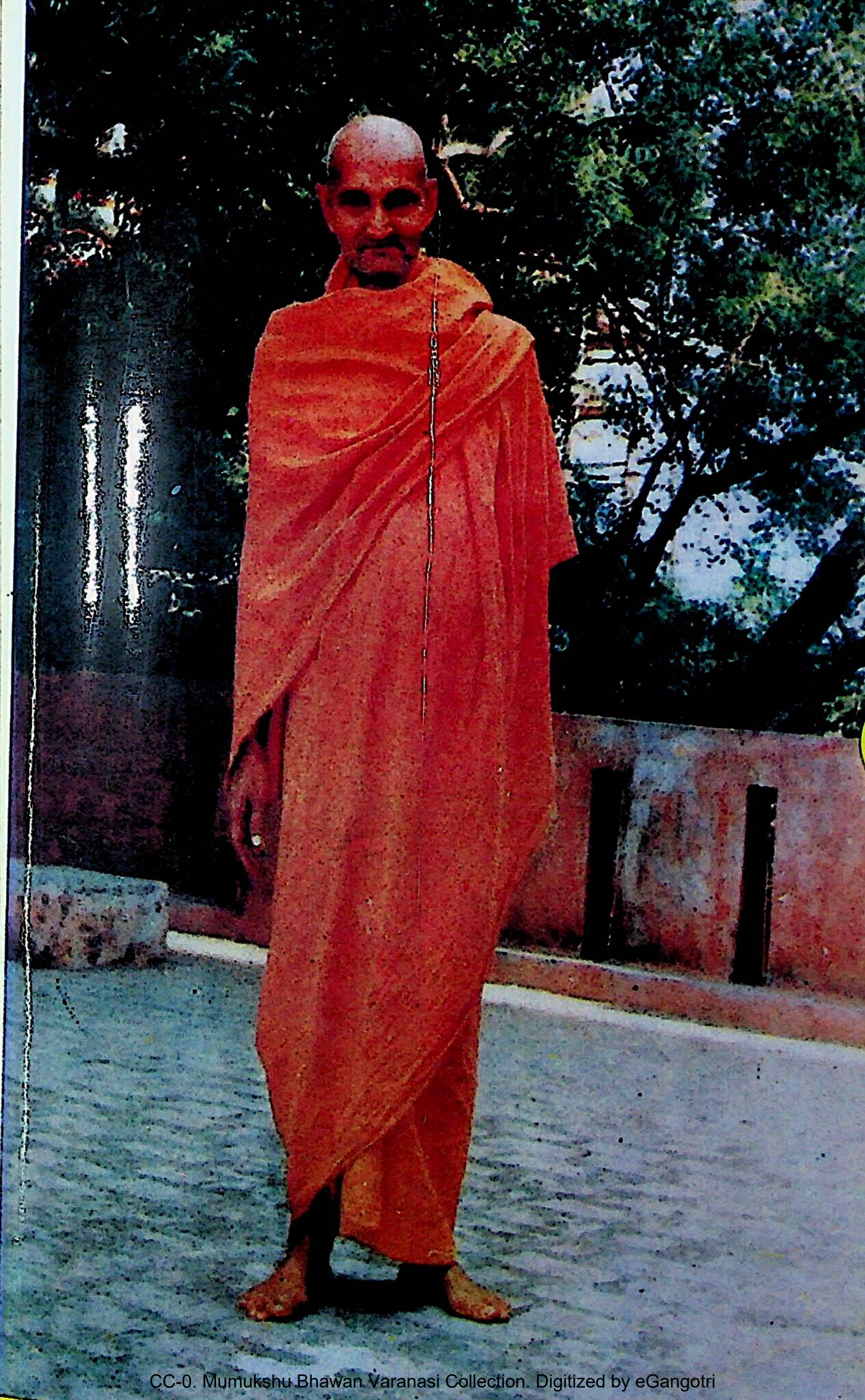
से वह हट गई, तो समझो वह नष्ट नहीं हुई । अर्थात् जैसे कि घड़ा टूट गया, ठीकरे बन गये ठीकरे टूटकर जर्रे–जर्रे बन गये । जर्रे टूट कर न जाने कोई और शक्ति रूप बन गये । इसी प्रकार शरीर छूटने पर बाहर संसार का स्थूल ज्ञान ही समाप्त हुआ, सूक्ष्म रूप में बना रहेगा । सूक्ष्म से और सूक्ष्म बना, तब भी वह किसी एक ऐसी अवस्था (हालत) में विचरता ही रहेगा, जैसे कि बीज की अवस्था होती है, फिर वहाँ से वैसे ही उत्पन्न होगा, जैसे पहले भी हुआ था ।

१८. जीव के हित (भलाई) के लिये यही है कि थोड़ा प्रकृति को समझना और उसका विरोध सहन करके उसके बन्धन से निकलना है । और प्रकृति के बंधन से निकल करके फिर अपने अन्दर वह जो शान्त आनन्दमय पद है, उस तक भी पहुँचना है । वह तभी सम्भव होगा, जब आपको इस प्रकृति के विरोध करने का सामर्थ्य (बल) प्राप्त हो जाये ।

१६. इसके लिये अपने अन्दर सब अच्छे गुण उपजाने हैं । ऐसा करने पर समझो कि यही भगवान् की भक्ति आरम्भ (शुरू) हो गई, कारण कि सर्वगुणसम्पन्न तो केवल भगवान् ही है । भगवान् के सब अच्छे गुण प्रकृति के दोषों के विपरीत होते हैं । जैसे काम (इच्छा) रूपी प्रकृति के विकार (दोष) से विपरीत भगवान् का गुण वैराग्य है । इसी प्रकार लोभ का विपरीत (उल्टा) सन्तोष, क्रोध से विपरीत क्षमा, दूसरों के सुख को देखकर जलन होना, इसके विपरीत दूसरे के सुख में सुखी होना (मैत्री) इत्यादि भगवान् के गुण है । और भी कई गुण हैं, जैसे कि जीवन का तो यह स्वभाव है कि अधीर व बेसबरा होकर झटपट प्रकृति के मार्ग पर उधर ही पड़ जाना, उसके विपरीत भगवान् का गुण धैर्य (धीरज) है । प्रकृति के जितने भी अवगुण हैं, उनके विपरीत जितने गुण यत्न (मेहनत) करके अपने अन्दर अपनाये जाते हैं, वे सब भगवान् के गुण हैं ।

२०. भगवान की भक्ति करने के लिये व प्रकृति के बन्धन से मुक्ति (छुटकारा) पाने के लिये एक अपने सामने अपनी दृष्टि (नजर) में ऐसा रख लिया कि "भगवान् परमेश्वर, जो सर्वगुणसम्पन्न है अर्थात् जिसमें सारे अच्छे गुण हैं।" ज्यों–ज्यों आप अपने दोष देखेंगे, तो गुणों का आपको अन्दाजा मिलेगा अर्थात् अपने दोषों को जानने से ही इनके विपरीत भगवान् के गुणों की जानकारी आपको मिलेगी। मेरे अन्दर तो गुण नहीं है, परन्तु कोई अवतारी भगवान् धर्म की पूर्ण कमाई कर गया, उसके अन्दर ये सब अच्छे गुण थे, वह इनके साथ बहुत सुखी भी था। ऐसे भाव रखते हुए यदि आप चलते जायें अर्थात् भव–सागर को तैरने के लिये यात्रा करते जायें, तो यही तीर्थ–यात्रा आपके लिये सब से उत्तम रहेगी इस ढँग से स्वयं का अध्ययन करते हुए उस परमेश्वर (परमात्मा) को जानते हुए, प्रकृति के बन्धन से मुक्त होकर के अन्त में परम पद की प्राप्ति होती है। कहने का भाव तो इतना ही है, अब करने वाला कब उस परमपद को प्राप्त करेगा, यह वही जान पायेगा? यदि समझेगा, तो प्राप्त करने का मार्ग यही है। इस परमपद को पाने का मार्ग समझकर के थोड़ा त्यागी व तपस्वी भी बनने का यत्न करे,और साथ–साथ ज्ञान को बढ़ाता ही रहे, कारण कि ज्ञान बिना इस मनुष्य को सही (ठीक) मार्ग पर डालने वाला कोई भी नहीं है। यह ठीक है कि हम श्रद्धा से थोड़े दिन के लिये चल सकते हैं, जब तक कि अपने अन्दर बुद्धि इतनी विकसित नहीं हुई है। बुद्धि (ज्ञान) के जगने के पश्चात् , उस प्रकृति शक्ति का अन्दाजा करना कि "यह किस प्रकार अपने विकार (दोष) व बन्धनों के द्वारा मनुष्य को संसार में ही पटकती है।" और इसका विरोध करने के लिये व धर्म के मार्गपर चलने के लिये अपने अन्दर बल उत्पन्न करना है। अपने अन्दर उस प्रकृति शक्ति को जान करके सकल संसार में भी उसको ही सब जीवों में कार्य करती हुई पहचानना है। इस प्रकृति शक्ति को जानकर के

इसके विरोध का बल अपने अन्दर बढ़ाते-बढ़ाते यहाँ तक बढ़ा लेना है कि इस प्रकृति के बन्धन से बिल्कुल मुक्त होकर के, जहाँ कहीं परमेश्वर भगवान् बैठा है, उसके परमधाम तक अपने आप पहुँच करके देख ले। इस सारे कहे हुए का भावार्थ यह है कि जिस प्रकार अपने आपको या किसी एक जीव को उसके ही अन्दर बैठी हुई प्रकृति अपने राग द्वेष आदि बन्धनों व काम क्रोध आदि विकारों द्वारा बलपूर्वक अपने ही मार्ग पर चलाती है और अन्त में दुःख में पटक देती है, इसी प्रकार सब जीवों के अन्दर भी बैठी हुई उनकी प्रकृति उनको बाँधती हुई बलपूर्वक वैसे ही दुःख के मार्ग पर चलाती है। इसीलिये जीव अपने अपने सुख दुःख के कारण दूसरों से संघर्ष इत्यादि करता हुआ आप भी दुःखी होता है और दूसरों को भी दुःखी करता है। अब मोक्ष को या परमपद चाहने वाले व्यक्ति का यही धार्मिक कर्त्तव्य है कि वह भगवान् के वैराग्य संतोष आदि-आदि गुण और मैत्री करुणा आदि पीछे विस्तार से कहे गये बलों द्वारा इनकी भली प्रकार से भक्ति करके अपने आपको दोनों प्रकार की प्रकृतियों (अपनी एक रूप की प्रकृति से और सब जीवों की व्यापक प्रकृति से) मुक्त कराये। ऐसी मुक्ति प्राप्त होने पर अपनी आत्मा का व व्यापक प्रकृति के साथ रहने वाले परमात्मा का सुख सदा के लिये प्राप्त होगा, यही परमपद है।





प्रवचन

१—१—१९८७

जैसा कि कल प्रकृति के बन्धन और उससे मुक्ति पाने के बारे में बतलाया था, आज उसी सम्बन्ध में थोड़ा विस्तार से बतलाना है । जो प्रकृति शक्ति है, वह स्वाभाविक ही सारे संसार को उत्पन्न, पालन और अन्त में नाश करने वाली है और उस व्यापक भगवान् परमेश्वर के साथ उसका अपने ढँग का सम्बन्ध है । जैसा उसने (प्रकृति ने) संसार उत्पन्न किया है, उसी ढंग से ही उसने इस संसार को चलाते रहना है । उस प्रकृति के अन्दर यह विवेक (ज्ञान) नहीं कि " जो कर्म किया जा रहा है, इसका परिणाम (नतीजा) अन्त में क्या होगा?" प्रकृति के मार्ग पर चलते हुए मनुष्य के ज्ञान में केवल कोई न कोई दुःख या सुख बसा हुआ है । अब विचार करने योग्य प्रश्न यह है कि "मनुष्य दुःख से कैसे बचे ?" कारण कि इस संसार में दुःख कोई मनुष्य भी नहीं चाहता, भले ही सुख न ही हो । दुःख से यदि सदा के लिये बचना है, तो इस प्रकार से इस प्रकृति को साधना है अर्थात् थोड़ा सा उसका सामना (मुकाबला) करना आवश्यक है, ताकि दुःख देने वाले खोटे कर्मों से बचा जा सके । प्रकृति (आदतों की शक्ति) क्रोध (गुस्से) में किसी के साथ ऐसा व्यवहार (बर्ताव) करवाना चाहती है, जिसके करने के पश्चात् (बाद में) हानि ओर पश्चात्ताप (पछतावा) होगा । जैसे कि यदि आप किसी बलशाली व्यक्ति से प्रकृति के जोश में आकर के लड़ाई झगड़ा कर गये, तो ऐसा करने पर दुःख ही हाथ लगेगा अर्थात् दुःख की ही प्राप्ति होगी । ऐसी अवस्था में यदि कोई मनुष्य अपने अन्दर विवेक (ज्ञान) जन्मा सके, तो समझना चाहिये कि उसने प्रकृति पर अंकुश या उसके ऊपर काबू पाकर के उस प्रकृति (आदतों की शक्ति) को अपने धर्म के मार्ग से भी

चला लेगा। धर्म का मार्ग उस भगवान् का है, जो ज्ञान द्वारा और अपने आप में आने वाली बातें, और जैसी हो रही हैं, तथा वैसी ही उनके अनुसार पीछे (भूतकाल में) क्या हुआ था, यह सब समझता है।

२. हमारे शास्त्रों में भगवान् शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका तात्पर्य (मतलब) है कि छः ऐश्वर्य, विभूतियाँ या शक्तियाँ भगवान् के अन्दर परिपूर्ण होती हैं।" भग" का अर्थ है, विभूतियाँ या ऐश्वर्य, और उन सबसे युक्त वह भगवान् है।

३. भगवान् जानता है कि "विद्या और अविद्या क्या है ?" "क्या वस्तु ऐसी है, जो जानने योग्य है और क्या वस्तु ऐसी है, जो जानने के सत्य पर ढक्कन डालने वाली है ?" वह भगवान् जानता है कि "जानने का सत्य क्या है ?" साधारण मनुष्यों को तो यह नहीं पता कि " विद्या क्या है ?" अर्थात् वस्तुओं के छुपे हुए रहस्य क्या–क्या है? जो वस्तुएँ छुपी हुई हैं, वे वास्तव (असलियत) में वे क्या हैं? दिखाई तो वे दूसरे प्रकार से दे रही हैं और जैसे वे सामने आती हैं, वे और प्रकार की हैं। अब इन्हीं सब सत्यों का जो छुपा हुआ ज्ञान है, सबको स्पष्ट नहीं भासता। केवल सूक्ष्म ध्यान में ही इन सब सत्यों का सही ज्ञान होता है। इसी सब का नाम विद्या है। यह विद्या भगवान् के पास ही पूर्ण रूप से है। हम तो इतना ही जानते हैं कि प्रकृति की तरंगें हैं, जिसमें कहीं क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, नाना प्रकार के मान, इर्ष्या, जलन और अन्य विकार इत्यादि हैं। उन्हीं तरंगों के अनुसार बहने के लिये इच्छा व उसी ओर बह जाना और फिर कर्म करके जैसा भी सुख दुःख होगा वह पहले ही सब कुछ सामान्य जन को पता नहीं है अर्थात् साधारण जन को यह ज्ञान नहीं है कि प्रकृति की तरंगों काम (इच्छा) क्रोध आदि में बहते हुए कर्म करने से अन्त में क्या सुख दुःख होता है। यही सब अविद्या का राज्य है। भगवान् को सारा पहले से पता है कि "ऐसे कर्मों से भविष्य में क्या होगा," यह विद्या है। और ऐसी

कौन सी वस्तु है, जो इस ज्ञान (विद्या) पर ढक्कन डालने वाली है और ज्ञान को नहीं होने देती अर्थात् इसी का नाम अविद्या है, जिसको भी भगवान् पूर्ण रूप से जानता है। ये दोनों ही विद्या तथा अविद्या को जानना रूप (ऐश्वर्य) तो भगवान् के हैं और प्रकृति (आदतों की शक्ति) के अन्दर इन दोनों के बारे में अन्धकार है अर्थात् प्रकृति को इनका कुछ पता नहीं है। अविद्या उसके अन्दर स्वाभाविक है और ज्ञान को उसने ढका हुआ है। मनुष्य की इस बारे में समझ नहीं बन पाती। जब वह कुछ समझना भी चाहेगा, तब या तो प्रकृति निद्रा (नींद) ला देती है या प्रकृति के वही विकार काम (इच्छा) क्रोध इत्यादि आते हैं और मनुष्य को संसार में ही पटकते रहते हैं व कुछ अपने आप को समझने का अवसर (मौका) ही नहीं देते। वैसे ज्ञान तो सबके अन्दर है, जान (समझ) सब रहे हैं, परन्तु वह जानना इतना विकसित नहीं है कि समझने की वस्तु समझी जा सके, जिसको विद्या कहते हैं। जो अन्दर का सत्य इस विद्या को उत्पन्न नहीं होने देता, वह अविद्या रूप विघ्न है, जिसको भगवान् पूर्ण रीति से जानता है कि "यह अविद्या कहाँ तक फैली हुई है"?

४. भगवान् कर्म की गति और अगति को भी जानता है कि "क्या कर्म करता हुआ मनुष्य कहाँ पहुँचेगा ?" जैसे कि किसी से थोड़ा क्रोध आ गया और किसी ने हमारा अनादर करके दुःख दे दिया, तो मन के बीच में विष (जहर) भर जाता है। यह जहर तो प्रकृति ने दिया अर्थात् कुदरत ने मन के बीच में खड़ा कर दिया। अब यह जहर क्या क्या कर्म करवायेगा ? क्रोध चिढ़ आदि लाकर के सोचों में डालकर योजनाएँ बना करके किसी का क्या क्या बुरा करवायेगा? यदि इसका कोई सारा हिसाब लगा सके कि अन्त में इस जहर के दुःख से जिस स्थान पर पहुँचेगा, वह कोई उत्तम गति नहीं होगी और क्रोध, चिढ़ आदि जो भी कर्म करवायेंगे, उनका परिणाम अच्छा नहीं होगा अर्थात् शुभ फलदायक नहीं

होगा। यह सब ध्यान में देखना ही कर्म गति का ज्ञान है। इस कर्म गति को अन्तिम सिरे तक समझने वाला तो वह परमेश्वर (भगवान्) ही है। थोड़ी बहुत तो कर्म गति के बारे में जीव भी मनुष्य रूप में समझता है। परन्तु जितना वह थोड़े रूप में समझता है, तो समझो उतनी ही मनुष्य की बुद्धि कम विकसित (उन्नत) हुई है। वह परमेश्वर, जिसे भगवान् भी कहते हैं, शक्ति रूप से दोनों एक होते हुए, इस संसार के सारे विधान (कानून कायदों) को पूर्ण रीति से जानता है। यह सब जिसके अन्दर पूर्ण होता है, वह भगवान् है। वह भगवान् कर्म की गति और अगति को भी पूर्णतया जानता है कि "कहाँ क्या कर्म करके कहाँ पहुँचेगा और क्या कर्म करता हुआ इस संसार में आया है, जिससे कि यह फल पा रहा है, जिसमें तंगी क्लेश, दुःख व सुख सब सम्मलित (शामिल) है?" "क्या करके क्या बनेगा, क्या बना हुआ है, क्या करके आया है ?" इस प्रकार ये दोनों ऐश्वर्य भी उस भगवान् में पूर्ण होते हैं। उस भगवान् को छोटे से छोटे कर्म का भी परिणाम (नतीजा) व छोटी से छोटी घटना का भी कारण पता है। इस तरह ये भगवान् के चार ऐश्वर्य हो गये (१) विद्या को जानता है कि सच्चा ज्ञान क्या है (२) और अविद्या को भी जानता है कि इस सच्चे ज्ञान पर ढक्कन किसका पड़ा हुआ है। (३) कर्मों की गति भी जानता है कि "क्या करके कहाँ पहुँचेगा (४) और कर्मों की अगति को भी जानता है कि "क्या करके कहाँ से आया हुआ, क्या पा रहा है ?"

५. भगवान् (५) बन्धन (६) और मोक्ष को भी पूर्ण रीति से जानता है। बन्धन यही हैं, जो कि जीव को बाँधने वाले हैं अर्थात् न चाहते हुए भी बलपूर्वक (जबरदस्ती) उसके मन को उलझाये रखते हैं और इतना तंग करते हैं कि उन बन्धनों के कारण उस मनुष्य को सुख भी नहीं है, परन्तु बन्धन उसे छोड़ते भी नहीं हैं। अब यदि बँधा हुआ मनुष्य यह चाहे भी कि "मैं इन बन्धनों को छोड़ दूँ, तो वह छोड़ नहीं पाता" जब

मनुष्य छोड़ नहीं पाता, तभी बन्धन हैं। जैसे जेल में डाला गया मनुष्य और पिंजरे में बन्द पक्षी के वश की बात नहीं है कि "वे बाहर आ जायें" अर्थात् मुक्त हो जायें, जब तक ऐसी मुक्त होने की स्थिति न आ जाये। मनुष्य की इच्छा के विपरीत, जहाँ उसकी स्वाधीनता (आजादी) व सच्चा सुख है, वहाँ पहुँचने की सारी उसकी शक्ति कुंठित (खुण्डी) हो जाने का नाम ही बन्धन हैं।

६. भगवान् जानता है कि जीव के अन्दर कौन–कौन बन्धन है? और कौन–कौन शक्ति बन्धन करने वाली है? जैसे अविद्या, राग, द्वेष, संशय, मान, मोह इत्यादि इनके कई बार नाम आये हैं। मान लो, कोई सुख देने वाली वस्तु है, भले ही वह किसी प्राणी व पदार्थ की संगत से हो। जैसे ही उस वस्तु के सुख की याद आती है, तो बस! वही याद मन में बहनी आरम्भ हो जाती है। अब मन दूसरी जगह नहीं जाना चाहेगा और उसी याद में उलझा (बँधा) रहेगा यदि आप दूसरी ओर जाना भी चाहेंगे, तो वह राग का बन्धन आपको जाने नहीं देगा, कारण कि वह मन उस वस्तु के सुख पाने की प्रतीक्षा (इन्तजार) में बैठा हुआ है कि "कब वह सुख मिले"? जैसे कोई बीड़ी सिगरेट पीने वाला थोड़ी देर के लिये समझ के साथ, आदत की शक्ति के विपरीत, बीड़ी सिगरेट नहीं पीता है। ऐसी अवस्था में मन के अन्दर बीड़ी पीने की इच्छा उत्पन्न हो गई और उस बीड़ी पीने की याद आई कि "ओह! बीड़ी पीनी थी" परन्तु समझ वाला चेतन मन कहता है कि "ठहर जाओ, अभी बीड़ी नहीं पीते।" ऐसा मन का भाव बनने पर वह बीड़ी याद से नहीं उतरती और याद बीड़ी पीने की ओर ही बहती रहती है, यही राग बन्धन है। कारण कि बीड़ी पीने में उसने सुख माना हुआ है और बार–बार बहुत समय तक बीड़ी पीने से उसकी एक आदत बन गई अर्थात् स्वभाव बन गया। यदि उस काम (इच्छा) की आग को आप रोकेंगे, तो आपका कहीं भी मन नहीं लगेगा। ऐसी मन न लगने की

अवस्था में किसी से आप ठीक बोल भी नहीं पायेंगे, न ही पुस्तक ठीक पढ़ सकेंगे और ध्यान भी नहीं कर सकेंगे। जब किसी कार्य (कर्म) में मन नहीं लगे, तो समझो कि "मन कहीं बाहर बँधा हुआ है"। इसी तरह, मान लो, किसी ने आपको थोड़ा दुःख दे दिया अर्थात् जिससे आपको थोड़ा दुःख हुआ है, उसकी भी सोच मन से नहीं उतरती और उसी के बारे में चिढ़ तथा क्रोध भी रहता है, तो यही द्वेष बन्धन है। इसी प्रकार मनुष्य "मान" में भी बँध जाता है। जैसे कि थोड़ा सा किसी ने अनादर (तिरस्कार) कर दिया उसे जैसा आदर मान मिलना चाहिये था, वैसा मान व आदर नहीं मिला, तो बस, मनुष्य का मस्तिष्क (दिमाग) विकृत (खराब) हो जाता है और अपने मन में वह मनुष्य दुःख का अनुभव करता है। मान (आदर) न मिलने की उलझन के कारण से वह मनुष्य सोचों में पड़ा रहता है और उसको खाना भी अच्छा नहीं लगता है। जैसे एक प्रोफेसर साहब (प्राध्यापक) थे। कालेज के छात्रों ने उनसे न पढ़ने का प्रदर्शन कर दिया अर्थात् जलूस निकाल दिया कि यह प्राध्यापक हमारे ढँग से ठीक नहीं है, इनको कालेज से निकाल दो। वह प्राध्यापक सज्जन स्वभाव का और समाज में आदर मान (इज्जत) वाला मनुष्य था। वह किसी महात्मा को अपनी घटना सुना रहा था कि "देखो जी ! घर में अच्छे स्वादिष्ट भोजन, बाल बच्चे सब आज्ञाकारी (कहने के अनुसार कार्य करने वाले) और घर में किसी वस्तु की भी कमी न होते हुए भी, उन छात्रों के द्वारा अनादर पाने के कारण मुझे घर में बैठना भी अच्छा नहीं लग रहा है। रात को निद्रा (नींद) भी नहीं आती और यहाँ तक की खाना भी मनको नहीं भाया।" उस महात्मा जी ने उस प्राध्यापक को समझाया कि घर में सब कुछ होते हुए कुछ भी अच्छा न लगना केवल आप के मन की उलझन के कारण से था, जो कि "मान" बन्धन के कारण से ऐसी अवस्था में बँधा हुआ था व चाह रहा था कि छात्रों द्वारा उसका तिरस्कार ऐसा

नहीं किया जाना चाहिये था। संसार में आदर मान एक जैसा किसी का भी सदा बना नहीं रहता है। तो यह बँधा हुआ मन थोड़ा सा तिरस्कार पाने से, उपयुक्त मान–आदर न मिलने से, जिससे सुखवाली "मैं" प्राप्त होती थी, सब प्रकार के सुखों को भी कुछ नहीं समझ रहा है और उनका सुख भी उसके लिये कुछ नहीं है। ऐसी अवस्था में यदि वही आदर मान से मिली सुख वाली "मैं" प्राप्त हो जाये, तो ठीक हैं, नहीं तो उसके लिये कुछ अच्छा नहीं है। वह "मैं" भीतर ही भीतर आदर मान न मिलने से रोती और तड़पती रहती है और कहीं पर भी मन नहीं लगने देती, कारण कि वह "मैं" टूटी हुई और भंग अवस्था में है। यही सब "मान" बन्धन है।

७. ऐसे ही मन कहीं संशयों में पड़ जाता है कि "पता नहीं क्या हो जायेगा, कहीं ऐसा न हो कि हमारा सुख ही बिगड़ जाये और दुःख ही आ पड़े, भले ही आया अभी कुछ भी नहीं है"? जैसे बाहर कहीं से किसी की आवाज आ गई और वह पहचानी नहीं गई तो संशय वाला मन सोचता है कि "पता नहीं, मेरी ओर ही कोई मेरा बुरा करने वाला आ रहा है।" ये सारे संशय राग, द्वेष, मान व मोह इत्यादि सब बन्धन हैं और अन्त में सब से बड़ा बन्धन अविद्या का है। अविद्या क्या है? अविद्या यही है कि सत्य की खबर नहीं पड़ रही है, उसी को जानने की झोंक अर्थात् लपक (झुकाव) यही अविद्या का स्वरूप है। सदा सुख व आनन्द रूप और ज्ञान स्वरूप अपनी आत्मा है। यह ढका रहने के कारण से, सदा बना रहने वाला सुख स्वरूप आत्मा जो है, उसी को जानने अर्थात् उसके ज्ञान के लिये लपक (झोंक) ही अविद्या है यह लपक तब तक बनी रहती है, जब तक नित्य सुख स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार करने में न आ जाये। और मन या जीव संसार के सुखों की ओर ही झुका–झुका उन्हीं के बारे में जानने या समझने के लिये अग्रसर बना रहे। यही अज्ञान अवस्था अर्थात्

समझने का झुकाव होने पर भी जब तक पूर्ण सत्य की अर्थात् आनन्द रूप अपनी आत्मा की समझ नहीं होती, तब तक यही अविद्या का ढककन समझना चाहिये। यह सारा जितना जाल है, यह अविद्या आदि बन्धन का है। यह सब मनुष्य के मन में होता है। तो यह बन्धन जाल भगवान् पूरी रीति से जानता है कि "कहाँ तक बन्धन गहराई में पड़े हुये हैं, और कहाँ तक इनकी बारीक से बारीक शाखाएँ व फैलाव हैं, जहाँ से ये बन्धन आरम्भ होते हैं, उसका स्थान भी भगवान् को पता है"। इन बन्धनों से छूटने का नाम ही मोक्ष है। जैसे जेल (कारागार) से कोई मनुष्य छूट गया, मुक्ति पा गया या जब पिंजरे से पक्षी को निकाल दिया, तो उनको कितना अधिक सुख अनुभव (महसूस) करने में आता है। इसी प्रकार बन्धनों से बँधा हुआ मन जिस समय मुक्त होगा अर्थात् छुट्टी पायेगा तो वह मन बड़ा हल्का होगा। इस हल्के हुए मन में सुख अपनी आत्मा का ही होगा। यह सब भी पहले जानने वाला वही परमात्मा (परमेश्वर) है, जिसे हम भगवान् कहते हैं। इस प्रकार (१) विद्या (२) अविद्या को जानना (३) कर्म की गति (४) और कर्म की अगति को जानना (५) बन्धनों को जानना (६) और उनसे पूर्णतया मोक्ष (छुटकारा) को भी जानना व प्राप्त करना ये छः ऐश्वर्य उस भगवान् के हैं।

८. ये सारे जितने बन्धन हैं, इसी प्रकृति के अन्दर है। परन्तु साधारण जन इनको नहीं जानता और इनसे चलायमान होकर के इन्हीं की दासता करता रहता है। जिधर ये बन्धन ले जाते हैं और जैसा कर्म करवाते हैं, साधारण जन को विवश (लाचार) होकर कैदी की तरह वैसा ही करना पड़ता है, कारण यह है कि वह बन्धनों में बँधा (जकड़ा) हुआ है।

९. मनुष्य का जीवन पाँच स्थानों पर टिका हुआ है अर्थात् (१) देह (शरीर) (२) इन्द्रियाँ (३) मन (४) बुद्धि और (५) सुख दुःख की वेदनाएँ अर्थात् सुख दुःख का महसूस होना। प्रकृति (आदतों की शक्ति) देह, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि को

अपने मार्ग से ही सुख प्राप्त करने व दुःख से टलने के लिये चलाती है व अपनी दासता करवाती रहती है। वह केवल परमेश्वर (भगवान्) ही था कि किसी सृष्टि में अपने ढंग से न जाने, अपने आपको, किस प्रकार से प्रकट किया और इस प्रकृति को सिरे तक जानकर के पाँचों को सुधार करके इस प्रकृति पर पूर्ण काबू पाकर के एक उदाहरण संसार को दिखला दिया कि "प्रकृति के बन्धन से मुक्त पुरूष कैसा होता है ?" ये वेद शास्त्र आदि सब उससे चले हुए हैं। ये भगवान् के छः ऐश्वर्य मनुष्य को थोड़े-थोड़े अपने अन्दर बसाने पड़ेंगे। तभी ऐसा करने पर यह भगवान् की भक्ति होगी। इसका तात्पर्य यह है कि प्रकृति के उपर काबू पाकर के और उसके चंगुल से छूटने के लिये, जो तंगी (क्लेश) या दुःख है, उसको सहन करते हुए, इन्हीं ऐश्वर्यों को जितना-जितना मनुष्य अपने अन्दर बढ़ा लेगा, वही भगवान् की भक्ति होगी और वही इसका परमपद है। यदि यह नहीं हो पाया, तो प्रकृति अपने ही मार्ग से ले जायेगी। यदि आपने प्रकृति का थोड़ा विरोध करना सीख लिया, जिसमें थोड़ी तंगी व क्लेश अवश्य है, तो समझो आपको बन्धनों से मुक्ति (छुटकारे) का मार्ग मिलना आरम्भ हो गया। फिर आप समझ सकते हैं कि हमारा ज्ञान उन्नत हो करके एक दिन वह सत्य वस्तु पायेगा, जो कि इस जीवन में पाने योग्य है। यदि इस प्रकृति का विरोध (मुकाबला) करना आपने नहीं सीखा और उसके विरोध के लिये बल प्राप्त नहीं किया, तो यह प्रकृति जैसे और जीवों के अन्दर अपनी धारा बहाती व कर्म करवाती हुई जा रही है, आपसे भी वैसे ही कर्म करवायेगी, जो अन्तिम कल्याण (भलाई) के लिये नहीं होंगे।

१०. यह सारा जितना जाल इस जीव का है, प्रकृति के साथ है। इसके विरोध का मार्ग यही है कि सबसे पहले अपने छोटे मोटे बाहर के कर्म सुधारने का यत्न करे और चोरी, झूठ दुराचार आदि से थोड़ा बचे। प्रकृति सबसे पहले देह

को खोटे कर्म करवाने की ओर प्रेरित करती है। प्रकृति का विरोध करने पर मन का आदतों का सुख भी विगड़ता है। इससे सबसे पहले अपने अन्दर भगवान् के मार्ग पर चलने वाली शक्ति आयेगी। बाहर थोड़े खोटे कर्मों से बचते गये, तो धीरे–धीरे वही मन बारीक होते–होते अपने अन्दर थोड़ा अपने को काबू करने चल पड़ेगा। थोड़ा सन्तोष भी धारण करेगा और खाने पीने व सुख की वस्तुओं में लोभ भी रोकेगा, कारण कि जिस वस्तु में सुख मालूम होता है, उसी को पूरा करने की इच्छा बड़ी मीठी लगती है। जब सुख की इच्छा अनुचित (नाजायज) रूप से बढ़ने लगती है, तो उस बढ़ी हुई इच्छा का नाम लोभ होता है। यदि इस लोभ को आपने बार–बार पूरा कर दिया, तो यह तृष्णा की सीमा तक पहुँच जाता है। इन सब शब्दों के अर्थों को जानना व पहचानना विद्या का स्वरूप है।

११. प्रकृति ने तो सारा अविद्या का जाल फैला रखा है। अब यदि इसी में मनुष्य बहता रहा, तो फिर उसी प्रकृति के ही कर्म होंगे। इस संसार में कर्म गति भी उसकी है। जहाँ उस प्रकृति ने ले जाना है, वहाँ पर ही वह ले जायेगी। यदि मेरे अन्दर कोई भय (डर) का भाव है, तो उस भाव ने अपने ही ढँग की आकृति (शक्ल) बनानी है। जैसे कई बार दृष्टान्त दिया है। मान लो, कोई चोर है। उसने कहीं पर चोरी की। चोरी करने के बाद उसके अन्दर मन में यह भाव भी छुपा हुआ बस रहा था कि मुझे किसी ने चोरी करते हुए देखा तो है नहीं। इसलिये निडर होकर वह सो गया। उसके अन्दर यह भाव भी छुपा हुआ था कि यदि मुझे किसी ने चोरी करते हुए देख लिया होगा, तो मेरी दुर्गति होगी। उस भाव को लेकर ही वह निद्रा (नींद) में चला गया। वह भाव प्रकृति का था। सोते ही उसको स्वप्न आया कि "एक ऐसी सृष्टि है, जिसमें वह भाग रहा है। चारों तरफ से मनुष्य उसके पीछे पड़े हुए हैं और बोल रहे हैं कि इसे 'पकड़ो रे पकड़ो।'

अन्त में उन्होंने उसको पकड़ ही लिया और घसीटते हुए उसके ऊपर मार पीट कर रहे है।" "तो देखो। इतनी देर में यह चोरी करने वाला यह सृष्टि देख आया"। इतने में उसकी आँख खुल गई, तो बहुत देर तक उस स्वप्न की सृष्टि का भय ही नहीं दूर हुआ। उसके कर्मों ने ही यह सारा खेल उसको दिखलाया है। उस चोरी करने के कर्म के अनुसार ही उसके अन्दर भाव बैठा था, जिसने उसको बाँध रखा था और उसी प्रकृति के भाव ने आगे निद्रा में अर्थात् स्वप्न अवस्था में सृष्टि खड़ी कर दी। यह सब हमारे आपके वश की बात नहीं है। यह सब उस प्रकृति के विधान के अनुसार होता है। यदि उसके विधान को हमने समझ लिया, तो समझो पूरी विद्या अपने अन्दर आ गई। उसके अनुसार उसके बन्धन को समझ करके यदि हमने मुक्ति का मार्ग तय कर लिया, तो हम मुक्त भी हो गये। यदि प्रकृति (आदतों की शक्ति) ने अपने ढँग से ही कर्म करवाया है,तो उसने उसका फल देना ही है। यदि खोटा कर्म किया है तो उसका भाव भी बनना है। कारण कि कर्म अकेले में नहीं किया है, इस लम्बे चौड़े व्यापक संसार में कर्म किया है, तो उसके विधान के अनुसार फल भी भुगतना पड़ेगा। शास्त्रों में ब्रह्म नाम व्यापक का है और विधि विधान भी इसी का नाम है। किये हुए कर्म के अनुसार उसके संस्कार रूप (छापें) जिसे चित्रगुप्त भी कहते है, अन्दर बैंठ गये हैं। सृष्टि तो उस चित्रगुप्त ने पैदा करनी है। वह जरा सी आँख बन्द करते ही निद्रा में और इस जीवन के बाद मृत्यु में अपनी सृष्टि जैसी भी अन्दर भर्ती की हुई है, उसी के अनुसार खड़ी कर देता है और मनुष्य की इसमें कुछ नहीं चलती। यह सब खेल प्रकृति के भाव के अनुसार खड़ा होता है। उसने निद्रा में स्वप्न दिखला दिया और मृत्यु के बाद आगे जन्म दिखला देगी। उस प्रकृति ने कहीं नहीं जाना है, वह तो

को खोटे कर्म करवाने की ओर प्रेरित करती है। प्रकृति का विरोध करने पर मन का आदतों का सुख भी विगड़ता है। इससे सबसे पहले अपने अन्दर भगवान् के मार्ग पर चलने वाली शक्ति आयेगी। बाहर थोड़े खोटे कर्मों से बचते गये, तो धीरे-धीरे वही मन बारीक होते-होते अपने अन्दर थोड़ा अपने को काबू करने चल पड़ेगा। थोड़ा सन्तोष भी धारण करेगा और खाने पीने व सुख की वस्तुओं में लोभ भी रोकेगा, कारण कि जिस वस्तु में सुख मालूम होता है, उसी को पूरा करने की इच्छा बड़ी मीठी लगती है। जब सुख की इच्छा अनुचित (नाजायज) रूप से बढ़ने लगती है, तो उस बढ़ी हुई इच्छा का नाम लोभ होता है। यदि इस लोभ को आपने बार-बार पूरा कर दिया, तो यह तृष्णा की सीमा तक पहुँच जाता है। इन सब शब्दों के अर्थों को जानना व पहचानना विद्या का स्वरूप है।

११. प्रकृति ने तो सारा अविद्या का जाल फैला रखा है। अब यदि इसी में मनुष्य बहता रहा, तो फिर उसी प्रकृति के ही कर्म होंगे। इस संसार में कर्म गति भी उसकी है। जहाँ उस प्रकृति ने ले जाना है, वहाँ पर ही वह ले जायेगी। यदि मेरे अन्दर कोई भय (डर) का भाव है, तो उस भाव ने अपने ही ढँग की आकृति (शक्ल) बनानी है। जैसे कई बार दृष्टान्त दिया है। मान लो, कोई चोर है। उसने कहीं पर चोरी की। चोरी करने के बाद उसके अन्दर मन में यह भाव भी छुपा हुआ बस रहा था कि मुझे किसी ने चोरी करते हुए देखा तो है नहीं। इसलिये निडर होकर वह सो गया। उसके अन्दर यह भाव भी छुपा हुआ था कि यदि मुझे किसी ने चोरी करते हुए देख लिया होगा, तो मेरी दुर्गति होगी। उस भाव को लेकर ही वह निद्रा (नींद) में चला गया। वह भाव प्रकृति का था। सोते ही उसको स्वप्न आया कि "एक ऐसी सृष्टि है, जिसमें वह भाग रहा है। चारों तरफ से मनुष्य उसके पीछे पड़े हुए हैं और बोल रहे हैं कि इसे 'पकड़ो रे पकड़ो।'

अन्त में उन्होंने उसको पकड़ ही लिया और घसीटते हुए उसके ऊपर मार पीट कर रहे है।" "तो देखो ! इतनी देर में यह चोरी करने वाला यह सृष्टि देख आया"। इतने में उसकी आँख खुल गई, तो बहुत देर तक उस स्वप्न की सृष्टि का भय ही नहीं दूर हुआ। उसके कर्मों ने ही यह सारा खेल उसको दिखलाया है। उस चोरी करने के कर्म के अनुसार ही उसके अन्दर भाव बैठा था, जिसने उसको बाँध रखा था और उसी प्रकृति के भाव ने आगे निद्रा में अर्थात् स्वप्न अवस्था में सृष्टि खड़ी कर दी। यह सब हमारे आपके वश की बात नहीं है। यह सब उस प्रकृति के विधान के अनुसार होता है। यदि उसके विधान को हमने समझ लिया, तो समझो पूरी विद्या अपने अन्दर आ गई। उसके अनुसार उसके बन्धन को समझ करके यदि हमने मुक्ति का मार्ग तय कर लिया, तो हम मुक्त भी हो गये। यदि प्रकृति (आदतों की शक्ति) ने अपने ढँग से ही कर्म करवाया है,तो उसने उसका फल देना ही है। यदि खोटा कर्म किया है तो उसका भाव भी बनना है। कारण कि कर्म अकेले में नहीं किया है, इस लम्बे चौड़े व्यापक संसार में कर्म किया है, तो उसके विधान के अनुसार फल भी भुगतना पड़ेगा। शास्त्रों में ब्रह्म नाम व्यापक का है और विधि विधान भी इसी का नाम है। किये हुए कर्म के अनुसार उसके संस्कार रूप (छापें) जिसे चित्रगुप्त भी कहते है, अन्दर बैंठ गये हैं। सृष्टि तो उस चित्रगुप्त ने पैदा करनी है। वह जरा सी आँख बन्द करते ही निद्रा में और इस जीवन के बाद मृत्यु में अपनी सृष्टि जैसी भी अन्दर भर्ती की हुई है, उसी के अनुसार खड़ी कर देता है और मनुष्य की इसमें कुछ नहीं चलती। यह सब खेल प्रकृति के भाव के अनुसार खड़ा होता है। उसने निद्रा में स्वप्न दिखला दिया और मृत्यु के बाद आगे जन्म दिखला देगी। उस प्रकृति ने कहीं नहीं जाना है, वह तो

विश्व व्यापक शक्ति है वह प्रकृति शक्ति तो सारे संसार की एक है और वह तेरी मेरी नहीं है।

१२. इन ऊपर कहे हुए पाँचों ठिकानों (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि व सुख दुःख की बेदना) पर प्रकृति राज्य कर रही है। पहले सुख दुःख दिखला करके वह बाँधती है। प्रकृति सुख दिखला करके कहती है कि "यही होना चाहिये" और दुःख दिखला करके कहती है कि "यह नही होना चाहिये"। इन्हीं सुख दुःख के अनुसार उसने राग–द्वेष पैदा कर दिये और काम (इच्छा) और क्रोध पैदा करती है। काम (इच्छा) क्रोध आदि को उत्पन्न करने के बाद बिना परिणाम (नतीजा) सोचे व समझे, वैसे ही कर्म करवाती है बिना परिणाम जाने ही कर्म करना अविद्या का खेल है। भगवान् तो जानता है कि "यह अविद्या है और इसको समाप्त (खत्म) करना है। भगवान् का भक्त भी इस अविद्या को जानता है और अपने अन्दर विद्या पैदा करता है।

१३. केवल ध्यान में ही पता चलता है कि "जो अन्दर ज्ञानरूप आत्मा है, वह कभी मरता नहीं है। जैसे मनुष्य के निद्रा में चले जाने पर भी उसका ज्ञान स्वरूप आत्मा सोता नहीं, निद्रा के सुख का अनुभव करता रहता है, तो मरने पर मरेगा भी कैसे ? यह मनुष्य यहाँ सो गया और स्वप्न के अन्दर आगे सृष्टि में कोई खेल देख रहा है। शरीर भी दूसरा है, यह शरीर तो सोया पड़ा है अर्थात् मुर्दे के समान पड़ा हुआ है, उसने दूसरा शरीर रच लिया। यह अन्दर का विधान इतना बारीक व गम्भीर है कि साधारण मनुष्य को इसकी कुछ समझ ही नहीं, यही अविद्या है। इसका इतना पक्का बल है कि साधारण जन इसको जीत नहीं सकता। आपने विद्या प्राप्त करके अविद्या टालनी है। प्रकृति के बन्धन को हटा करके मोक्ष (छुटकारा) प्राप्त करना है। कर्मों की गति को जानना है और जान करके अपने आपको सही रूप से प्रेरित करके मोक्ष के मार्ग पर चलाना है न किं जैसी

प्रकृति कर्म करवाती है वैसे कर्म करके दुर्गति को प्राप्त होना। इसके लिये थोड़ा ध्यान भी करना है। ध्यान करने के लिये बाहर से मन को समेटना है, जिसके लिये प्रकृति का विरोध भी करना पड़ेगा। प्रकृति कहती है कि "मैंने तो संसार को बाहर ही फैलाया है। जैसे बीज से फल बनेगा, फिर फल में बीज पैदा होगा, इससे आगे फल प्राप्त होंगे। वह प्रकृति तो कहती है कि "मैंने तो संसार को फैलाना ही सीखा है।" मेरे अन्दर तो एक ही विधान है कि "संसार में फैल कर बाहर ही बाहर जाओ"। "मैं तो फैलाव ही जानती हूँ, अन्दर या आत्मा की ओर आना मुझे पता नहीं है।" प्रकृति का अन्दर आने का तात्पर्य (मतलब) निद्रा (नींद) है। बस। यही दो तृष्णाएँ है। एक भव तृष्णा है, जिसमें प्रकृति को बाहर फैलना है, तो वही राग, द्वेष, काम (इच्छा), क्रोध, मान मोह और दूसरों के बीच में उलझना आदि उत्पन्न करने हैं। भव का नाम " होना" है अर्थात् दूसरों के बीच में मित्र, शत्रु बुद्धिमान या भला बनना आदि कुछ भी होना या बनना है। दूसरी जो विभव तृष्णा है उसमें बाहर संसार में फैलते हुए राग द्वेष आदि से थकान महसूस होने पर मन आलस्य सुस्ती की ओर झुकता है। और अन्त में निद्रा में चला जाता है। इसको उसी में सुख प्राप्त होता है, जहाँ अन्धकार है। यही विभव तृष्णा है। ये भव विभव तृष्णा रूप दो ही इस प्रकृति के मार्ग (रास्ते) हैं। इन दोनों प्रकृति के मार्गों (रास्तों) पर जो मनुष्य काबू पाना चाहे, तो पहले दुःख में जीना सीखे। इसलिये जितने कर्म प्रकृति करवाना चाहती है, उन कर्मों को समझ के साथ रोक रोक कर करने की आदत डाले व उसका दुःख सहन करने में वीर्य (हिम्मत) व धैर्य (धीरज) भी रखे। तिल–तिल जितना इसका (प्रकृति शक्ति का) विरोध करके शक्ति (बल) प्राप्त करे जो धीरे–धीरे प्राप्त होगा। जैसे पहलवान व्यायाम (कसरत) करके शरीर में बल प्राप्त करता है, इसी प्रकार यह मन का व्यायाम (कसरत) व बल धीरे–धीरे

प्राप्त किया जायेगा। यदि आप प्रकृति का विरोध करना नहीं सीखेंगे, तो यह उतावलापन लाकर के बुद्धि को भी भ्रष्ट कर देती है। आपने ज्यादा तेजी भी नहीं करनी है। जैसे गीता में लिखा है कि "युक्त आहार विहार होना चाहिये" अर्थात् खाने पीने व सोने में युक्ति–युक्त व प्रत्येक प्रकार की चेष्टाओं में भी युक्ति–युक्त होना चाहिये। जब ज्यादा तनाव प्रकृति का विरोध करने पर होने लगे, जिससे बुद्धि कार्य करना छोड़ दे, तो इतना ज्यादा भी इस प्रकृति का विरोध करना ठीक नहीं है। उस समय थोड़ा नर्म भी होना ही उचित है। परन्तु जिस समय यह मन ज्यादा सुख की ओर बढ़ने लगे, तो उस समय इस मन का थोड़ा विरोध करने में कोई हानि नहीं हैं। मनुष्य को चाहिये कि अपने कल्याण के लिये प्रकृति का विरोध करना सीख ले, जो थोड़ा तंगी के साथ होता है। इससे थोड़ा बल प्राप्त करके अपने को इस प्रकृति के बन्धन से मुक्त करने का यत्न (कोशिश) करता रहे, यही मोक्ष का मार्ग है। यदि इस प्रकार वह (कोई साधक) करता गया, तो यह भगवद्–भक्ति ठीक रहेगी और इसी में जीवन की भी सफलता है। मनुष्य जन्म में यही एक विशेष वस्तु बुद्धि रूप हीरा जो मिला है और इससे वह समझ सकता है कि "सत्य क्या है और मनुष्य इस प्रकृति के मार्ग से कहाँ जा रहा है?" प्रकृति की प्रेरणा से चलने का ज्ञान तो सब जीवों को ही है।

१३. इस संसार में तो बाहर प्रकृति का सारा राज्य है। इसके बीच में रहते हुए ज्ञान को जगाकर यह समझना है कि " यह जीवन किधर जा रहा है, अन्त में क्या होगा और कहाँ से यह जीवन मिला है ?" इसी प्रकृति के ही सारे बन्धन है, जो दुःख रूप होते हैं और सुख दिखला करके अन्त में दुःख में ले जाकर पटक देते हैं, थोड़े से मिथ्या सुख से बाँधे रखते है। इन सब बन्धनों को पहचानकर तंगी (क्लेश) सहन करते हुए भी इनसे निकलना है। यह सब साधन भगवान् के मार्ग

(रास्ते) पर चलने वाला ही करेगा। मनुष्य अपनी समझ (ज्ञान) को इतना जगाये कि वास्तविकता (असलियत) को जान जाये, इसी जानने का नाम विद्या है।

१४. जैसे कोई मनुष्य रोगी या बूढ़ा है। ऐसी अवस्था में, किसी के द्वारा स्वादिष्ट भोजन देने पर तृष्णा तो बहुत ज्यादा खिलाना चाहेगी। परन्तु बृद्ध (बूढ़ा) तथा रोगी होने के कारण उस भोजन का दसवाँ भाग लेना ही हितकर (भलाई का) है, लेकिन उससे काम (इच्छा) वाला मन तृप्त नहीं होगा। ऐसी अवस्था में यदि प्रकृति (आदतों की शक्ति) की सुने, तो मन की बात ज्यादा खाने की माननी पड़ेगी, जो कि वृद्धावस्था में रोग को ज्यादा बढ़ायेगी। यदि मन की बात नहीं मानते है, तो तंगी तो अवश्य होती है कि रूचि की मिली हुई वस्तु को छोड़ रहे हैं। ऐसी अवस्था में, जो स्वादिष्ट भोजन का छोड़ना है, यदि वह छोड़ सका, तो समझो, वह भगवान् का आज्ञाकारी सेवक हो गया, और प्रकृति का विरोध भी कर सकेगा और विरोध की तंगी को भी सहन कर सकेगा। तंगी सहन करते करते अन्त में सूक्ष्म प्रकृति के बन्धन से भी मुक्त हो जायेगा। अपने अन्दर ज्ञान तो केवल मनुष्य ही जगा सकता है, कारण कि भगवान् ने बुद्धि केवल मनुष्य को ही प्रदान की है।

१५. संसार में सारा जीवन सुख के सहारे बँधा हुआ है। बचपन से लेकर मनुष्य ने जितनी भी योजनाएँ आदि अब तक बनाई है, वे सब इस सुख को प्राप्त करने के लिये ही हैं। इस सुख को जो विघ्न में डालता है वह शत्रु जैसा प्रतीत होता है। सुख का न मिलना ही प्रतिकूल होने के कारण से दुःख रूप से अनुभव में आता है। इस दुःख से बचने के लिये लड़ना, झगड़ना, झूठ, चोरी करना आदि सब मिथ्या कर्म होते हैं। यदि आप अपनी समझ से इन मिथ्या कर्मों के बुरे परिणाम नहीं जानते, तो पहले थोड़ा सा श्रद्धा रखते हुए आप चलना सीखे। श्रद्धा से ही चोरी, झूठ, दुराचार आदि

से अवश्य बचें और व्यर्थ लोभ लालच व ज्यादा वस्तुएँ इकट्ठी करने के चक्कर में न रहें। इनके बाद शौच (शुद्धि या पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियम है। थोड़ी सी शरीर व मन की शौच (पवित्रता) रखने की कोशिश करें। जब यह संसार में बहने वाला मन संसार की वस्तुओं की ज्यादा सोचता है, तो यह अपवित्र मन है। उस अपवित्र मन से जितना थोड़ा लौटने के लिये आप सोचेंगे, यही पवित्रता है। बाहर का सारा सुख मलीन, मैला अर्थात् गन्दा है, भले वह सुख खाने पीने व किसी की संगत का हो। इनको अत्यन्त तो मन नही छोड़ सकता, परन्तु थोड़े में सन्तोष कर ले, लोभी न बने। शौच का अर्थ पवित्रता और सन्तोष का अर्थ लोभ से उल्टा है। लोभ को छोड़ने से मन का तंगी रूप तप अवश्य होगा। इससे आपको समझने का अवसर मिलेगा कि "मन किधर जा रहा था, जिधर जा रहा था, उसका क्या परिणाम (नतीजा) होगा ?" इसी का नाम स्वाध्याय है। इस स्वाध्याय को करते–करते ध्यान इतना बढ़ने लगेगा कि परमेश्वर के मार्ग (रास्ता) की बारीकियों को मन समझने लग जायेगा अर्थात् जो हमने बाहर कर्म किये है, उनसे क्या भाव पैदा होते हैं और उन भावों का बन्धन कितना बारीक है? मन को बहुत बारीकी में ले जाकर उस वस्तु का सुख दिखलाकर, हमको ये बन्धन अन्धा बना देते हैं। यदि उस बारीकी तक हम जागते रहे, तो इनको देखते–देखते ही हम टाल सकते हैं।

१६. किसी वस्तु को देखकर मन में इच्छा जाग गई और मन उस वस्तु को पाने की इन्तजार में बैठा है। यदि इस इच्छा को विदा करने में दुःख भी प्रतीत होता है, तो अपना भला चाहने वाला उस इच्छा को छोड़ दे। इच्छा छोड़ने में अभी दुःख मालूम हो रहा है कारण कि अभी मुक्ति का सुख नहीं मिला है। अब यदि जागते–जागते ज्ञान जगाकर और इच्छा पूर्ति करते रहने के अन्त में होने वाले दुःख को ज्ञान

दृष्टि द्वारा देखकर इस इच्छा को टाल दिया, तो उसको मन के बीच में समय पाकर ठण्डक मिल जायेगी। ऐसी ठण्डक मिलने पर, समझो, उसने मुक्ति का सुख देख लिया। इसी प्रकार मान न मिलने का दुःख भी अन्दर मरोड़ पैदा कर देता है और एकान्त में उसी की याद करता हुआ जलता रहता है। ऐसी अवस्था में, यदि वह यह सोचे कि "उस मान के दुःख की याद करने से वह बढ़ता ही जा रहा है व उस मनुष्य का, जिसने अपमान किया है, कुछ बिगाड़ (हानि) तो कर सकता नहीं, तो अपने मन में आग जलाने की क्या आवश्यकता है।" "मैं अकेला हूँ और इस अपमान की आग से होने वाला, जो दुःख है, उसको यदि मैं अपने अन्दर सहन करने की कोशिश करूँ, तो दुःख सहन करने की आदत पड़ जायेगी, और वह दुःख भी धीरे-धीरे टल जायेगा।" जैसे अंग कटने का, जलने का व रोग बीमारी आदि का दुःख भी सहन करना पड़ता है और समय पर उनके दुःख समाप्त हो जाते हैं। अतः कोई भी दुःख हो, उसको समझ के साथ जागते-जागते समाप्त (खत्म) कर देना ही हितकर है। जैसे खुजली होने पर वह दुःख अवश्य देती है। मनुष्य यदि खुजली न भी करे, तो देखते-देखते और सहन करते-करते उसकी खुजली तो मिट ही जायेगी। इसी प्रकार मन की खुजली के रूप में, भले ही अपमान, राग, द्वेष आदि का दुःख हो, आपने उस दुःख की अवस्था में प्रकृति के अनुसार नहीं चलना है। ऐसी अवस्था में वह प्रकृति तनाव पैदा कर रही है, जो तंगी और क्लेश रूप है और अनर्थ की ओर ले जाने के लिये दूसरों के संग उलझने के लिये प्रेरित करती रहती है, जिसका दुःख बाहर के ढँग से कभी भी समाप्त नहीं होता। जितनी देर तक तंगी क्लेश बना रहता है, उतने समय तक यदि वह साक्षी भाव से जागता रहा और उस तंगी क्लेश को खुजली के दुःख की तरह देखता रहा, तो तंगी क्लेश का दुःख ज्यादा देर तक नहीं टिका (बना) रहेगा। ऐसी अवस्था में तंगी क्लेश

का दुःख समाप्त होने पर व उनके टलने से थोड़ा सुख होने पर निद्रा भी आने लगेगी। यदि आपने ऐसे समय में निद्रा के सुख का भी आदर नहीं किया और शान्त रह कर निद्रा को भी देखते–देखते अर्थात् साक्षी रूप से ध्यान में स्थिर रह कर टाल दिया, तो आपको परमानन्द का सुख प्राप्त होगा और आपको शंकर की समाधि मिलेगी, जिसका नाम है "शान्त होने का स्थान" जो अपने आप को शान्त कर ले, उसका नाम शंकर है। शम्भु का अर्थ है कि "जो शान्त हो गया।" इस प्रकार अपमान व निद्रा न लेने का दुःख अन्त में जाकर के अपने आप में शान्त हो जायेगा। निद्रा का सुख तो मुर्दे का है अर्थात् अज्ञान, अविद्या का है। परन्तु यह जो जागते–जागते आपको शान्ति मिलेगी, यह समाधि का सुख है। यह शंकर की शान्ति, ज्ञान समाधि रूप होती है, उसका सुख अन्त में यही है कि वह दोष व बन्धन विकारों के आते ही समझ के साथ उनको तुरन्त समाप्त कर देता है। यदि ऐसा होने लग गया, तो समझो, विद्या आपकी बहुत निकट से जाग गई। इस विद्या के जागने पर अविद्या टल जायेगी और प्रकृति का सारा जाल अधिक समय तक नहीं टिक पायेगा अर्थात् नष्ट हो जायेगा।

१७. अपने जीवन को उन्नत करने के लिये प्रकृति का प्रतिरोध (मुकाबला) करना पड़ेगा, कारण कि प्रकृति का विरोध करने से मन दुःख क्लेश में रहेगा। प्रतिरोध का तात्पर्य(मतलब) है कि प्रकृति शक्ति के बराबर अपना ज्ञान जगाकर उसके बल को विफल करना है। ज्ञान का बल रखकर प्रकृति की दिशा में जाना तो उचित नहीं है। इस तरह से अपनी बुद्धि को जगाना और मन के भावों को पवित्र करना, इन्द्रियों को भी रोकना, शरीर को काबू में रखना, थोड़ी सुख की दासता भी त्याग देना (छोड़ँना) और दुःख से भी ज्यादा नहीं डरना है। जब इन पाँच ठिकानों पर प्रकृति बाँधने लगे, तो भगवान्

का स्मरण करो अर्थात् सत्य ज्ञान रूप भगवान् को अपने अन्दर ही जगाओ।

१८. थोड़े से सुख के कारण व दुःख आ पड़ने पर मन भड़क जाता है और सुख की दासता के कारण ही बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। जैसे किसी से थोड़ा दुःख हो गया, तो मनुष्य दुःख देने वाले की याद मन में बसाये रखता है और उसको राक्षस चंडाल आदि समझता है, कारण कि उसको दुःख सहन करने की आदत नहीं है। आध्यात्मिक जीवन बनाने के लिये ज्यादा मन से दुर्बल न रहे। इस संसार में दुःख कई प्रकार से और कई स्थानों से भी मिल जाता है और विवश होकर सहन भी करना ही पड़ता है। इसलिये दूसरों से होने वाले थोड़े दुःख को भी सहन करे। अपने मन में यह भाव बनाये कि "उस दुःख का जिम्मेवार कोई दूसरा मनुष्य बाहर से नहीं है, शायद मना ! तेरे अन्दर ही उस दुःख का कोई कारण होगा। इस प्रकार विचार करते-करते थोड़ा उस प्रकृति का प्रतिरोध करने का यत्न करे। प्रकृति उधर अपने ढँग से चलायेगी, आप थोड़ा सा उसे समेटने के लिये अपने अन्दर ज्ञान (बुद्धि) जगा लें।

१९. बुद्धि उस शक्ति का नाम है, जो कि निश्चय करती है कि "यह वस्तु इस प्रकार की है यह वस्तु ऐसी है या वैसी है इसका यह स्वभाव है।" सब प्रकार से कोई भी निश्चय करना बुद्धि का कार्य है। मनं वह है, जो प्रकृति के कार्य क्रोध आदि विकार रूप ज्ञान से अन्धा है। काम (इच्छा), क्रोध, राग द्वेष, मान, मोह, मिथ्या संकल्प ये सारे जितने प्रकृति के विकार रूप हैं, यही मन है। चित्त वह है, जो बहुत बारीकी में चिन्तन में बसी हुई वस्तुओं को लिये हुए बैठा रहता है। सुख देने वाली वस्तु बारीकी में चिन्तन में बसी हुई है और चित्त उसको अपने में समेटे हुए है। मन और चित्त के भाव ही इस दे का निर्माण करते हैं।

२०. जैसे–जैसे भाव के साथ अन्न खाया जाता है, वैसे–वैसे ही देह की आकृति (शक्ल) बनती है और उसी प्रकार देह के सारे अंग हृदय, जिगर व पेट आदि बनते हैं। जब आप पवित्रता से थोड़ा काम, क्रोध, अहंकार, मान और मोह को रोक कर, ज्ञान को जगाकर, आलस्य निद्रा का सुख न लेते हुए खाना खायेंगे, तो देह भी बदलना आरम्भ हो जायेगा। हर समय देह भी बदलता रहता है। मन और भावों के अनुसार वह जीवनी शक्ति (प्राणशक्ति) जैसा ज्ञान है, उसके पीछे–पीछे वैसी ही बहती रहती है।

२१. ज्ञान के बिना कोई क्रिया (हरकत) नहीं होती है। यह ज्ञान ही है, जो कि सारे विश्व की प्राण शक्ति को उचित दिशा में प्रेरित करता रहता है। इसलिये यदि ज्ञान शुद्ध है, तो क्रिया भी शुद्ध है। जैसी क्रिया होगी, वैसे ही अन्न जीर्ण (हजम) होगा। ज्ञान पवित्र है, तो उसी के अनुसार प्राण पवित्र है। यदि प्राण पवित्र है, तो सारे अंग सही ढँग से कार्य करेंगे व उनका निर्माण ठीक होगा, इन अंगों में कोई दुःख नहीं होगा। यह मुक्त–देह कहा जायेगा। यदि ज्ञान बँधा हुआ है, अर्थात् शंका, भय, द्वेष, क्रोध वाला है, तो प्राण भी घुटा हुआ ही रहेगा और विकृत रूप से ही चलेगा। ऐसा चलता हुआ प्राण सब अंगों में विकारों को उत्पन्न करेगा, जो कि स्वास्थ्य के विपरीत है। ऐसी अवस्था में अन्न भी वैसे ही रचना में आयेगा। देह में गाँठे पड़ जायेंगी व दुःख उत्पन्न होगा मनुष्य का देह (शरीर) हर क्षण बदलता रहता है। कहने वाले महात्मा ऋषि लोगों ने बताया है कि यदि कोई मनुष्य हिम्मत करे, तो सात वर्ष में सुख शान्ति के अनुकूल पूरा देह बदल सकता है। कहाँ तो यह शरीर काम, क्रोध, राग, द्वेष, मान, मोह, अविद्या का बना हुआ था, उसके स्थान पर आपने विवेक को जगा कर इसी तरह शील, सन्तोष, वैराग्य, तप तितिक्षा, मैत्री, करुणा, मुदिता व उपेक्षा आदि भगवान् के गुणों का शरीर बनाना है। काम (इच्छा), क्रोध आदि प्रकृति के बल

हैं और शील, सन्तोष आदि भगवान् के बल है। इन बलों को जितना–जितना आप धारण करते जायेंगे, प्रकृति के बल उतनी–उतनी मात्रा में क्षीण (दुर्बल) होते जायेंगे। कहाँ तो बचपन का देह राग, द्वेष वाला बना हुआ था? अब वही शरीर धर्म रखने से भगवान् के भक्त का देह बन जायेगा। बचपन की देह के साथ ये विकार स्वाभाविक थे। अशान्त और खोया–खोया मन चिन्ता में रहता है। अकेले में उसका मन नहीं लगता है और अन्त में सुख वाली निद्रा (नींद) भी बन्द हो जाती है। अब भगवान् के भक्त की देह के साथ क्या होता है? भगवान् का भक्त जहाँ पर भी बैठा है, वहीं पर उसके मन की अवस्था आनन्दमयी व सुखवाली होती है। यदि यह देह किसी ने जीवन काल में (जीते जी) साधन रूप से रच लिया, तो समझो! उसने जीते जी वैकुण्ठ धाम प्राप्त कर लिया। यदि किसी को जीते जी (जीवन काल में) इसका फल नहीं भी मिला, तो कम से कम इसी धर्म के मार्ग (रास्ते) की यात्रा में तो वह मरेगा। जैसे कहते हैं कि "जो युद्ध में लड़ता हुआ प्राण त्याग कर देता है अर्थात् मर जाता है, उसको वीर गति प्राप्त होती है। यहाँ प्रकृति से युद्ध है। इस युद्ध में भी यदि कोई मरेगा, तो उसको वही वीर गति मिलेगी और वह मनुष्य इसी धर्म के मार्ग (रास्ते) पर फिर चलेगा। इस संसार में हर समय अपने ही किये हुए कर्म से सीखते जाना है। अपने लिये ही ज्यादा समझना है, बाहर तो व्यवहार थोड़ा ही है।

२२ जब प्रकृति अपनी ओर आकर्षित करती है, तो इसके दुर्गुण, विकार, दोष आदि अपने आप समझ में आने लगेंगे। यह भी विद्या है। जितना भी मनुष्य भजन ध्यान में शिथिल (ढीला) रहेगा, उसी ढिलाई करने वाले को प्रमादी कहते हैं। प्रमाद नाम इसी का है कि वही पुराने ढंग के लोभ लालच के कारण से अच्छे मार्ग पर न चल सकना। और आप जितनी ढिलाई से चलोगे, उतना ही समझो प्रमाद है। भगवान्

के मार्ग पर चलने वाला थोड़ा दुःख भी सहन कर लेता है और थोड़ा आदतों के सुख का भी त्याग कर देता है अर्थात् सुख भी छोड़ देता है। वह दूसरों को दुःख नहीं दे सकता ओर दूसरों को मिला हुआ सुख भी नहीं छीनना चाहता। इसके विपरीत प्रकृति कहती है कि "अपने लिये ही अर्थात् अपने सुख के लिये ही भले इस संसार में दूसरों से संघर्ष करो या भले ही कुछ भी करो परन्तु अपने आपको सुख ही होना चाहिए।" वह प्रकृति तो चाहती है कि "अपने को दुःख नहीं, सुख ही होना चाहिये।" उस प्रकृति के जितने भी दुर्गुण है, उनके विपरीत (उल्टे) सारे भगवान् के गुण हैं। यदि आप भगवान् के गुण अपने अन्दर बसाओगे, तो यह अच्छी भक्ति कही जायेगी। आपके अन्दर भाव इतना बह जाये कि उस भगवान् को याद करते-करते आपकी आँखों से अश्रुपात भी हो जाये अर्थात् आपके आँसू भी बहने लग जायें। जब तक आप अपने आप कुछ करते नहीं, कुछ समझते नहीं, तो जो भगवान् की आपकी भक्ति है, वह मोटे प्रकार की केवल श्रद्धा पर ही टिकी हुई भक्ति है। ऐसी अवस्था में, भले आप भगवान् का नाम स्मरण कर लो अर्थात् आप चाहे कुछ भी करो, उसी के अनुसार आपको फल भी वैसा ही मिलेगा। वह फल की प्राप्ति भले कुछ भी हो, परन्तु जितना फल होना चाहिये, उतना फल इस प्रकार की श्रद्धा पर टिकी हुई भक्ति से नहीं मिल पायेगा।

२३. कल भी यही बोला था कि पहले जो मोटे-मोटे दुर्गुण हैं या जो खोटे कर्म या पाप हैं, जो कि समाज में मनुष्य करता है, अर्थात् चोरी झूठ दुराचार आदि इनसे थोड़ा बचे। फिर दूसरे अपने आप में थोड़ी मन की पवित्रता धारण करें, थोड़ा लोभ भी छोड़े, और सन्तोष धारण करें। ऐसा करने में जो तंगी हो, उसको भी सहन करे, वह तप रूप हो जायेगा। फिर अपने आपका थोड़ा स्वाध्याय भी करे और व्यापक जीवन रूप परमात्मा का भी ध्यान करे। अपने आप का अध्ययन इस

प्रकार से करे कि "अपने अन्दर देख लिया कि थोड़ा सा अपमान हुआ–हुआ मेरे अन्दर देखो ! कितनी आग जला रहा है, थोड़ा सा दुःख हुआ, मेरे अन्दर कितना ज्यादा भड़काव डाल रहा है, यह दुःख मेरे से क्या क्या करवाना चाहता है? मेरे से रुका भी नहीं जाता अर्थात् मैं अपने को रोकने में असमर्थ हूँ कि ऐसा न करूँ।" "प्रकृति की ताकत बड़ी कड़ी है, यह केवल मेरे अन्दर ही है, ऐसी बात नहीं। दूसरे के अन्दर भी तो यह प्रकृति शक्ति है और दूसरों में भी ऐसे तनाव पैदा करके विवश (लाचार) करके दूसरों से सारे खोटे कर्म करवाती है।" "कोई बात नहीं, मैं भगवान् का भक्त बनकर के, जिसने इस पर पूर्ण अधिकार पाया है, मैं भी उसी के अनुसार इसको संयम में रखने का यत्न करुँ। दूसरा यदि ऐसा नहीं कर पाता है तो मैं उसके लिये दयाभाव व क्षमा ही रखूँ।"

२४. अपना अध्ययन करना, जितना अपने आपको थोड़ा समझना है, उसी तरीके से दूसरों के अन्दर भी उस प्रकृति के बल को समझना है। प्रकृति के तत्व सब के अन्दर समान है। यदि आपके अन्दर काम (इच्छा) बलवान है, तो दूसरों के अन्दर भी वह इच्छा कमजोर नहीं है। यदि आपके अन्दर क्रोध आपको विवश करता है, तो दूसरों के अन्दर भी क्रोध ऐसे ही उनको विवश करके कुछ का कुछ करवा जाता है। परन्तु यदि मैं अपने आप में रह सकता हूँ, तो मैं इस प्रकृति के चंगुल से छूट जाऊँ और दूसरों के लिये दया व क्षमा भाव रखूँ। ये जितने भी है, सब भगवान् के गुण हैं। जितने–जितने आप अपने में इन गुणों को धारण करते जाओगे तो एक दिन ये गुण, प्रकृति का सारा बल समाप्त कर देंगे। जैसे–जैसे यह प्रकृति देखते–देखते शान्त होगी, वैसे–वैसे आपकी देह (काया) में सुख होने लगेगा और एक दिन यह आदत का ऐसा सुख बन जायेगा कि आपका स्वाभाविक ध्यान बन जायेगा। ऐसी अवस्था में जैसे ही आपकी दृष्टि (निगाह)

संसार से लौटी कि आप अपने ध्यान में आ जायेंगे अर्थात् मन की पहचान होने लग जायेगी और ध्यान में इस मन की बदलती हुई अवस्थाएँ देखते–देखते शान्त होने लग जायेगी और इस शान्ति के साथ–साथ अपनी अन्तरात्मा का सुख भी प्राप्त होने लग जायेगा। यदि जागते जागते सुख मिल गया, तो आपको मालूम हो जायेगा कि सुख तो अन्दर में ही उपलब्ध (प्राप्त) है। यह जो सुख मेरे अन्दर मुझे मिला है, यह सुख सब के अन्दर समान रूप से है। परन्तु इस सुख को प्रकृति के बन्धन अविद्या आदि ने ढाँक (छुपा) रखा था। इस अविद्या के टलते ही मेरे अन्दर तो यह सुख प्रकट हो गया है। जिस जिस के अन्दर यह सुख प्रकट हो जायेगा, तो समझो भगवान् वहाँ प्रकाश रूप में आ गया।

२५. सब ओर प्रकृति संसार में मनुष्य को निर्बल (कमजोर) बना करके बल रूप से चला जाती है, परन्तु मैं इसके चक्कर से निकल कर अर्थात् इससे मुक्त हो करके कुछ सुख पा जाऊँ और दूसरों के लिये क्षमा रखूँ, तो आपके अन्दर थोड़ी क्षमा आ जायेगी। भगवान् बहुत बड़ा था, जिसमें सब जीवों के लिये क्षमा थी। ऐसी अवस्था में, जो कभी आपसे पाप कर्म हुए भी है, तो यदि आप दूसरों को क्षमा कर सकते हैं, तो आपके पाप भी क्षमा किये जा सकते हैं। यदि आप किसी को क्षमा नहीं कर सकते, तो आपके किये हुए पाप भी कैसे क्षमा होगे? आप यदि यह कह दें कि "जितने मेरे साथ किसी ने अपराध किये है, मैंने सब को क्षमा कर दिया और मन से ध्यान में देखो कि किसी के लिये भी आपके मन में ऐसा भाव नहीं है कि इसको भगवान् दण्ड दे या इसका किसी प्रकार से बुरा हो, तो ठीक है, आपके अपराध (पाप) भी क्षमा हो जायेंगे"।

२६. धर्म का सारा मार्ग (रास्ता) जो कि चलने का है, जिसमें मूल वस्तु यही है कि थोड़ा प्रकृति के चंगुल से निकलने के लिये यत्न करना और भगवान् की भक्ति करना, जिसमें

ऊपर कहे हुए छः ऐश्वर्य (बल) हैं। भगवान् विद्या को जानता है अर्थात् जानने की वस्तु जैसी है, उसको वैसी ही जानता है कि " क्या सही है अर्थात् क्या हित के लिये है और अन्त में क्या अहित के लिये है ?" वस्तु संसार में तो किसी और प्रकार से प्रकट होती है, जैसे कि सब विषयों का संग सुख रूप से प्रकट होता है, परन्तु अन्त में यह दुःख रूप ही सिद्ध होता है। अब ऐसे विषयों के सुख के बारे में जो भगवान् का ज्ञान है, वह ऐसे विषयों के उसी सुख को ध्यान द्वारा दुःख रूप ही समझता है, यही उसका सत्य ज्ञान है। भगवान् अविद्या को भी जानता है, जो विद्या पर पर्दा पड़ा हुआ है। कर्मों की गति और आगति को जानता है, जो कि प्रकृति करवाती है और किधर ले जाती है? "कैसे यह सब खेल हो रहा है, जो उसके अनुसार कहाँ से यह प्रकृति हमको खींचती हुई ला रही है?" भगवान् सब बन्धन जानता है, जिन गाँठों (धागों) से प्रकृति बाँध कर बलपूर्वक संसार में ही धकेलती है कि "चल इधर, चल उधर।" उन बन्धनों से छूट कर पूर्णतया उस भगवान् को उस मार्ग (रास्ते) का अनुभव है, जो अपने बल से सारा कुछ पा गया। इन बलों को आपने अपने अन्दर प्राप्त करना है। धीरे–धीरे इन बलों को यहाँ तक उपजाना है कि हम भी जीते जी (जीवन काल में) ऐसा सब कुछ सत्य अपने अन्दर ही साक्षात्कार कर लें, जैसा कि भगवान् ने किया है।

२७. यह देह (काया) जो है, पहले राग, द्वेष, मान, मोह आदि का बना हुआ है, कारण कि कई वर्षों तक इन्हीं का ही चक्कर इस देह में चलता रहा। इस देह में मन, बुद्धि व इन्द्रियाँ भी इन विकारों के अनुसार अपने सुख को देखती हुई और दुःख से छूटने का उपाय बनाती हुई कर्म करती हैं। वह मनुष्य सुख दुःख में बँधा संसार में ही बहता रहता है। अपने आप में (आत्मा में) रहने वाला मनुष्य अच्छी तरह से विवेक जगा करके परिणाम (नतीजों) को समझ करके,

थोड़ा तंगी को सहन करके और अपने सुख को भी त्याग करके अपनी देह, इन्द्रियों, मन व बुद्धि को भी ठिकाने रखेगा, तो ऐसा करते–करते वर्षों व्यतीत हो जायेंगे। कहने वाले कहते हैं कि जो बहुत उद्योगी है, तो सात वर्षों (सालों) में उसका देह भी ऐसा बन जायेगा, जैसे कि उसका मुक्त देह है, शान्त सुख वाला है और इसको कोई किसी प्रकार की उलझन भी नहीं है। यदि कोई मनुष्य साधन करने में ढीला (प्रमादी) है , तो कई जन्म भी लग जायें, सात जन्म भी लग जाये ओर इससे भी अधिक जन्म लग सकते हैं। जितनी ढिलाई से चलोगे, उतना ही प्रमाद है जितना प्रमाद रहित होकर के चलोगे, तो आप उतने ही ज्यादा उद्योगी (हिम्मती) हैं। उद्योग (हिम्मत) करने वालों के लिये उन्होंने समय बताया है कि "तीन वर्ष भी या सात वर्ष भी पूर्णता प्राप्ति में लग सकते हैं। इस प्रकार ऐसा करते–करते मनुष्य को यही विश्वास हो जाता है कि प्रकृति के चंगुल से मुक्त होकर के अपने अन्दर ही आत्मा (अपना आपा) का सुख प्राप्त करें, यही सारे कहे हुए का सार (निचोड़) है।

प्रवचन

२–१–८७

जैसे कल चर्चा कर रहे थे कि मनुष्य के अन्दर जो उसकी अपनी दुर्बलताएँ (कमजोरियाँ) या विकार हैं, उनसे विपरीत (उल्टे) सारे भगवान् के गुण और बल हैं। सारे दुःख व सुख जीव की कमजोरी,निर्बलता व विकारों के हैं और प्रकृति (सारे विश्व की शक्ति) की दासता होने से हैं। उस प्रकृति के अन्दर अपना एक बल (ताकत) है। वह बल इतना है कि उसमें साधारण प्राणी को तो वह टिकने ही नहीं देती। उसी प्रकृति की राग–द्वेष आदि सब हवाएँ हैं, उसी की ही उत्तेजनाएँ, जोशों से प्रेरित होकर उसके शक्तिशाली वीर–काम, क्रोध इत्यादि हैं। वह प्रकृति अपने ढँग से ही संसार को धकेलती व चलाती है। मनुष्य भी अन्त में परेशानी मान कर उसी की आज्ञा का पालन करता है और पाँचों ठिकानों (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि व सुख दुःख की वेदना) पर बँधा रहता है। इस सारे विश्व की प्रकृति को भगवान् की माया समझ लो और प्रत्येक जीव का एक अपना स्वभाव (आदतों की शक्ति) है, वह उसकी प्रकृति है। प्रकृति इन्हीं बाहर की वस्तुओं में ही सुख दिखलाती है तथा यह प्रेरित करती हैं कि आप बाहर संसार में ही घूमते रहो, इन्द्रियाँ भी बाहर खुली रहें, वैसे ही मन भी बाहर के विषय वस्तुओं के बारे में सोचता रहे।बस ! यही बाहर ही बाहर घूमना इस मनुष्य की कमजोरी है। उसे इस बात का ज्ञान (खबर) नहीं है कि जिधर यह प्रकृति ले जा रही है उधर यह अन्त में क्या फल देगी ? इसके लिये सत्य के ज्ञान रूप भगवान् को अपने अन्दर जगाये व उसके गुणों का स्मरण करे, जो पूरी विद्या जानता है व इस प्रकृति का उसको पूरा ज्ञान भी है। यही आध्यात्मिक विद्या है। जितना प्रकृति का राज्य है, यह सारी अविद्या है– इसको

भी भगवान् पहचानता है। विद्या– अविद्या को जानने वाला वही ज्ञान रूप भगवान् है। उसकी भक्ति किये बिना इस प्रकृति से छुटकारा पाना कठिन है।

भगवान् के अन्दर सारे अच्छे गुण हैं– किसी के सुख में दुःखी नहीं होना अर्थात् सब के सुख में सुखी होना (मैत्री), दूसरों के दुःख में दयाभाव (हमदर्दी) रखना (करुणा), दूसरों के गुण तो देखना, पहचानना व प्रशंसा करना (मुदिता) परन्तु दूसरों के अवगुणों, दोषों व पापों को ध्यान में न लाना (उपेक्षा), क्षमा रखनी अर्थात् दूसरों को दण्ड देने का भाव नहीं रखना, अपनी "मैं" को कम आने देना, कोई परवाह नहीं, थोड़ी तंगी भी सहन कर लेना, परन्तु बाहर किसी प्रकार से संसार में उलझना नहीं। जहाँ कहीं भी बाहर उलझ जाओगे, तो आपका मन बाहर उधर ही उधर पड़ा रहेगा, भले आप अकेले भी हो जायें, परन्तु मन के अन्दर से बाहर की चिन्ता, फिकर व भय नहीं हटेगा अर्थात् समाप्त नहीं होगा , बल्कि बना ही रहेगा। जब चिन्ता, भय आदि समाप्त नहीं होगे, तो भले आपके पास सारे संसार का धन दौलत भी है, फिर भी आप अकेले में बैठे हुए शान्ति में नहीं होंगे। प्रकृति की दुर्बलता यही है कि राग, द्वेष करना, दूसरों से वैर विरोध करना और अपने सुख के कारण से न जाने क्या–क्या खोंटे कर्म करके पीछे उलझना। भगवान् इस प्रकृति के जाल को जानता है, वह सर्वज्ञ है और उसका परमधाम इससे भी न्यारा अति उत्तम है।

भगवान् कर्मों की गति जानता है कि प्रकृति जिन कर्मों को करवाती है ये कर्म किधर ले जायेंगे ? अर्थात् कौन सी अवस्था में पटकेंगे ? इस जन्म में जो यह खेल हो रहा है और इसके अन्दर मनुष्य कहाँ से क्या कर्म करके आया है ? यही कर्मों की अगति है, जिसको भगवान् जानता है। फिर वह जानता है कि बन्धन कौन– कौन हैं और इनसे मोक्ष (छुटकारा) कैसे होता है ? बन्धन ये ही प्रकृति के सारे तन्तु,

धागे, रस्सियाँ अर्थात् राग, द्वेष, मान, मोह, ईर्ष्या, जलन संशय, अविद्या आदि जितने हैं, जिस समय ये मन के अन्दर खड़े हो जाते हैं तो किसी को भी शान्ति (चैन) नहीं लेने देते व कहते हैं कि " बस ! हमारी दासता करो ।" मनुष्य को मान अहंकार वाली 'मैं' जो प्राणी व पदार्थों के संग से मिलती है वह 'मैं' कितनी मधुर (मीठी) और प्यारी लगती है । अब समझना यह है कि " क्या यह 'मैं' कहीं सदा बनी रहती है ?" अर्थात् सकल आयु (सारी उमर) एक जैसी 'मैं' तो किसी की भी नहीं रहती । जैसे बचपन की 'मैं' लड़कपन में चली गई , लड़कपन की 'मैं' जवानी में , जवानी की "मैं" बुढ़ापे में तथा बुढ़ापे की 'मैं' भी अन्त में मृत्यु (मौत) आने पर समाप्त हो जाती है । इन सारे बन्धनों को भगवान् ने तो अपने बलों द्वारा सबको अपने अन्दर मन में ध्यान द्वारा पहचान कर बता दिया । उन्हीं मैत्री आदि दस बलों की भक्ति करके यदि मनुष्य भी प्रकृति की दुर्बलताओं व बन्धनों को पार कर जाये , तो ठीक है । परन्तु पार करने वाले दो ही रास्ते हैं– एक तो ध्यान योग ओर दूसरा क्रिया योग । प्रकृति के बन्धनों को ढीला करने के लिये दोनों ही रास्ते मनुष्य को अपनाने पड़ते हैं ।

थोड़ा सा सत्य के ज्ञान को अपने अन्दर जगाना पड़ता है, जिसके लिये ध्यान की आवश्यकता है और थोड़ा सा क्रिया योग भी चाहिये, जिससे अपने अन्दर क्रिया उत्पन्न करके मन के जोशों को क्रिया योग से भी समाप्त किया जा सके । क्रियायोग नाम उसका है कि प्राण शक्ति को बढ़ावा (बल) दे करके उसी के सहारे से इन मन के विकारों का तिरस्कार (दूर करना) किया जाये । जब तक प्रकृति के बन्धन मन में बैठे रहते हैं तब तक ये किसी को भी शान्ति नहीं लेने देते । जिस समय ये बन्धन मन से टलेंगे , तभी शान्ति मिल पायेगी । इसलिये ध्यान द्वारा मन ही इनसे टालना पड़ेगा ।

प्रकृति नाम उस शक्ति का है कि कोई भी कार्य बार–बार करने से उसकी आदत पड़ गयी अर्थात् इस प्रकृति का मतलब ही यह है कि कोई भी कार्य यत्न से किया, बार–बार किया, उस कार्य करने में सुख भी महसूस किया और इसी का मन से भी बार– बार यत्न होता रहा। अब वह यत्न होता–होता पक करके इतना पक्का हो गया कि यह अपने आप में स्वयं एक बल बन गया। अब भले आप उस कार्य को सोच कर करो अथवा बिना सोचे करो, तब भी वह प्रकृति (आदतों की शक्ति) अपने आप ही उधर चलती रहेगी, यही प्रकृति अथवा आदतों की शक्ति है। यह प्रकृति जीव के अन्दर एक प्रकार की और बाहर सारे संसार की एक विश्व रूप में एक ही है, जो अनादि काल से बहती आ रही है। भगवान् के सिवाय इसको रोकने वाला और कोई नहीं है। इस प्रकृति की शक्ति को अपने अन्दर ही पहचान करके ध्यान द्वारा इसकी तुच्छता समझना और इससे अपने मन को फेर लेना (मोड़ लेना) कि " इसमें (प्रकृति की शक्ति में) कुछ भी सार नहीं है।" जब इन्द्रियों में बाहर के सुख देने की ताकत (शक्ति) नहीं रही और बड़ी आयु होने पर बाहर मनुष्य किसी स्वार्थ को पूरा करने के लिये किसी काम का भी नहीं रहा तो बताओ, वह किसका सहारा लेगा ? ऐसी अवस्था में उसके लिये कोई सहारा नहीं होगा, सिवाय भगवान् के, जिसने अपनी अन्तरात्मा में अकेले में उस परमात्मा के रास्ते को पहचान लिया है। यदि उसको इस भगवान् की ओर चलने की हिम्मत बन गयी तो उसको दूसरों की दासता की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। दूसरों की दासता न होने का अर्थ यही है कि मुक्ति (संसार से छुट्टी)। परन्तु इसके लिये अपने आप में मन भी तो लगना चाहिये । मन को लगाने का रास्ता तो केवल उस भगवान् की शरण है जो सदा आनन्द रूप ,सुख रूप, ज्ञान रूप व सदा बना रहने वाला है और हमारे अन्दर ही है। मनुष्य

का मन इसमें न लगकर के बाहर संसार में प्रकृति के जाल में ही उलझा रहता है।

जिधर मन लगता है, मनुष्य उधर ही भागता है। बाहर संसार में ही मन की लगन होने के कारण इस संसार वाले मन में तो यही रहता है कि चलो ! बाहर कहीं गाना ही सुन लो, गप्पें ही लगा लो या कोई खेल तमाशा ही देख लो। जब वे राग रंग आदि उसके स्वार्थ के नहीं रहेंगे अर्थात् आँखें देखने की शक्ति खो बैठेंगी, कान सुनने की शक्ति खो बैठेंगे, इस प्रकार सब इन्द्रियाँ बेकार हो गयीं और सुख देने योग्य नहीं रही तो वह मनुष्य अपना मन न लगने के कारण मृत्यु (मौत) ही चाहेगा। ऐसे मनुष्य को यदि ध्यान करने की आदत पड़ जाये तो वह दूसरों की दासता से छूट जायेगा। इसके लिये अकेले बैठे– बैठे थोड़ी अन्दर की विद्या जगा ले। जैसे कि कोई मनुष्य अकेला रहता हुआ घण्टों तक पुस्तकें पढ़ता रहता है परन्तु पुस्तकें भी कब और कहाँ तक पढ़ता रहेगा। जो कुछ पुस्तकों में लिखा है उसे अपने अन्दर की मन रूपी पुस्तक में ही पढ़ने का यत्न करे। जब आप अपने अन्दर की पुस्तक पढ़ेंगे तो इसमें अनन्त अन्दर के सत्य जानने के लिये हैं अर्थात् जब आपको अपना मन पहचान में आने लग जायेगा तो अन्दर के बहुत से सत्य समझ में आने लग जायेंगे, जिनकी कोई गणना ही नहीं है। कैसे कि उस ज्ञानदेव की इन्द्रियाँ रूप पाँचों य़न्त्र लगे हुए हैं वे तो केवल बाहर का ही सब ज्ञान करवाते हैं और बाहर के सुखों का ज्ञान करवाकर बाहर ही उलझन में डाले रखते हैं परन्तु दूसरी ओर मन रूपी यन्त्र है जो शुद्धि को प्राप्त हुआ–हुआ अन्दर के संसार का ज्ञान कराता है कि कैसे मनुष्य अपने अन्दर के संसार से निकलकर बाहर के संसार में उलझ जाता है और सदा के लिये दुःख में रुलता रहता है।

अब जो अन्दर भगवान् का धाम है जिसको भगवद् धाम भी कहते हैं उसमें भगवान् सदा आनन्द में रहता है। वह

भगवान् इतना प्यारा है कि यदि उसमें किसी की दृष्टि (निगाह) खुल जाये तो कहेगा, " ठीक है ! मुझे संसार को तो याद करने की भी आवश्यकता नहीं है ।" परन्तु जब तक उधर दृष्टि नहीं खुलती तब तक पत्थर बन कर तो कोई रहेगा नहीं । इसलिये कोई न कोई, कुछ ज्ञान तो इस मन को चाहिये । अब यदि बाहर के ज्ञान की चिनगारियाँ भी निकलने का समय नहीं रहा और अन्दर भगवान् नहीं प्रकट हुआ, तो इस बेचारे की दुर्गति ही होगी । यही अविद्या का राज्य है । ऐसी अवस्था में उसको मार करके प्रकृति कहती है कि "नये सिरे से बच्चा बन करके दुनियाँ को देख ।" उस अवस्था में यदि इस मनुष्य ने अपने ध्यान को जगाकर अन्दर भगवान् को देखने का रास्ता पा लिया तो उसको भगवद् धाम व उसकी शक्ति जो सारे विश्व को चला रही है, बहुत प्यारी व आनन्दपूर्ण दिखायी देगी । इसके लिये जैसे दाल में पड़ी हुई मक्खी को निकाल देते हैं, ऐसे ही काम (जगत् के प्राणी व पदार्थों की इच्छा) को निकाल देना पड़ेगा, तब सारा संसार सुख रूप मालूम होगा । जब तक काम (इच्छा) का तन्तु या काम की जड़ उसमें पड़ी हुई है तब तक संसार में सुख दुःख, राग द्वेष, लड़ाई झगडें व सारी उलझनें हैं । अन्त में मनुष्य इनके बारे में सोचता–सोचता खोखला (थोथा) व असमर्थ हो जाता है । ऐसे मनुष्य को पुनः इस संसार में कोई सुख नहीं होता है । ऐसी अवस्था में यदि उसने प्रकृति के सुखों के बिछोड़े का दुःख देखना शुरू कर दिया तो इसी का नाम तपस्या है । इस थोड़े दुःख की अवस्था में अपने मन से शब्द बोल–बोल कर कहे " इच्छा पूरी न होने पर क्या हम मर तो नहीं जायेंगे ?" श्वाँस ही थोड़ा घुट–घुट कर चल रहा है– तो भी कोई बात नहीं । यदि थोड़ा–थोड़ा समय इस प्रकार निकालना (बिताना) आपने सीख लिया, तो यह एक सुन्दर तप हो जायेगा । तप नाम तपने का है । संस्कृत मे तप नाम खेद का है कि "मन थोड़ा खिन्न (दुःखी)

हो रहा है ।" " कौन मन दुःखी हो रहा है ?" तो थोड़ी खोज करने पर पता लगेगा कि वही बचपन की आदत वाला मन जो दूसरो मनुष्यों की संगत व गप्पें छोड़कर अकेला बैठा हुआ है, दुःखी हो रहा है ।

अब इस तंगी की अवस्था में क्रियायोग आयेगा । जो मन आपका बाहर उलझा हुआ है उसने आपका श्वाँस भी रोका हुआ जैसा है तभी आपका मन अन्दर नहीं लग रहा है । आप चुपचाप सीधा बैठो, समझ के साथ श्वाँस लेते रहो और छोड़ते रहो तथा घबराओ मत । पाँच, सात , दस मिनट तो इस प्रकार डटे रहो । इस काम (इच्छा) के सुख के बिछोड़े में उसके दुःखों को अपनी आत्मा में हज़म करते जाओ । यही क्रियायोग का सहारा है । चलो ! भगवान् का ज्ञान तो वह बचपन वाला मन अभी जागने नहीं देता । वह कहता है कि " ज्ञान तो उसी बाहर संसार के रास्ते का ही मैने जगाना है जिस रास्ते पर बचपन से मनुष्य चलता आ रहा है ।" जब आपने थोड़ा अकेले में बैठने का यत्न किया, तो बचपन वाले मन ने मानो श्वाँस बन्द सा कर दिया । वह कहता है कि "उन प्राणी व पदार्थों के सहारे ही मेरा श्वाँस चला है उनके न मिलने पर ही मैने श्वाँस को रोक दिया है ।" अब आपको क्रियायोग की आवश्यकता है । इसलिये अकेले बैठो , जैसा कि ऊपर बताया है कि समझते हुए श्वाँस लेना और समझते हुए श्वाँस छोड़ना, इसकी ही आदत डालो । वही श्वाँस सब जगह के मन को भुला करके और राग द्वेष, काम, क्रोध, इच्छा, तृष्णा से टल करके एक श्वाँस लेने व छोड़ने की क्रिया में ही लगा रहेगा । इस तरह यह क्रियायोग है कि अपने में समझ के साथ श्वाँस लेने व छोड़ने की क्रिया में लगे रहना । बस । समझते हुए श्वाँस लेते रहना और छोड़ते रहना, पता लग रहा है कि श्वाँस ले रहा हूँ , श्वाँस छोड़ रहा हूँ , ले रहा हूँ और छोड़ रहा हूँ, चुपचाप बैठा हूँ । जब मन उधर संसार की ओर जाता है तो अपने मन से कहे कि "मैं समझ के साथ श्वाँस लेने

छोड़ने का कार्य कर रहा हूँ।" जिसको ध्यान, स्मृति व समझ के साथ श्वाँस लेना, छोड़ना आ गया, तो समझो ! कि उसने क्रियायोग का रास्ता पाना शुरू कर दिया। इस क्रियायोग की क्यों आवश्यकता पड़ती है ? इसलिये कि ध्यानयोग बीच में बिगड़ने लगता है, कारण कि ध्यान तो उन सांसारिक विषयों की कामना (इच्छा) के सुख ने संसार में ही खींच रखा है, मन उधर ही खींच करके ले जाता हैं जहाँ संगत, गप्पें, खानें पीने व अपनी 'मैं' दिखाने को मिलती है। भोजन के बाद ध्यान किया भी नहीं जाता और ऐसा करना हितकर भी नहीं है, खा पीकर के तो श्वाँस के चलाने की आवश्यकता होती है ताकि खाया हुआ अन्न ठीक हज़म हो जाये और मन भी एकाग्र हो जाये ताकि वह ध्यान करने योग्य हो सके । जो मनुष्य एकान्त में थोड़ा समय बिताने की सोचे, तो वह समझ के साथ सारे देह को महसूस करता हुआ श्वाँस लेता व छोड़ता जाये अर्थात् इसको मालूम रहे कि समझ से श्वाँस ले रहा हूँ, पता पड़ रहा है कि श्वाँस ले लिया और श्वाँस छोड़ दिया। जब किसी समय दम घुटने लगे और ध्यान इधर उधर बिखरने लगे तो थोड़ा श्वाँस या प्राण के सहारे से भी बैठने की आदत डाले, जो इसमें तंगी होती है वह भी मन में झेलने की आदत डाले। काम (इच्छा) ने मनुष्य के मन को हर (चुरा) रखा है कि " दुःख से बचने के लिये इसमें लग जाओ, उसमें लग जाओ।" जैसे गप्पों में, सुनने सुनाने में, कहीं देखने करने में अथवा खाने पीने आदि में लगे रहो। ये सब कार्य तो सारी आयु नहीं चल सकते। इनसे मुक्ति पाने के लिये थोड़ा तंगी को देखना ही एक तप रूप हो जायेगा। उसमें बैठे–बैठे फिर मन की अवस्थाओं को पहचानना कि " किधर–किधर मन जा रहा है ? क्या तंगी मान रहा है ? " सारे अन्दर के सत्य यदि अपने मन की समझ में आने लग गये, तो समझो ! यह ध्यानयोग जाग गया।

बड़े दुःख की याद करके ही छोटे दुःख को सहन करते हुए एकान्त का समय बढ़ाना है। उस एकान्त के समय में अभी विचार के शब्द अन्दर नहीं जागने से थोड़ा दुःख को भुलाने के लिये कोई भगवान् का नाम (शब्द) ही जपते रहो। यदि आप ऊँघते ही रहो, तो बैठने का रास्ता ठीक नहीं है। ठीक भी है तो थोड़ा ही ठीक है। उत्तम तो यह है कि एकान्त में बैठना और थोड़ी तंगी देखते–देखते मन को जगाना और जगा करके अन्दर समझ तक जगा लेना कि अन्दर मन की समझ खुल जाये अर्थात् मन राग द्वेष, काम क्रोध आदि अन्दर के सत्यों को समझने लग जाये, जो उसको बाहर संसार में धकेल रहे थे। जब अन्दर समझ खुल गयी व ज्ञान का रास्ता जाग गया तो समझो। इस प्रकृति के साथ बहुत बारीकी में विरोध करने का या उसका प्रतिरोध (मुकाबला) करने का रास्ता खुल गया। ऐसा करते– करते एक दिन प्रकृति पर आप काबू पा जायेंगे। यदि आपने प्रकृति के राग द्वेष इत्यादि बन्धनों को देखते–देखते शान्त कर दिया तो उनके शान्त होते ही, उसी क्षण अन्दर से आपको वह सुख और शान्ति मिलेगी जो भगवद् धाम की है। इस शान्ति में प्रभु भगवान् इन सब राग द्वेष आदि बन्धनों से हट करके प्रकृति पर पूर्णतया काबू पाया हुआ अपने आनन्द में सदा तृप्त व मग्न रहता है। उसको किसी प्रकार से यह अनुभव नहीं होता है कि "इसमें मेरा मन नहीं लग रहा है या यह सुख कहीं समाप्त हो जायेगा ?" कारण कि ज्ञान कहाँ समाप्त होगा ? यह ज्ञान तो अनन्त है तथा हर क्षण नया–नया चेतता रहता है। कैसे हर क्षण चेतता रहता है ? इसका भी दर्शन होगा। यह भगवान् चेतन ज्ञान रूप यदि दिखलायी दे गया, तो यही उसी का परम–पद भगवान् का धाम मिलेगा। सबसे पहले इस प्रकृति से हटने के लिये काम (इच्छा) लोक से छुट्टी पाने का यत्न करना पड़ेगा। जीव कामना (इच्छा) द्वारा ही बाहर इस लम्बे चौड़े संसार में फैल गया है। एक वृत्रासुर की वेदों

में कथा आती है। वह चमड़ी (शरीर रूप) को ही लेकर अपनी कामनाओं को संसार में फैला रहा है, जिसको दधीचि की हड्डियों का वज्र बनाकर इन्द्र ने मार डाला था। अब सादे में अपने अन्दर वृत्रासुर की यही कथा है कि यही मन, जो प्रकृति रूप से है, सारे संसार में फैलना चाहता है। संस्कृत में 'वृत' नाम फैलने का है। वृत का अर्थ है कि लम्बा चौड़ा होना। जहाँ एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक संसार है, मन चाहता है कि वहाँ तक की कीर्ति (यश), धन, सुख आदि सब उसने प्राप्त करने हैं और वहाँ तक सबमें आदर मान भी पाना है अर्थात् यह मन वहाँ तक फैलना चाहता है जहाँ तक यह सारा संसार दिखलाई देता है। इस चमड़ी (शरीर रूप) से पैदा हुआ अहंकार 'मैं' बाहर फैलने लगता है। फैलते–फैलते कहाँ तक गया कि "सारे संसार में बढ़ करके मैं ही रहूँ और मेरे से ऊपर कोई न रहे।" वह मन, सारे संसार की जो शक्ति है उससे भी ऊपर होना चाहता है। वह बड़ा केवल इस प्रकार से हो सकता है, यदि भगवान् को जाने। अब बाहर फैलकर कैसे बड़ा होगा ? मन तो चाहता है कि कामना द्वारा सारे संसार से बली (ताकतवर) हो करके सारे संसार के ऊपर मेरा प्रभुत्व (राज्य) हो जाये। वृत्रासुर इन सब मोक्ष मार्ग के सब गुण रूप देवताओं के स्वर्ग को नहीं रहने देता। यह काम लोक ही इस मन रूपी वृत्रासुर का राज्य है, जहाँ वह अपना पूर्ण शासन चाहता है। जो मनुष्य साधना सम्पन्न हो , वह अपने अन्दर थोड़ा विचार करके इस काम लोक से पहले निवृत्त होवे। जहाँ तक काम (इच्छा) का फैलाव है और जहाँ तक बाहर संसार में मन जाता है, वहाँ तक दुःख ही दुःख है। इस बारे में सोच करके देख लो, केवल श्रद्धा व सुनने से वास्तविकता (असलियत) का पता नहीं चलेगा। श्रद्धा तो पहले–पहले केवल बाहर खोंटे कर्मो से बचने के लिये अपने आप को संयम में रखने के लिये , अपने मन के अन्दर नम्र हो करके ध्यान करने के लिये ही है, ताकि

मन को अन्दर के सत्य पहचानने में आयें और अपने अन्दर के ही विकार (द्वेष) देखने में आयें। यदि आपको अपने सांसारिक मन के धक्के दिखलायी देने लग गये तो समझो, मन की आँख खुल गयी और अब इसमें ध्यान जाग जायेगा, अब इसमें तप भी जाग जायेगा। ऐसी अवस्था में आपने दुःख सहन करना भी आरम्भ कर दिया तो ऐसा करने के लिये ही क्रियायोग बताया है अर्थात् जब मन बाहर ही कुछ पाने के लिये धक्का मारता है परन्तु आप वैसा करना नहीं चाहते, तो उस समय वह मन आपके श्वाँस को भी रोक जैसा देता है, परेशानी से सब इन्द्रियों के व्यापारों को भी रोकता हुआ सा दीखता है और फिर मन अपनी ही इच्छा के काम करवाना चाहता है। आप उस अवस्था में समझ के साथ श्वाँस लेते गये व छोड़ते गये। इस प्रकार करते करते यदि आप समय निकालते गये, तो धीरे धीरे उस क्रियायोग द्वारा भी वह प्रकृति की शक्ति क्षीण (दुर्बल) होती जायेगी। यह सारा चलने का रास्ता है। यदि आप काम (इच्छा) को धीरे धीरे टालते गये, तो आपकी अन्दर की आँख खुलनी शुरू हो जायेगी। यदि मन पहचानने में आने लग गया, तो अन्दर के काम क्रोध आदि विकार भी समझ में आने लगेंगे। अन्दर के विकार समझ करके उनको टालने के लिये बल भी प्राप्त होगा।

अब आपने ध्यान करके देख लिया कि " बाहर की तरफ मन को धकेलने में कोई लाभ नहीं है।" और इस प्रकार की सोच करने में मन अन्दर जाग गया कि " मन को बाहर फैलाने में लाभ तो क्या होना है, परन्तु इसके विपरीत मन की इच्छा पूरी करने में हानि (नुकसान) ही है। यदि अभी इच्छा पूर्ति में नुकसान नहीं भी दिखलाई दे रहा है, फिर भी थोड़े समय के बाद अवश्य ही इसका फल उल्टा घाटे का होगा।" जिस दिन यह ज्ञान का चक्षु आपका खुल गया तो समझो ! प्रज्ञा (विवेक) जाग गयी। मन को सांसारिक काम (इच्छा) के मार्ग से मोड़ने के कारण कुछ परेशानी (दुःख) तो

अवश्य होती है। परेशानी सहन करते–करते यदि ज्ञान जागता रहा, तो यह परेशानी भी अधिक देर तक नहीं रहेगी व थोड़े समय के बाद मर मिटेगी। इस प्रकार पाप कर्म से थोड़ा टल करके फिर ध्यान की आँख खोल करके, बाहर संसार से मुख मोड़ने पर इस प्रकृति शक्ति के दुःख को सहन करके प्रकृति (आदतों की शक्ति) को क्षीण (दुर्बल) करना है। यदि ऐसा आप करते गये तो आपको काम (इच्छा) लोक से छुट्टी मिल जायेगी। जैसे ही थोड़ा नींद को भी जीतने के बाद इस कामना लोक से आपको छुट्टी मिली, तो समझो ! आपका स्वर्ग लोक खुल गया, जिसमें सब इन्द्रियाँ बच्चे की इन्द्रियों की तरह विकार, दोष रहित जाग रही हैं। ऐसी अवस्था में आपने नींद को भी टाल दिया। कारण कि निद्रा वाला मन ही सब इन्द्रियों को बन्द करना चाहता है। यह निद्रा वाला मन वही कामना वाला मन ही है अर्थात् संसार में बिखरा हुआ वृत्रासुर, जो सारे संसार में फैला हुआ था, जब आपने बाहर संसार से उस मन को मोड़ना चाहा तो उसने कहा कि "सो जाओ।" परन्तु नींद की मिठास लेने के लिये वह सारी इन्द्रियों को भी जैसे ही बन्द करने लगा, आपने यदि उधर कामना से झगड़ते–झगड़ते काम (इच्छा) को ठुकरा दिया और इधर उस मन का दूसरा पक्ष अर्थात् उस मीठी नींद को भी आपने थोड़ा टाल दिया, तो ऐसी अवस्था में जो आपका कान खुलेगा, वह स्वर्ग लोक में ही खुलेगा। कारण कि कामना को तो पहले ही आपने मन से उतार दिया था और इसके टलने पर ही नींद आनी शुरू हुई थी। अब नींद से भी झगड़ा करके इसका दुःख देखते रहे। दुःख देखते देखते अधिक समय तो मन इस दुःख में डटेगा नहीं। वह जबरदस्ती नींद लाना चाहेगा, दुःख भी मानेगा, तंगी, क्लेश, संशय व बहम भी उत्पन्न करेगा। ऐसी मन की अवस्था में मनुष्य का समय सुखपूर्वक नहीं बीत पायेगा। यदि आपने इस नींद को भी जीतने की हिम्मत कर ली तथा नींद को

क्षण क्षण टालते–टालते उड़ा दिया तो जैसा पहले बताया गया है, जीते जी, समझो ! आपका स्वर्गलोक यही खुल गया। जैसे ही नींद उड़ेगी, तो आपके कान दूर–दूर तक आवाजें सुनने लगेंगे। यद्यपि उसको बाहर की सारी वस्तुएँ विष (ज़हर) जैसी प्रतीत (मालूम) हो रही थीं जब कि नींद के सुख को टाला जा रहा था अर्थात् जिस समय नींद का सुख अड़चन में पड़ रहा था। परन्तु जिस समय उन कामनाओं से टल कर विचार द्वारा नींद को भी रोक लिया गया, फिर जो कान खुलेगा वह बच्चे के जैसा निर्मल होगा व विकार रहित सब सुख रूप सुनेगा। उसको प्रत्येक शब्द ही बड़ा मीठा सुनाई देगा। नासिका भी ऐसे खुल जायेगी कि सूक्ष्म–सूक्ष्म सुगन्धियाँ लेने लगेगी और बड़ी मिठास अनुभव में आने लगेगी, तो समझो ! अश्विनी कुमार जाग गये, यह नासिका के देवता हैं, यही स्वर्ग लोक के देवता हैं आर्थात् गन्धर्व का जो लोक है, जो मीठी–मीठी गन्ध लेने वाले हैं। जिह्वा में रस निकलने लग जायेंगे, जो रस बाहर से कभी नहीं मिल सकते। जैसा मन का भाव होगा वैसा ही रस आयेगा। ये ज्ञान इन्द्रियाँ ऐसे यन्त्र हैं जो सुगन्धियाँ, रस और नाना प्रकार के चमड़ी के स्पर्श रूप रंग आँखों में और कान में शब्द आदि ये सब लाते हैं। जिस समय ये यन्त्र पवित्र लोक में जाग गये तो उसी समय ही सुख का आभास होता है। पवित्र का अर्थ है कि मन कामना से हटे, काम (इच्छा) ही गन्दगी है। काम (संसार की कामना) अर्थात् संसार के सुख को पाने के लिये कुछ भी होना या बनना, के साथ ही सारे विकार, विरोध और उलझने हैं। पहले ऐसे काम (इच्छा) से थोड़ा निवृत्त होवे अर्थात् छूटने का यत्न करे। इस काम लोक से निवृत्त होते ही, भले पूर्ण मुक्ति न भी मिले तो कोई चिन्ता की बात नहीं। ऐसी अवस्था में जो भी लोक आपको मिलेगा, वह इन्द्रियों का लोक (स्वर्ग लोक) है जहाँ पाँचों ज्ञान इन्द्रियाँ आपकी खुली हुई हैं व पाँचों स्थानों पर आपको सुख है। यहाँ पर वह

कल्पवृक्ष मिलता है अर्थात् कल्पना के अनुसार आपकी इन्द्रियाँ जागेंगी और आपको उनका रस व विषय अनुभव में आयेगा। पहले मनुष्यों को यही प्यारा लगता था और समझते थे कि हमारा जीवन तो सफल हो गया, मुक्ति मिले या न मिले, कोई बात नहीं। मीमांसा शास्त्र भी कहता है कि स्वर्ग ही सबसे ऊपर है।

इस स्वर्ग लोक के मिलने के बाद भी हिम्मत (उद्योग) रखनी पड़ेगी। बाहर अधिक सुख की दासता नहीं करनी है। संसार में मान मोह भी न रखे, थोडा दुःख भी सहन कर ले तथा अधिक सुख के पीछे न पड़े। ऐसे स्वर्गलोक की अवस्था में मन बाहर की बहुत सी उलझनों से छुट्टी पा करके उसी स्वर्गलोक में फिर बाहर के संसार की ही सोचने लग जायेगा। अब यदि वहीं तक ज्ञान खुला तो समझो! वह तो रूप लोक ही है। इसके बाद जब मन इनको अपने आप में समझने लग गया कि यह भी सारा जाल ही है तो इससे ऊपर के लोकों में जागने का यत्न होगा। जब तक मन इनको समझने के योग्य नहीं है तो समझो! वह धार्मिक क्षेत्र में जो अभी बच्चा है उसी का ही मन है, जो इन्द्रियों के सुख में ही मस्त है। जिस समय कानों में शब्द, आँखों में रूप रंग, नाक में सुगन्धियाँ और जिह्वा में रस आ रहे हैं, उस समय यदि आप सत्य के बारे में विचार तथा खोज करने लग गये तो समझो! भगवान् का रास्ता खुल गया। यहाँ विचार करने पर समझ में आयेगा कि "अहो! ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध तो कुछ भी नही हैं, बस! ज्ञान ही ज्ञान है। यदि ज्ञान जाग रहा है, तो यह सब खेल हो रहा है। ज्ञानदेव जिस–जिस अपने दर्जे पर बैठा हुआ है, उस–उस दर्जे का संसार सब को दिखलाई दे रहा है। अहो! तो बस यह ज्ञान ही ज्ञान है और यहाँ कौन है ?" यदि इस प्रकार विचार जाग गया, तो ध्यान खुल गया। ऐसी अवस्था में उसके लिये संसार में कोई उलझन नहीं रहती है। सामान्य जन तो किसी दूसरे

के सुख को देख कर सहन नहीं करता, अपना सुख ही लेना चाहता है। परन्तु एक ही ज्ञानदेव के दर्शन होने पर पता लगेगा कि अब मुझे अपने लिये संसार के सुखों की आवश्यकता ही नहीं है और मैं किसी के भी सुख को देखकर सुखी हूँ। मुझे तो अपने लोक में ही आनन्द है। अपने अन्दर यह सब समझने के लिये मन को जगाये। सब के सुख में सुखी (मैत्री) दूसरों के दुःख में दयावान (करुणा), किसी के गुण को पहचानना व वाह वाह करना (मुदिता) तथा अवगुण किसी भी दूसरे के नहीं देखना (उपेक्षा) आदि भगवान् के बलों को अन्दर उपजाने का यत्न करे। थोड़ा सा राग, द्वेष आदि बन्धनों से टला रहे व उलझन में कहीं भी न फँसे। यदि आप इन भावों के लोक में जी रहें हैं तो आपका कोई भी बाहर वैरी नहीं है। समझो ! अब ब्रह्म लोक में आप पहुँच गये। यह ब्रह्मा का लोक है। जैसे सब बच्चों के प्रति पिता का एक जैसा भाव होता है, ऐसे ही ब्रह्मा रूप पिता का सब संसार के जनों के प्रति भाव होता है। ब्रह्मा जिसने सृष्टि पैदा की है, एक सूक्ष्म शक्ति है। यह सब आपके अन्दर ही है, देखने वालों को ही दिखलायी देगी। परन्तु जब तक इतनी बारीकी में वहाँ तक मन नहीं जागेगा, जो मन अब संसार में जाग रहा है, तो यह शक्ति कैसे दिखलायी देगी ? इस बारीकी के स्थान में पहुँचने पर सब का मन एक रूप हो जाता है, तो वही ब्रह्मा की शक्तिं है। यह मनुष्य ज्ञान के लोक में तो अभी नहीं पहुँच पाया है अर्थात् भावना के लोक में है।

अब भावों के चक्कर में भी ज्यादा रहना ठीक नहीं है। इस लोक को ज्यादा समझने की आवश्यकता ही नहीं रह गयी तो ऐसी अवस्था में विवेक जागने पर आपको पता लगेगा कि "इस संसार का सत्य क्या है ?" " बस ! एक ही ज्ञान देव भगवान् है, एक भगवान् ज्ञान रूप से सब जगह फैला हुआ है।" जब आपकी समझ में एक ही ज्ञानदेव चेतन रूप भगवान्

सब जगह लीला करता हुआ नज़र आ गया तो समझो आप बैकुण्ठधाम (विष्णु लोक) में पहुँच गये। इस लोक में आपको अनुभव होगा कि जो कुछ भी समझ में आ रहा है व दिखलाई दे रहा है, बस ! ज्ञान ही ज्ञान है। बेटे की दृष्टि में हड्डी चमड़े का पुतला बाप समझ में आया, तो बाप भी ज्ञान रूप हुआ। ज्ञान हुआ, तो वस्तु बनी। किसी आवाज को जब सुनने लग गया, तो ज्ञान ही हुआ, तो ही आवाज जैसी कोई वस्तु बन गयी, अन्यथा नींद में बाहर के कितने ही शोरगुल का पता नहीं लगता है। मन ही सब कुछ बनता है। शास्त्र दर्शन के सिद्धान्त व तर्क वितर्क द्वारा यदि आप इस खेल को समझना चाहेंगे, तो यह मिथ्या चेष्टा है। उनके रास्ते जानने से इनका साक्षात्कार नहीं होता कि "तत्व क्या है ?"इसके लिये बारीकी में जाकर स्वयं वैज्ञानिक मन जगाये। वह वैज्ञानिक मन अपने आप अन्दर से समझेगा कि "क्या वस्तु क्या है और सत्य किसे कहते हैं ? " इनके लिये पहले आपका मन काम लोक व भाव लोक से निवृत्त होकर ध्यान करने लगे कि "क्या समझ में आ रहा है ?" "बस ! जो समझ में आ रहा है वह ज्ञान ही ज्ञान है।" यदि ज्ञान जागता है, तो कोई वस्तु है, ज्ञान नहीं है, तो कुछ भी नहीं है। कान से जो कुछ भी सुनाई दिया व नेत्रों से जो कुछ भी दिखलाई दिया इत्यादि–इत्यादि सब ज्ञान रूप है। ज्ञानदेव ही भगवान् है, जो कि शास्त्रों में विष्णु के नाम से प्रसिद्ध है। उसी ज्ञानदेव के ही सारे नाम है– विष्णु, व्यापक, भगवान् आदि। यह सत्वगुण का अधिष्ठाता है। विज्ञानमय सारा इसी का लोक है, जो कि इन्द्रियों का ज्ञान है और जहाँ तक बुद्धि समझती है, यह सब इसी का लोक ज्ञान विज्ञान स्वरूप है। वही व्यापक भगवान् सत्व रूप से सब जगह है। यही विराट सारा जितना लम्बा चौड़ा संसार आप देख रहे हैं यह सब एक विष्णु रूप है। परन्तु ये सब बाहर के ही लोक हैं। जहाँ तक इन्द्रियों का ज्ञान है, ये सब बाहर के ही लोक हैं।

बुद्धि ही समझती है कि "यह घड़ा है या यह अमुक (फलाँ) वस्तु है व इनको जानने वाला 'मैं' हूँ।" यहाँ यह " है" और "हूँ" भी करनी पड़ती है। फिर उधर "है" से हट करके एक लोक और है जिसको शिवलोक कहते हैं। जब इस विराट विष्णु लोक को देखते देखते थक गया कि " बस एक ही सकल ज्ञान विज्ञान रूप है, फिर इसको न्यारा न्यारा क्यों समझना, इनका ज्यादा ख्याल क्या करना आदि ?" तो यहाँ क्या खयाल करना, बस ! मन जागते जागते ही उनसे लौट गया। जैसे नींद में वह कुछ नहीं समझता, तो ऐसे ही जागते जागते वह ध्यान में भी कुछ नहीं समझता। यह शिव की शान्त समाधि है। सारा जानना आदि भी समाप्त कर दिया कि " कुछ है ही नहीं " अर्थात् सब कुछ मन से उतार दिया। "अब क्या समझाना ?" तो वह "है", "न है" के चक्कर से भी निकल गया। यह भी एक लोक है, जिसमें पहले से भी अधिक मौज मस्ती है व इसको शिव लोक कहा जाता है। इन लोकों से भी निकलना पड़ता है, वरना इन्द्रियाँ फिर जागेंगी व कुछ संसार को समझने के लिये विवेक करेगा, तो आवागमन इसमें भी रहता है, ज्ञान यहाँ भी जागता रहता है।

फिर इन सब लोकों से भी मुक्ति का रास्ता यह है कि ज्ञान द्वारा ही अपने मनमें समझ लिया कि " जब है ही कुछ नहीं , तो थोड़ा दुःख समझने व सहन करने का बल यहाँ होना चाहिये।" "इनके सम्बन्ध से क्या सुख होता है मुझे वह सुख भी नहीं चाहिये।" जब मन बाहर संसार में खुलता है, तो दुःख मानता है और एक जगह सुखी भी होता है। इसलिये थोड़ा दुःख को भी देखते देखते ऐसे ही टाल दे, जैसे सुख को भी देखते–देखते टाल दिया था। इस प्रकार उधर सुख देखते–देखते टल गया व दुःख आया, वह भी किसी तरफ सोचने, समझने और करने कराने में नहीं ले गया, तो आप मुक्त अवस्था में है। यदि कुछ संसार में ही करने कराने में

लग गये, तो काम लोक है। यदि कुछ देखने सुनने लग गये, तो र्स्वगलोक है। कुछ सोचने लग गये अर्थात् भाव में है तो ब्रह्मलोक। यदि सोचकर कुछ समझने लग गये तो विष्णु लोक है। यदि समझ को छोड़कर कुछ भी नहीं समझने की अवस्था में जाओगे , तो शिवलोक है। मुक्ति के रास्ते में सोचना भी कुछ नहीं है। "बस ! जैसा है, आता जाये, जाता जाये।" " आई तंरग गई तंरग।" "बस ! भगवान् आई गई तंरग में ही एक बार झाँकता है और एक बार सो जाता है। इतनी तेजी से मन के अन्दर यदि भगवान् दिखलाई देने लग गया, तो समझो क्षण क्षण में भी मन जाग गया। इसको ही शास्त्र वाले "तारक मन्त्र" कहते हैं ,जो इस भवसागर से पार करने वाला है। साधारणतया ऐसा कहते हैं कि "काशी में जो मरते है, उनको ही मुक्ति प्राप्त होती है।" काशी शब्द का अर्थ है कि " जहाँ ज्ञान पूरा जाग जाये।" तो कौन ज्ञान जागता है ?" यही तारक ज्ञान।" तारक ज्ञान यही है कि आपका मन क्षण–क्षण में जागृत अवस्था में हो। जैसे आधा घण्टा से आपको किसी अंग में दर्द हो रहा है। आप तो केवल आधा घण्टा से इस दर्द को ही जानते हैं। परन्तु जिसका वह ज्ञान (तारक मन्त्र) जाग गया है, वह आधा घण्टा दर्द के बीच में जितनी देर भगवान् तरंग–तरंग रूप में जाग रहा था, वह सब साक्षी भाव से दर्द होते हुए क्षण–क्षण में देख व पहचान रहा था। कभी दर्द का तरंग नजर आया अर्थात् उसको पता है कि "कभी वह बनता है तो कभी मिटता है।" जैसे पानी में तरंगे चलती है। कभी तरंग ऊँची दिखाई देती है तो कभी गड्ढा दिखलाई देता है। जहाँ पर गड्ढा है, वहाँ कहाँ ऊचाई है, फिर इस गड्ढे के बाद आगे फिर तरंग बनती है। इसी प्रकार ज्ञानदेव भी एक बार झाँकता है और एक बार सो जाता है। यह अनन्त ज्ञानदेव भगवान् का झाँकना कभी समाप्त नहीं होता। एक बार आँख बन्द करने पर माया को अवसर (मौका) देता है कि संसार को रच दे।

जब ज्ञानदेव अपनी आँख खोलता है तो उस माया को तोड़ देता है। यह अनन्त लीला इस ज्ञान रूप भगवान् की सब के अन्दर चलती रहती है। परन्तु यह लीला तब समझ में आती है, जब मनुष्य के अन्दर सब जगह दुःख सुख सम हो जाये अर्थात् दुःख सुख में वह चलायमान न हो। दुःख सुख के क्षणों को भी देखते–देखते व्यतीत कर दे अर्थात् गुजार दे। इसको कहते है कि उसको क्षण का ज्ञान जाग गया। जब इतनी बारीकी में ध्यान जाग गया और मन उस अवस्था में किसी को भी नहीं पहचानता कि " क्या वस्तु क्या है ?" " अन्दर क्या है ?" कौन अवस्था थी ?" "राग था या द्वेष था, जैसा कि पहले समझता था।" अब कोई समझने की जरूरत ही नहीं रही कि " दुःख है या सुख है व कितनी देर से है या कितनी देर से नहीं है, नींद है कि क्या है ?" सारे लोकों की जो कथा है, वह यहाँ आकर के मिल जायेगी। यह शास्त्रकारों द्वारा बताया हुआ निर्वाण, मोक्ष या परमपद है। यहाँ पर उस ज्ञान रूप भगवान् की अनन्त शान्ति हर समय रहती है। उसका ज्ञान कभी सोता नहीं है और नष्ट भी नहीं होता है। एक सैकिण्ड में लाखों तरंगें भी वह बहाता है। तरंगें इस प्रकार बहाता है कि जैसे एक तरंग ऊपर उठी, फिर नीचे गई। उसके बीच में उस भगवान् का ज्ञान जागता रहता है। उसको कभी शंका ही नहीं होती कि मैं मर गया या नष्ट हो गया।" जिसके अन्दर यह भगवान् का ज्ञान जाग गया तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि उसकी अविद्या (बाहर की तरफ कुछ जानने की लपक व झोंक) समाप्त हो गई और उसको अपने स्वरूप का साक्षात्कार हो गया। उसको अब बाहर संसार के ज्ञानों को जगाने व उनके पीछे भागने की आवश्यकता नहीं रही, जो कि सामान्य जन को है।

परम मुक्ति का स्थान पाने के लिये मनुष्य को इस प्रकृति के बन्धन से पार होना है। प्रकृति की दासता छोड़ने के लिये पहले सब अच्छे कर्म करने हैं। इससे थोड़ा प्रकृति का विरोध

होगा। फिर अपने आपको खाने पीने के बारे में संयम में रखना होगा। इसमें भी प्रकृति की तरंगों को जीतना पड़ेगा। ऐसा करने से तंगी होगी, उसको भी सहन करना पड़ेगा, उस तंगी को सहन करने से अन्दर का मन जागेगा और अन्दर के मन की आँख खुलेगी। इस प्रकार से पहचानते–पहचानते यदि थोड़ी निद्रा के ऊपर भी काबू पाया तो समझो सबसे पहले उसका स्वर्ग लोक खुल गया, जहाँ इन्द्रियाँ सारे संसार को समझ रही हैं, परन्तु कामलोक की तरह नहीं, जिसमें मनुष्य देखता है कि " मेरा लाभ व सुख किसमें और कहाँ है?" लाभ का मतलब है कि संसार की वस्तु को पाने की कामना व उसको पूरी करके सुख लेना। यही काम लोक की दासता है। काम का अर्थ है इच्छा, जो सब अन्त में दुःख में समाप्त होती है। उस इच्छा का सुख सदा बना नहीं रहता। विवेक कर करके देख लिया कि " कामना का सुख तो रहता नहीं, फिर क्यों अधिक इनके पीछे पड़ना ?" ऐसे मनुष्य को स्वर्गलोक का सुख मिलता है अर्थात् काम लोक से निवृत्त हो करके अकेले में बैठ करके फिर जरा निद्रा को भी टालकर आँख, कान, नासिका (नाक) आदि को खोले, तो उसको स्वर्गलोक का अनुमान जीते जी (जीवनकाल में) ही होगा। यही देवलोक भी है। जैसे आँख के देव सूर्य व मन के देव चन्द्रमा, कान के देव दिशायें, नाक के देव अश्विनी कुमार, चमड़ी के देव वायु और जिह्वा के अन्दर वरूण देव है। भुजाओं में इन्द्र देव व पाँव में विष्णु और हृदय में चन्द्रदेव है। इनके बाद यदि भाव जाग गया, जैसे कि दूसरों के सुख में सुखी, द्वेष नहीं , दूसरों के दुःख में दया, किसी से भी चिढ़ना नहीं , दूसरो के गुण तो देखना व पहचानना, अवगुण नहीं, मन कहीं भी बाहर उलझे नहीं व संसार से दूर किनारा करने का यत्न करना। इन सब भावों में जागता रहे, तो ब्रह्मलोक वासी है।

ब्रह्मलोक के बाद यह विवेक करना आरम्भ किया कि "ससांर क्या है ," किसने बनाया है, कैसे चलता है आदि–आदि, इस जगह बैठा मनुष्य जो ध्यान में सोचेगा तो उसको फिर शास्त्रों के शब्दों की भी इतनी आवश्यकता नहीं है। ध्यान को एकाग्र करके बुद्धि जगानी होगी। अन्त में उसको मालूम होगा कि " यह सब एक ही परमात्मा है" " विज्ञान जागता है।" (जो बुद्धि निश्चय करती है वह सब विज्ञान रूप है।) यह सारा जितना है व्यापक भगवान् का विष्णु लोक (विराट) है। यह अनन्त है। इसके सिवाय और कुछ नहीं है। जब यही है तो फिर किससे राग द्वेष करना, क्या कामना (इच्छा) भी करनी है। विज्ञान ही विज्ञान (बुद्धिज्ञान) तो है। उसका निकट से प्रत्यक्ष अनुभव होता है। जब मन कामनाओं व नाना प्रकार के राग द्वेष में जकड़ा हुआ है तो मनुष्य को कभी भी समझ में नहीं आ सकता कि सारा संसार विज्ञान रूप भगवान् विष्णु है चाहे आप इसके बारे में कितना ही किसी से सुन व पढ़ लें , आप को कोई विशेष प्राप्ति होने वाली नहीं है, जब तक संसार के प्राणी व पदार्थों में मन बँधा हुआ है। जब आपने काम (इच्छा) को बीच में से टाल दिया, तो प्राणी व पदार्थों में वह सत्व या बल नहीं रहता और वह आकर्षण (खिंचाव) भी नहीं रहता, जिससे मनुष्य का मन उनकी ओर भागता है। "बस जहाँ है, मुख फेर लिया, अधिक इनके लिये सोचना ही नहीं।" जब इनके लिये अधिक सोचना ही नहीं, फिर इनका आनन्द केवल ज्ञान में मिलता है। उनका खाली जानना ही बच्चों के द्वारा वस्तुओं को जानने के समान सुख रूप होता है। उस समय आनन्द (सुख) जो है, उसको भी सब ज्ञान रूप समझना। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से जो भी कुछ नजर आता है अर्थात् दिखलाई देता है, विज्ञान ही है, विज्ञान को छोड़कर कुछ नहीं, चाहे मन में कहीं संस्कार जागते हैं, कहीं उधेड़बुन में पड़ते हैं कि "यह क्या है, वह क्या है ?" जितना बच्चे के अन्दर ज्ञान जन्मा है वह उतना ही समझा

है। विज्ञान को छोड़कर उसके अन्दर कुछ नहीं। ऐसी अवस्था में जो साक्षात्कार होता है वह वैकुण्ठधाम का साक्षात्कार है। जहाँ ज्ञान बाहर की वस्तुएँ बताता है और उन्हीं के बारे में कल्पना करता है कि " यह क्या है, वह क्या है ?" यह विज्ञान भगवान् रूप है। परन्तु "है" तो अभी कोई रखी हुई है। अब यदि "है" सत्व से भी छुट्टी मिल जाये, तो फिर यह सोचने की आवश्यकता ही न पड़े कि " कौन क्या है, क्या नहीं है ? " वे ही सब सुख दुःख के बारे में सोचने के लिये विवश (लाचार) करते हैं। ऐसी अवस्था में आपने सुख दुःख को भी सम करना है। सुख आया तो वह देखते–देखते निकल गया और पता ही नहीं चला कि कितनी देर तक बना रहा। परन्तु इतनी बारीकी में जा करके क्षण–क्षण उसका पता लग रहा था कि कुछ सुख आ रहा है। ऐसी सुख की अवस्था में यह इच्छा ही नहीं हुई कि वह सुख (सत्व) बना रहे। इसी प्रकार दुःख आया। उसको भी टालने की इच्छा नहीं हुई। क्षण–क्षण देखते हुए वह दुःख भी निकल गया। जब सुख व दुःख दोनो देखते देखते निकल गये तो समझो तब आपका क्षण चेत गया अर्थात् क्षण का ज्ञान जाग गया। अब प्रत्येक (हरएक) क्षण मीठा व प्यारा होगा। इसमें जो कुछ भी लोक नजर आयेगा वह अन्तिम फल है। बस ! यह सत्य ज्ञान उत्तम है, यही निर्वाण परम पद है। भगवान् इसमें टिका हुआ है। जो भी मनुष्य इस प्रकार उस भगवान् की भक्ति करेगा, सब अच्छे गुणों को अपनायेगा और दस बलों को संचय (इकट्ठा) करेगा, तो अन्त में वह इसी गति को प्राप्त करेगा अर्थात् इसी परमपद की अवस्था को पायेगा। यह गति नहीं बल्कि मुक्ति है। गति तो लोकों की थी। पहले तो स्वर्गलोक , ब्रह्मलोक , विष्णुलोक, शिवलोक ही मिलेगें। अन्त में यह निर्वाण परमपद है।

इस ऊपर कहे हुए को प्राप्त करने के लिये पहले कामलोक से छुटकारा होना चाहिये। परन्तु मन इस संसार में प्रकृति

के बल से बँधा हुआ है, जिसकी ताकत (बल) बड़ी है । प्रकृति के बन्धन में कोई नहीं रहना चाहता, परन्तु उसके बल के कारण जीव बँधा हुआ है । उसका सत्य ज्ञान सोया हुआ है । पत्थर जैसा भी कोई नहीं रहना चाहता है कि " चलो जी , ज्ञान को संसार की कामना के रास्ते से ही जगा लें अर्थात् कुछ खा पी लें, गप्पें ही लगा लें, यह देख सुन लें व दूसरों की संगत कर लें ।" यह प्रकृति की दासता है । पहले कामलोक की दासता, उसके बाद इन इन्द्रियों के लोक की दासता, फिर मन व बुद्धि के लोकों की दासता है । शिवलोक के बाद परम पद है । सुख की दासता छोड़ने के बाद मोक्ष धाम है । यह सब अपने आप समझने का है । सबसे पहले करना तो यही है कि साधारण संसार के जीवन से थोड़ा मन ऊपर उठे, और उस जीवन से ऊपर उठने के बाद अर्थात् बचपन से जो सांसरिक जीवन का रास्ता मिला है और विषयों के सुख की कामना करने का भाव बना है उससे थोड़ा मन जाग कर सत्य को पहचानने का यत्न करें, थोड़ी तंगी (क्लेश), दुःख झेलने की आदत बन जाये व एकान्त में थोड़ा जीने का रास्ता मिल जाये । सब साधनों की जड़ (मूल) बीज यही है, जिससे आध्यात्मिक जीवन (अपनी आत्मा में जीने का रास्ता) व निर्वाण (परमपद) की प्राप्ति होगी । यही सारे कहे हुए का निचोड़ है ।

प्रवचन

३.१.१९८७

जैसा कि कल प्रकृति के बन्धनों और इनसे छूटने के लिये भगवान् के दस बलों के बारे में बताया था, आज उनके बारे में थोड़ी विस्तार से चर्चा की जायेगी। इस संसार का इतना भारी मोह है कि जिस समय कोई भी जीव (प्राणी) मरने लगता है, तो उसको इस संसार से छूटने की इच्छा नहीं होती अर्थात् वह इसमें ही सदा बना रहना चाहता है। उसको यही भय रहता है कि " कहीं मैं इससे बिछुड़ न जाऊँ।" यह संसार ही एक उत्तम वस्तु के रूप में उसके मन में बसा हुआ है और वह सदा इसमें बना ही रहना चाहता है क्योंकि जीव संसार के प्राणियों के मध्य में होता हुआ ही अपने आपको बना हुआ या बसा हुआ समझता है। इन प्राणियों के बिना उसको अपने होने का ज्ञान तक ही नहीं रहता अर्थात् अपना विनाश सा प्रतीत होता है। इसीलिये इसे संसार के चक्र काटते रहना पड़ता है ताकि उसको अपने आप का बने रहने का अनुभव होता रहे।

जो प्राणी इस संसार के जीवों से बिछुड़कर भी अपने आप में अपनी आत्मा के ज्ञान को या अनुभव को रख सकता है उसके लिये संसार की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। मन यदि वह केवल आत्मा में ही अपने आप को अनुभव करता हुआ स्थिर रहे तो यह मुक्ति का पद है और यदि अपनी केवल आत्मा में अपने आपको अनुभव न कर सका तब भी अपनी इन्द्रियों के संग से अपना मैत्री इत्यादि भावों को रखता हुआ या संसार के तत्त्व का चिन्तन करता हुआ अपने आप में सन्तुष्ट रहता है तो यही भिन्न–भिन्न प्रकार की लोकों की गतियाँ हैं, जिनका कि पिछले व्याख्यान में विस्तार से निरूपण कर दिया गया है। धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन के मार्ग

पर चलने का उद्देश्य यही है कि मनुष्य जीवन काल में ही इस संसार से बिछुड़ने का दुःख देख ले, तो फिर उसको मृत्यु (मौत) का भय नहीं रहेगा। धार्मिक जीवन को देखने वाले वा धर्म के तत्त्व को पहचानने वालों ने समझा है कि मृत्यु से इतना घबराने की कोई आवश्यकता (जरूरत) नहीं है। इस संसार में मरने वाली कोई वस्तु नहीं है और सारे शास्त्र भी इसी बात की पुष्टि करते हैं कि "आत्मा अजर अमर है, यह तो मरता ही नहीं है।" गीता में भी कहा है " न जायते म्रियते व कदाचित् इत्यादि।" अर्थात् वह आत्मा कभी उत्पन्न भी नहीं होता है और मरता भी नहीं है। परन्तु इतना पढ़ने सुनने से ही मनुष्य को विश्वास नहीं होगा। जब कोई वस्तु प्रत्यक्ष देख ली जाती है तभी उसका विश्वास हो जाता है। मनुष्य केवल अपने आप से ही यह नहीं समझ सकता कि संसार से बिछुड़ने के बाद भी उसका ज्ञान रूप आत्मा ज्यों का त्यों अर्थात् वैसा का वैसा ही बना रहता है और ज्ञान ही मनुष्य की आत्मा है। पाँचो ज्ञान इन्द्रियों व मन के सहारे से वह होते हुए ज्ञान को सदा बनाये रखना चाहता है। भले वह आँखों से देखना, कानों से सुनना, मन से सोचना आदि कुछ भी हो। उसके मन के अन्दर इस प्रकार ज्ञान का होना चलता रहे, तो वह समझता है कि "कुछ बिगड़ा नहीं है और मै इस संसार में जीवित हूँ।"

२. यदि जीवन रहते ही उसको यह अनुभव हो जाये कि " ठीक है, मैने एक ऐसी अवस्था देख ली है, जहाँ पर संसार का नामोनिशान नहीं था, परन्तु मेरे अन्दर ज्ञान बिल्कुल पानी की धारा के समान बह रहा है अर्थात् जैसे कि किसी तालाब के अन्दर बड़ी बड़ी तरंगें उठती रहती हैं और शान्त होती रहती हैं और कभी भी तालाब का पानी ऐसे नहीं रहता, जब कि वह तरंग शून्य हो अर्थात् कुछ न कुछ उस पानी के बीच में हरकत होती रहती है," तो उसको पता लगेगा कि मेरे अन्दर भी यह ज्ञान (समझ) का जीवन सदा बना ही रहता

है। इसमें ज्ञानदेव सदा स्फुरित होता ही रहता है। ऐसा नहीं है कि ज्ञान का अत्यन्त अभाव हो जायेगा या ज्ञान नहीं रहेगा। धार्मिक जीवन का आवश्यक तौर पर होने वाला फल यही है कि जो मनुष्य इस मार्ग में चलता हुआ सफलता प्राप्त कर लेता है उसको सदा एक रस बने रहने वाला ज्ञान रूप आत्मा का साक्षात्कार होता है। जो सब से प्रथम इस उत्तम फल को जानने पहचानने वाला हुआ है, उसी का नाम भगवान् है। ये वेद शास्त्र इत्यादि उसी भगवान् को पाने का रास्ता बताते हैं और इन्ही में ही सारी बातें उसी उत्तम फल वाले जीवन पर चलने के लिये बताई गई हैं। तो यह प्रकृति के मार्ग से विपरीत भगवान् का मार्ग है। प्रकृति का रास्ता तो संसार में धकेलने वाला है तथा यह इसी का ही काम है कि संसार के बीच में अन्धाधुन्ध बहाते रहना अर्थात् जन्माते मारते रहना। साँप, बिच्छू, शेर, व्याघ्र, कुत्ता आदि सभी जीवो को इन्द्रियों व मन द्वारा यह प्रकृति बाँधती है। इन्द्रियाँ बाहर के प्राणी व पदार्थों का ज्ञान करवाती हैं और मन उन्हीं की उधेड़बुन में बहता रहता है।

मन ही भय इत्यादि पैदा करता है, काम (इच्छा) उत्पन्न करता है, क्रोध उत्पन्न करता है व लोभ उत्पन्न करता है। प्रकृति इन सारे तत्त्वों को अपने में ही बसाये बैठी है। अब यदि इस प्रकृति के चंगुल में ही जीव रह गया, तो समझना, चाहिये कि यही जीव मरने से डरता है। वह समझता है कि 'अहो ! यदि मैं इस संसार से आँखे बन्द करूँगा, तो मैं नहीं रहूँगा।" उसको कोई पता नहीं कि "बारीकी में कौन तत्व ऐसा है, जो इस जीवन का कारण है और ज्ञान कौन सा है।" ऐसे जीव को कर्मयोग, भक्तियोग (ध्यानयोग) व ज्ञान-योग आदि का भी कुछ पता नहीं लगता है, कारण कि वह तो काम क्रोध आदि प्रकृति के विकारों में ही उलझा रहता है।

४. योग नाम जुड़ने का है। यदि कर्म के साथ जुड़ करके कोई कर्म किया, तो वह कर्मयोग है। यदि प्राण की क्रिया के

साथ जुड़ करके श्वाँस लेते छोड़ते गये, तो क्रियायोग हो गया। इसी तरह यदि ध्यान में मन जोड़ दिया अर्थात् एक ही तरफ विचार करने में व विचार कर के सत्य पहचानने में मन को लगा दिया तो यह ध्यान योग है। थोड़ा थोड़ा करते करते आदत पड़ जायेगी । ज्यों ज्यों गहराई में जाते जायेंगे, एक दिन यही ध्यानयोग व क्रियायोग सारे संसार से आपका मन लौटा कर आपकी देह के अन्दर इकट्ठा कर देगा। इस देह के अन्दर इकट्ठी हुई हुई शक्ति सुख देगी। आपको मालूम होगा कि "संसार से बिछुड़ने के बाद तो सुख होता है, दुःख नहीं होता। फिर आपको यह भी ध्यान में आने लग जायेगा कि "नींद में भी तो संसार से ही बिछुड़ते हैं और क्या होता है ?" " इसी प्रकार जागते जागते संसार से बिछुड़ गये, तभी यह अन्दर का सुख मिला।" इसी तरह मृत्यु में भी संसार ही छोड़ना है। और संसार छोड़ने पर कोई अपने आप का खो जाना या अपने आप का विनाश हो जाना नहीं है।

५.अब यदि इस संसार को छोड़ने के बाद भी आप यह चाहते है कि आपके मन के अन्दर किसी प्रकार संशय, भय आदि न रहे व ऐसी उत्तेजना भी न हो कि " ये सारे प्राणी व पदार्थ बिछुड जायेंगे, या मैं अकेला पड़ जाँऊगा, तो इसके लिये यह आवश्यक है कि पहले जीते जी ही मर करके देख लें '। इसमें मरना यही है कि जीवन काल में ही कामनाओं (इच्छाओं) को त्याग देना और उसके फल को तुच्छ समझ लेना व बाहर मन कहीं भी उलझा हुआ न रहे। यही समझो, संसार से मर गये। जैसे इस संसार से मर गये मन उधर नहीं रहा, फिर भी वह पहला प्रकृति का बन्धन अवश्य है। यह आदत से पुनः पुनः उधर बाहर संसार में ही मन को जाने के लिये प्रेरित करेगा व उधर ही धकेलेगा। ऐसी अवस्था में बुद्धि जगा करके बाहर जीवन के फलों को तुच्छ समझना। यह बताना ध्यान योग का काम है कि जिधर संसार की ओर मन जा रहा है, उधर सुखादि कुछ नहीं रखा है। जो कुछ

संसार में मिलना है, वह फल तो तुच्छ (थोड़ा) व सदा बना रहने वाला नहीं है। इस प्रकार भी यदि आप मन में जागते रहे, तो ब्रह्मलोक में आप जाग रहे है कारण कि आप अपने मन में व्यापक सत्य के बारे में विचार कर रहे हैं। ये भी सारे देवलोक ही हैं। इस रीति से विचार करते रहने पर मृत्यु से डरने की आवश्यकता भी नहीं कि " इस संसार से बिछुड़ जायेंगे तो पता नहीं कहाँ चले जायेंगे ?"

६. और कहाँ जाना है ? स्वर्ग आदि लोकों में विचरेगें कहीं नष्ट तो नहीं होगें। इस प्रकार विनाश की शंका वहाँ पर कभी भी नहीं होगी। जो मनुष्य इसी संसार के जाल में रह कर मर जाता है, उसको इससे बिछुड़ने का डर अवश्य है। इस संसार में तो प्रकृति का राज्य है। इसी के खोंटे कर्म, उन्हीं के खोंटे भाव व उन भावों के अनुसार इन्हीं में रँगा हुआ और उन्ही के साथ बँधा हुआ जो मरेगा, उसको मृत्यु से डर भी लगना है। उन संसार में किये गये कर्मों का अपना अपना परिणाम (नतीजा) भी है। जैसे कोई मनुष्य बाहर खोटा काम करता है, तो नींद में भी उसको खोटे स्वप्न ही आते हैं। जैसे वह शक्ति बाहर से कर्म किये हुए लौटेगी, तो आगे वैसे ही अपने अन्दर वाले भावों के अनुसार वह रचना भी करती है। इसलिये यदि आपने जीवन काल में ही यह सारा खेल देख लिया, तो आप इसके जाल से निकल भी जायेंगे। फिर मनुष्य बाहर ऐसा कोई अनुचित कर्म करेगा भी नहीं, जिसके लिये बाद में पछताना पड़े। बल्कि अनुचित कर्म करवाने वाले सब तत्वों को रोक देगा। मिथ्या कर्म करवाने वाले है, यही अनुचित सुख की इच्छा करना और थोड़ा दुःख से भय मानना। थोड़े सुख की प्राप्ति के लिये व थोड़े दुःख से बचने के लिये ही मिथ्या (खोंटे) कर्म होते हैं। इन सब खोंटे कर्मों से ही अपना किनारा कर लेना है। अपने आपको इतना संयम में रखना है कि थोड़ी तंगी तो सहन कर लेना, परन्तु किसी दूसरे को दुःख देने के लिये तैयार न

होना। फिर कोई भी ऐसा कर्म नहीं होगा, जो एकान्त में जाकर के मन में दुर्भाव पैदा करेगा व शंका व भय आदि उत्पन्न करेगा।

७.जब तक मनुष्य का जीवन शुद्ध नहीं हुआ, तब तक उत्तम फल की प्राप्ति नहीं बन पायेगी। बाहर प्रकृति की दासता होने के कारण जीवन शुद्ध नहीं हो पाता है। प्रकृति एक ऐसी शक्ति है, जिसने यह सारा संसार चला रखा है। उसके तत्व काम , क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि से कर्म करने की आदत बनी हुई है। उनका सुख तो बहुत थोड़ा ही है जिसका माप अभी ध्यान में नहीं आया है। यदि ध्यान में आपने सांसारिक मिथ्या सुख को माप तौल लिया और उसकी तुच्छता देखते हुए अपनी बुद्धि को चेतन कर लिया, तो आप उस तुच्छ सुख को छोड़ भी सकते हैं। यदि उस इच्छा के सुख को नहीं छोड़ते हैं, तो आगे (भविष्य में) दुःख ही मिलेंगे। इनके दुःख इतने भयंकर हैं कि जो इनसे मिलने वाला सुख है वह इस दुःख की अपेक्षा कुछ भी महत्व नहीं रखता। यह सारा बुद्धियोग का काम है, जो सुख दुःख का निश्चय करवाती है। ध्यान योग के द्वारा सत्य ज्ञान को जगाना है, जिसे ज्ञान योग कहते है। इस ज्ञान के द्वारा आपको अन्दर से अर्थात् इन छुपे रहने वाले काम, क्रोध, आदि प्रकृति के तत्वों से मुक्ति मिलेगी। प्रथम यही मुक्ति कही जायेगी । पूर्ण मुक्ति तो सर्व दुःखों को देखते देखते (साक्षी भाव से) टालते जाने पर होगी । जब दुःख पूर्ण रूप से नहीं रहेगा, तब पूर्ण मुक्ति का सुख होगा।

८. मन की पूर्ण मुक्त अवस्था यही है कि आपने उधर संसार में ले जाने वाली प्रकृति शक्ति (आदतों की शक्ति) के बहने का दुःख भी सहन कर लिया। प्रकृति शक्ति उधर बह रही है, आप उधर जाना नहीं चाहते व उस प्रकृति के अनुकूल न होने से जो आपको दुःख होगा उस दुःख को आप धैर्य से देखते देखते टालने में सफल हो जाते हैं। जैसे प्रकृति

ने आपके शरीर के किसी अंग में खुजली पैदा कर दी। आप यदि नाखून से रगड़ कर उस खुजली को मिटाना चाहें, तो आप ऐसा कर सकते हैं और ऐसा करने पर वह खुजली तो मिट जायेगी, परन्तु खुजलाने से उस जगह पर छोटा मोटा घाव भी हो सकता है। परन्तु यदि आप उसको चुपचाप देखते रहे व मन में निश्चय रखा कि मैं यत्न से खुजली को नहीं मिटाता, तो खुजली मिटाने की इच्छा पूरी न होने से दुःख अवश्य होगा। कारण कि आपने प्रकृति का रास्ता रोक दिया ऐसी अवस्था में खुजली न करने का जो दुःख होता है उस दुःख को यदि आप सहन करते रहे, तो दुःख सहन करते करते थोड़ी देर में वह खुजली मिट ही जायेगी, परन्तु उधर खुजली का सुख लेने की प्रेरणा जरूर बनी रहेगी कि इसको खुजला लें। यदि इस प्रकृति के प्रेरणा में भी आप नहीं बह सके तो उस खुजली के पूर्णतया मर मिटने पर सुख स्वयं ही प्रकट हो जायेगा।

६. इन सारे प्रकृति के तत्वों काम, क्रोध, लोभ इत्यादि और इनसे होने वालों सब मिथ्या कर्मों की ऐसे ही खुजली चलती है कि "चल भई! उधर संसार में, उधर बाहर ही सुख है व उधर हमारा दुःख टल जायेगा।" इस प्रकार इन सब दुःखों को देखते देखते ही और उनके बहने का दुःख सहन करते करते जिसने काम क्रोध आदि को भी टालना सीख लिया, तो यह ज्ञानपूर्वक मुक्ति पाने का रास्ता है। उसने अपने मन के अन्दर ही देख लिया कि समझते समझते कैसे उधर से मन मुक्त हो जाता है। ज्ञान के साथ मुक्ति पाने का अर्थ यही है कि स्वयं वह समझ भी रहा है और मन उसका सब बन्धनों एंव विकारों से मुक्त हो गया है। मन के मुक्त होने से उसको अपने अन्दर सुख मालूम होने लग गया। उसको अपने अन्दर सुख होने पर अपने आप पता लग जायेगा कि बाहर से बिछुड़ना संसार से मुख मोड़ना और उधर से टल जाना

दुःखदायी नहीं है और उजड़ना या विनष्ट होना भी नहीं है। परन्तु अनन्त सुख रूप है।

१०. इस रीति से यदि किसी ने मुक्ति समझ ली और सारा आनन्द का खेल देख लिया, तो उसके लिये यह मृत्यु (मौत) नाम की कोई वस्तु नहीं है और इससे डरने की भी आवश्यकता नहीं है। परन्तु यदि यह सब खेल अभी तक समझ में नहीं आया तो फिर अज्ञान (अविद्या) में तो डर ही है कि " क्या हो जायेगा, ये सब प्राणी व पदार्थ बिछुड़ जायेंगे तो रहेंगे नहीं ?" इसका मतलब यह है कि इन्ही के सहारे ज्ञान जाग रहा था और सुख मिल रहा था। "जब ये सारे बिछुड़ जायेंगे तो फिर क्या बनेगा ?" ऐसी अवस्था में उसको वह ज्ञान रूप आत्मा तो कहीं नजर नहीं आयेगा और वह बेचारा इसलिये संसार से बिछुड़ने से डरता है व संसार को छोड़ना भी नहीं चाहता। और ऐसा भय उसको लगता है कि संसार से बिछुड़ने पर तो मैं रहूँगा या अत्यन्त विनष्ट ही हो जाऊँगा? इसी के कारण से वह पुनः पुनः संसार में चक्कर काटता है।

११.यदि ऊपर कहे हुए धर्म की रीति से, स्मृति रख करके, कर्मयोग क्रियायोग व ध्यानयोग द्वारा आपने अपने मन को अकेला करके देख लिया, तो मृत्यु का भय भी नहीं रहेगा। यद्यपि अपने मन को वश में करना कठिन है कारण कि प्रकृति (आदतों की शक्ति) जो सुख दिखलाती है, उस सुख के हम अभी पुजारी (दास) हैं। यदि उस प्रकृति के सुख के त्याग से होने वाले दुःख को सहन कर लें व बुद्धि बनी रहे, तो इसी का नाम त्यागी व तपस्वी बनना है। प्रकृति का स्वभाव ज्ञानदेव को बाहर संसार में धकेलने का है अर्थात् संसार में ही जन्म मरण के चक्र में डालने का है। मोक्ष मार्ग पर चलने वाले का यह कर्त्तव्य है कि जिस समय भी प्रकृति की तरंग आये तो उसको टालने में तंगी (क्लेश) नहीं मानना। प्रकृति की उत्तेजना (जोश) उधर संसार की तरफ

प्रेरणा करने में नहीं थकती, तो आप भी उसे रोकने में न थकें और बुद्धि व ज्ञान को बनाये रखें। यदि ज्ञान से इस प्रकृति की तरंगों कों रोकते गये और रोकने का अभ्यास करते गये, तो यही एक दिन धार्मिक जीवन बन जायेगा।

१२. संसार में जीवन यही है जो प्रकृति अपनी तरंगो से चलाती है कि बाहर ही प्राणी व पदार्थो की संगति का सुख पाकर ऐसे ही जीवन बिताओ और उन प्राणियों में भी एक रूप नहीं देखने देती कि सारे चेतन ही तो हैं, अर्थात् प्रकृति सब में एक चेतन रूप परमात्मा ही समझने नहीं देती व सब जीवों को न्यारा न्यारा दिखलाती है और पुरूषों को भी न्यारा न्यारा करके दिखलाती है। इस संसार में जितने पुरूष (मनुष्य) हैं, व्यवहार के अनुसार समझ में ही कोई प्यारा, कोई मित्र तथा कोई शत्रु (वैरी) है। इस प्रकार केवल समझ ने ही मनुष्यों को अलग अलग ढँग से बना रखा है । जैसे कोई है उसके साथ वैसा ही काम (इच्छा) है। उस इच्छा के पूरी होने से खुशी व सुख होता है और इच्छा पूरी नहीं होने से द्वेष व क्रोध होता है। यह उस प्रकृति का अनन्त राज्य है। इस प्रकृति के बीच में जितना भी कुछ है, वह सब अविवेक, अज्ञान व धोखा ही है। यदि इस प्रकृति को आप बहुत गहराई में जाकर के ज्ञान से पहचान गये, तो इस पहचानी हुई अवस्था का नाम विद्या है। यह ज्ञान भगवान् में तो स्पष्ट व परिपूर्ण है। मनुष्य उसकी पूजा करके अर्थात् पुजारी बन करके धीरे धीरे उस भगवान् तक पहुँचेगा अर्थात् ध्यान और बुद्धियोग द्वारा उसकी भक्ति करके समय पर शनैः शनैः उसके पास पहुँचेगा। जैसे परमेश्वर उस मोक्ष को जानता है, ऐसे ही आप भी पहले जानेंगे कि " प्रकृति के बन्धन किस तरह मनुष्य को जकड़ लेते हैं। यदि उसकी आज्ञा का पालन नहीं करते तो श्वाँस भी ठीक से चलने नहीं देती और मन के अन्दर उद्वेग जोश पैदा करके उसी अपनी दिशा में ही अन्धा धुन्ध ले जाती है।

१३. इसलिये श्रद्धा रख करके सारे खोंटे कर्मों से बचना और अपने आपको संयम में रखना है। प्रकृति किसी को संयम में नहीं रहने देती। उसकी तो यही प्रेरणा रहती है कि " यदि लोभ है तो इसे पूरा करो, नहीं पूरा करते हो तो मैं श्वाँस रोक दूँगी।" परिणामस्वरूप आपका श्वाँस तंगी से चलेगा,जिससे आपको दुःख होगा, आप चिढ़े चिढ़े रहेगें। दूसरे आपको बुरे लगेंगे, तो आपका समाजिक जीवन भी बिगड़ जायेगा। यह प्रकृति यहाँ तक अपना बल दिखाती है। ऐसी अवस्था में आपने थोड़ी श्रद्धा से यही करना है कि उन सबसे अपने मन को ठीक रखना है। यही धार्मिक जीवन है। यद्यपि सभी मनुष्य नहीं जानते कि इस धार्मिक जीवन का अन्तिम फल क्या है ? कारण कि सत्य का या परम तत्व का साक्षात्कार तो अभी नही किया है। तब भी श्रद्धा रखते हुए इसके लिये कमर बाँधना अर्थात् हिम्मत करना ही मनुष्य का काम है। इसमें कोई मूल्य नहीं लगता, किसी की दासता भी नहीं है। यह तो केवल अपने आपको वश में करना है और अपने आप में समझने के लिये चलना है। पहले अपने आपको बाहर खोटे कर्मों से बचाना, फिर अपने आप को संयम में रखना और स्मृति (होश) ठिकाने रख करके, प्रकृति का विरोध करने से, जो तंगी (क्लेश) हो, उस तंगी के दुःख को भी सहन करने की आदत डालना। यही स्मृति व वीर्य का काम है।

१४. यदि मनुष्य प्रकृति की आज्ञा का पालन नहीं करता है तथा उसकी इच्छा पूरी नहीं करता है, तो वह प्रकृति स्मृति (होश) को भी ठिकाने नहीं रहने देती। वह बुद्धि को सही निश्चय नहीं करने देती और सत्य को परखने नहीं देती। मन के भाव बिगाड़ देती है और क्रोधादि पैदा करके अन्धाधुन्ध उसी रास्ते पर ले जाती है, पीछे चाहे मनुष्य पछताता ही रहे कि "मैं जानबूझ कर झूठ बोल गया व दूसरे को कड़वी बात कह गया।" स्मृति (होश) ठिकाने रहेगी तो हिम्मत बन पायेगी। स्मृति के बाद दूसरा इसका साथी वीर्य है। संस्कृत

का शब्द वीर्य वीर भाव को सूचित करता है। वीर वही है कि "सामने से वैरी आ गया तो पीठ नहीं दिखलानी और उसका सामना करके उसको परास्त करना है अर्थात् उसके ऊपर विजय प्राप्त करनी है। "यही दोष विकार काम, क्रोध, लोभ, मोह , इर्ष्या जलन आदि, जो सब खोटे कर्मों की ओर प्रेरणा देने वाले हैं, अर्थात् उनकी तरफ धकेलने वाले हैं, धार्मिक जीवन में वैरी कहे जाते हैं। यदि इन्हीं के अनुसार, जो ये चाहते हैं, आप उसी प्रकार कर गये , तो समझो इनके वश में हो गये । वह वीर पुरुष नहीं होता जो इनके वश में हो जाता है। इसलिये स्मृति द्वारा, वीर्य भाव रखकर के इनको दबा देना चाहिये । भले ही अपने आप तंगी सहन कर ले, परन्तु इनको लात मार देना ही ठीक है। यही वीर पुरुष का काम होता है। आपने स्मृति व वीर्य दोनों अपने साथ रखने हैं, जो धीरे धीरे थोड़ी थोड़ी मात्रा में पहले मन में प्रवेश पायेंगे । ये अन्त में बढते बढते इतने प्रबल हो जायेंगे कि जब भी मन में काम, क्रोध आदि विकार आयेंगे या कोई खोटा संकल्प या इरादा बनेगा उसको ये तत्काल नष्ट कर देंगे।

१५. मानस (मन) का विकार अर्थात् प्रकृति से उपजा खोंटा मन ही बुद्धि को भ्रष्ट करता है। वह प्रकृति वाला मन ही किसी को वैरी जताता है, किसी की वस्तु को प्रिय (मीठी) करके दिखलाता है, भले वह वस्तु उत्तम कुछ भी नहीं है। उस प्रकृति वाले मन ने क्षण मात्र के लिये उस वस्तु को शुभ जैसी प्रकट कर दिया, कारण कि उस प्रकृति ने तो संसार चलाना है। यदि शुभ करके नहीं बताये तो फिर यह संसार कैसे चले ? आपने यदि उसको सही रूप से समझ लिया कि "यह कितनी एक शुभ है, मुझे इसका सब पता है" और सत्य को परखने के लिये अन्दर आँख खुल गई, तो समझो, धर्म के मार्ग पर अपनी बुद्धि को ठीक रखते हुए आपका निश्चय व इरादा भी ठीक ही रहेगा। यदि बुद्धि बिगड़ गई तो वह

यह निश्चय करेगी कि "नहीं। यह वस्तु तो उत्तम या शुभ है और प्राप्त करनी ही चाहिये।" यही बुद्धि का बिगड़ना है। फिर उसके लिये वैसे ही सकंल्प भी हैं तथा वैसा ही खोटा इरादा भी है अर्थात् उसको पाने का भाव भी बनेगा। खोटा इरादा है तो उसके लिये खोटे जोश भी है अर्थात् खोटी इच्छा भी है। यदि जोश है तो अशान्ति भी है । जब तक वह इच्छा की वस्तु नहीं मिलती है संसार में ही बहते रहने की लगन भी है।

१६. यह सारा ही खेल नाटक जैसे होता है। इसका पता उसको ही लगता है जो अपने मन के अन्दर इसको प्रत्यक्ष देखता रहे और स्मृति व वीर्य को जगाये रखे । दातून कुल्ला करते, नहाते धोते भी इन जोशों या विकारों को टालता रहे और इतना टालने का अभ्यस्त (आदी) हो जाये कि उसको हर समय पता लगता रहे कि " मै अपने कर्त्तव्य में लगा हुआ हूँ। इस प्रकार मेरा मन अकेले में भी आनन्द में है और दूसरों में जाकर अपने मन को प्रसन्न करने की इच्छा भी नहीं उत्पन्न होती अर्थात् अपने उद्देश्य की पूर्ति में इतना लगा हुआ हूँ कि दूसरों में व्यर्थ में जाने का अवकाश (फुरसत) तक भी नहीं । इस प्रकार अपने आपमें रहता हुआ सबके समान सब में भी रहता हूँ।" सब में किस प्रकार रहता हूँ इस बारे में पहले सप्ताह के व्याख्यानों में बताया था कि भगवान् के दस बलों को रखना पड़ता है, जिससे बाहर का जीवन ठीक ढँग से चलता है और इस बाहर व्यापक रूप व्यक्त भगवान् की भक्ति भी ठीक हो जाती है। दस बल ये हैं, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, क्षमा, शील, दान, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा। यदि मैत्री का बल आपके पास है, तो दूसरे के सुख में आप सुखी है। फिर भले आप कितने भी अपने आप में लगे रहो, दूसरो से डरने की भी आवश्यकता नहीं है। कारण कि किसी के सुख के तो आप वैरी ही नहीं हैं और दुःख में दयावान ही हैं (करुणा)। अच्छा गुण तो किसी का

भी पहचानते हैं और उसमें प्रसन्न भी हैं। परन्तु अवगुण दोष व पाप किसी का भी देखते ही नहीं या ध्यान में भी नहीं लाते, ये चार भगवान् के बल मैत्री, करूणा, मुदिता, उपेक्षा बाहर ही होते हैं। यदि ये आपके मन में पक्के हैं, तो भले आप कितने ही अपने आप में लगे रहो, एक क्षण में ही आप दूसरों के साथ जुड़ जाओगे, और दूसरों में उन्ही के समान पवित्रता के साथ खेलने लगोगे, कारण ! कि कोई भी विषय (वस्तु) वहाँ शंका करने का नहीं हैं।

१७. इसी प्रकार अन्य बल भी रखने पड़ते हैं। इन बलों के बिना मनुष्य अपने बाहर के जीवन को ठीक नहीं रख सकता बाहर का अथवा सामान्य जन विरोध होने पर अन्दर का जीवन भी निर्विघ्न (ठीक) नहीं चल सकेगा। यदि अन्य प्राणियों के बीच में रहते हुए आपका उनके प्रति ठीक भाव नहीं रहा, तो बाहर की भक्ति के बिना अर्थात् इस व्यापक जीवन रूप परमात्मा की भक्ति के बिना अपने आपको मोक्ष भी नहीं मिल सकता। यदि आप किसी के सुख में चिढ़ रहे हैं, किसी के दुःख में हँस रहे हैं, किसी के गुण की अवहेलना करते हैं और दोषों को बढ़ा चढ़ा करके कहते हैं, तो ये सब भाव संसार में आपके वैरी ही बनायेंगे । इन्ही के विपरीत मैत्री , करुणा, मुदिता व उपेक्षा हैं। दूसरे के सुख में सुखी होना, वह कोई भी हो व भले कुछ ही करके वह सुखी होता है, हमें इस बात को भी अधिक जानने की आवश्यकता नहीं है। बस हम उसके सुख में क्यों दुःखी होवें। परन्तु यदि किसी की भी अपने भले के लिये कुछ जानने पूछने की जिज्ञासा है तो यह बताने में काई दोष नहीं है कि " यह खोंटा काम है और यह करना ठीक नहीं है।" किसी के दुःख में भी हमारा थोड़ा दयाभाव (हमदर्दी) है, दूसरा भले किसी कारण से भी दुःखी हो। इसी प्रकार गुण किसी का भी हो व चाहे कितना भी छोटा हो, उसको पहचानना या देखना, दोष तो किसी के देखने ही नहीं। दूसरे के गुण अवश्य देखने

हैं, परन्तु जितना कि अपने आपको दोषों से बचा कर रखना है, उतना तो दोषों को भी समझना ठीक है परन्तु व्यर्थ में दूसरो के दोषों या पापों को ध्यान में बसाये नहीं रखना है, इसका नाम "उपेक्षा है कि समीप से बचने के अनुकूल ढँग से थोड़ा देख लिया, परन्तु अपना अहंकार दिखलाने के लिये नहीं कि दूसरे को आप दोषी बताने लग जायें और स्वयं को गुणी समझने लग जायें। दूसरे के दोष में उपेक्षा अर्थात् दूसरे के दोष में अनजान जैसे रहना। इस रीति से क्षमा, शील इत्यादि दसों इन बलों को बाहर के जीवन में अपने साथ रखे। यदि कोई अपने स्वार्थ के कारण दूसरे को थोड़ा भी दुःख दे गया, कड़वा बोल गया तो यही उसका अपराध बन जायेगा। ऐसी अवस्था में क्षमा भाव मन में रखें अर्थात् मन में दण्ड देने का भाव न रखें। साधारणतया क्षमा को माफ करना कहा जाता है, परन्तु संस्कृत में क्षमा भाव का थोड़ा व्यापक अर्थ है। इसमें दूसरे को माफ करने के साथ साथ अपने आपको शान्त करने का भी आशय है। अपने आप समीप में ही शान्त हो जाना। क्षमव् उपशमे धातु से यह शब्द बनता है। इसका तात्पर्य यह है कि दुःख से मन भड़कता है तो भड़के हुए मन में नहीं रहना। कारण कि भड़के हुए मन में अपराध बनता है, तो अपने आप को निकट रूप से शान्त कर लेना अर्थात् बाहर कुछ खोटा कर्म करने के लिये मन वाणी इत्यादि को भड़कने नहीं देना। संस्कृत वाले इसको क्षमा कहते हैं कि " अपने आप में शान्त हो जाना।" भगवान् का छठा बल "दान" है यहाँ दान का अभिप्राय है कि अपनी "मैं" त्याग देना । तपस्वी धर्म के रास्ते थोड़ा दुःख भी सहन कर लेते हैं। ये धर्म के रास्ते के दुःख सारे छोटे मोटे ही होते हैं, कारण कि यह मनुष्य का समाज है और कोई किसी को भयंकर दुःख नहीं दे सकता। समाज में रहने के लिये नियम अधिनियम (कानून कायदे) बने हुए हैं, परन्तु इतना अवश्य है कि कोई मनुष्य छोटे मोटे मिथ्या बर्ताव (व्यवहार)

कर जाता है, कोई मिथ्या बल भी अपना दिखला जाता है, परन्तु अधिक कोई भी किसी का कुछ बिगाड़ नहीं सकता। यदि कोई सहन शक्ति वाला व अपने मन को मनाने वाला मनुष्य है, वह इन सबकी अधिक परवाह नहीं करता व इनकी परवाह किये बिना अपना जीवन साधता जाता है।

१८. ऐसे उस धर्म रखने वाले व्यक्ति की यदि बाहर भक्ति भी ठीक बनी रही व कोई दूसरा वैरी भी नहीं बना हुआ, तो फिर उसको इस संसार में किसी का भी भय नहीं होगा। जब बाहर से कोई भय नहीं है, तो अपने आपमें वह व्यक्ति अपने परमार्थ कार्य में लगा रहेगा अर्थात् उसके मोक्ष मार्ग में विघ्न करने वाला कोई नहीं होगा। इस संसार में बाहर किया गया खोटा कर्म (काम) ही डराता है। यदि मन में किसी का खोटा भाव तक भी नहीं रखा, तो उसको किसी से भय नहीं होगा। जिस समय किसी से बर्ताव (व्यवहार) करना होगा, चाहे कोई अपना है या पराया, ठीक नियमानुसार (कायदे का) बर्ताव उसके साथ हो जायेगा। दस बलों में एक शील भी हैं। बाहर अपना बर्ताव सही रखना अपना दूसरों से उचित व्यवहार न मिलने पर भी अपना व्यवहार सही रखना, इसी का नाम शील है। इस प्रकार दस बलों की भक्ति करनी है। फिर ध्यान द्वारा ज्ञान उत्पन्न करके सत्य को पहचानना है। जो सत्य पहचानने में आयेगा, वही अन्तिम शुद्ध ज्ञान है। ये ध्यान व प्रज्ञा रूपी बल हैं। इन्ही को अपने जीवन में उतारने के लिये स्मृति व वीर्य की आवश्यकता पड़ती है, जिनका वर्णन पहले किया है।

१९. ये दस बल तो भगवान् के अन्दर पूर्ण रूप से विराजमान हैं, और जिसके अन्दर अभी ये बल पूर्ण नहीं हुए है, परन्तु धीरे धीरे उन्नत होते जाते हैं, तो समझो वह भगवान् का भक्त है। अब उन्नत करते करते इन बलों को यहाँ तक विकसित करना है कि अन्त में हमने यह समझना है कि बाहर एक ही व्यापक जीवन रूप परमात्मा है अर्थात् सब में

फैल रहा जीवन का अनन्त सागर रूप परमात्मा ही परमात्मा है, दूसरा मित्र वैरी इत्यादि कोई नहीं है। दूसरा वहाँ है, जहाँ स्वार्थ या काम (इच्छा) है और उसी के कारण से दूसरी दृष्टि ही है जैसे बाप, बेटा, बन्धु, भाई, मित्र, प्यारा या वैरी आदि। ये दृष्टियाँ ही संसार खड़ा करती हैं। जैसी दृष्टि, उसके अनुसार वैसी कामना अर्थात् इच्छा। उस इच्छा में जो कुछ भी दूसरा बना है, वह उस इच्छा को पूरा करने के लिये ही होता है। यदि आप बाहर व्यर्थ के स्वार्थ या रसों को छोड़ दें, तो ऐसे व्यक्ति को दस बल बढाने में कोई कठिनाई नहीं होती। यदि ये बल बढ़ गये, तो एकान्त में ध्यान में आप लग सकोगे व किसी प्रकार का बाहर से भी विघ्न नहीं होगा। अन्दर के पूर्ण सत्यों का ज्ञान भी हो सकेगा। पूर्ण ज्ञान ही होगा, प्रत्युत (बल्कि) मोक्ष पाने के लिये पूर्ण बल भी प्राप्त हो जायेगा। इस बल के कारण से मिथ्या जीवन से अत्यन्त मुक्ति भी मिल जायेगी और सच्चा सुख भी प्राप्त हो जायेगा। तब निद्रा में इतना सुख प्रतीत नहीं होगा, जितना कि इस मुक्त पुरुष को जागते जागते होगा। मृत्यु (मौत) नाम संसार से बिछुड़ने का है। परन्तु मोक्ष पाने के धर्म में लगे हुए मनुष्य को जीवन काल में ही अपने ध्यान में संसार से बिछुड़ने पर ही परमानन्द धाम मिला है। ऐसे धार्मिक व्यक्ति के लिये जीवन काल में ही संसार से बिछुड़ना रूप मृत्यु (मौत) जैसी कोई दुःख की वस्तु ही नहीं है, केवल एक अवस्था का परिवर्तन ही है, कारण कि वह ध्यान में नित्य ही संसार से बिछुडता है और तभी अपने आप में सुख पाता है। इसलिये भयभीत होने के लिये मृत्यु जैसी कोई वस्तु भी ऐसे व्यक्ति के लिये नहीं है।

२०. अब यहाँ तक मनुष्य को पाने के लिये उन्नति करनी है। इसके लिये स्वयं विचार करना है और अपने आप से ही ऐसे रास्ते पर चलना है। यही सब धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन का अन्तिम उद्देश्य है और पहुँचने की जगह भी यही

है । अब आप देख लो, अपने आप ही सोचना है, करने की युक्ति अपनी है , किसी की पराधीनता नहीं है और कुछ मूल्य भी नहीं लगता, प्रत्युत (बल्कि) छोड़ना ही पड़ता है । यही सारे कहे हुए का निचोड़ है ।



प्रवचन

४.१.१९८७

जैसा कि कल श्रद्धा, स्मृति, वीर्य आदि उपाय प्रत्यय व मैत्री, करुणा, मुदिता आदि दस बलों को साथ रखते हुये प्रकृति के बन्धनों से छुट्टी पाने के बारे में बोला था, आज ज्ञानयोग कर्मयोग व क्रियायोग द्वारा प्रकृति (आदतों की शक्ति) पर विजय पाने के बारे में थोड़ा विस्तार से बोलना है। प्रकृति का बन्धन दो प्रकार से मनुष्य को बाँधता है अर्थात् (१) सांसारिक ज्ञान द्वारा व (२) बल (शक्ति) द्वारा। एक तो सांसारिक ज्ञान द्वारा बाँधता है कि जिस प्रकार के सुख का इसको ज्ञान हुआ है अर्थात् समझ पड़ी है, उसी में मनुष्य के मन का लगाव या चिपकाव हो जाता है। इस लगाव या चिपकाव के साथ– साथ ही फिर उसी सुख को प्राप्त करने के मार्ग में चलने के लिये इसके अन्दर कामनायें (इच्छाएँ) उत्पन्न (पैदा) हो जाती है जो कि वही पहले लिया हुआ सुख दिखा–दिखा कर पुनः उसी सुख को बाहर के प्राणियों व पदार्थों के सहारे से प्राप्त करने के लिये जीव को बलपूर्वक बाहर ही कुछ न कुछ कर्म करने के लिये धक्का सा देती है। और उन कामनाओं के पूरा न होने से ही क्रोध आता है। क्रोध से मनुष्य की स्मृति (मौके की याद) ठिकाने नहीं रहती। इस कारण जो कुछ भी अपने हित के लिये जानता भी है, वह भी समय पर उपस्थित नहीं हो पाता अर्थात् मन में स्फुरित नहीं हो पाता। तो इस प्रकार समय पर स्मृति के स्फुरित न होने से मनुष्य की आत्मा का कल्याण भी सम्भव नहीं होता। यह सब प्रकृति का मार्ग ही इस जीव के अन्दर दिनोंदिन (प्रतिदिन) व्यायाम (कसरत) करता हुआ बल पकड़ता जाता है और इतना शक्तिपूर्ण हो जाता है कि इसकी आज्ञा के अनुसार न चलने पर मनुष्य की बुद्धि भी ठिकाने नहीं रहती।

यही सब प्रकृति का बल अर्थात् आदतों की शक्ति मनुष्य को बाँधने वाली है मान लो ! आपने समझ भी लिया कि इस प्रकृति के मार्ग में कुछ भी नहीं रखा है और यह तो दुःखदायी है, परन्तु आपके केवल एक बार ऐसा समझने से ही वह प्रकृति का बन्धन छूट नहीं जायेगा। इसकी शक्ति जो अन्दर व्यायाम कर चुकी है वह आदत रूप से ऐसे अन्दर बैठ गयी है कि जो आपको दिखाई तो देती नहीं , परन्तु आपकी बुद्धि, मन व इन्द्रियों को वह प्रकृति की शक्ति प्रेरित अवश्य करती रहेगी अर्थात् उकसाती रहेगी और आपके ज्ञान के दीपक को बुझा देगी।

जैसे एक छोटा सा दृष्टान्त है। आप एक सीधा कागज का टुकड़ा लो। उसको गोल मोड़ करके धागा बाँधकर १५ दिन के लिये पड़ा रहने दो। तो वही कागज का टुकड़ा यद्यपि पहले बिलकुल सीधा था परन्तु आप जब इसको जैसे १५ दिन के बाद खोलकर देखोगे तो पता चलेगा कि वह कागज का टुकड़ा इतनी गोलाई पकड़ गया है कि यत्नपूर्वक उसको खोल कर सीधा रखने पर भी वह गोल ही रहना चाहेगा अर्थात् अब यदि आप उस गोलाई पकड़े हुए कागज को बलपूर्वक खोल कर सीधा भी रखना चाहेंगे फिर भी जैसे ही खोलने के बाद थोड़ा ढीला छोड़ेंगे, तो वह कागज अपनी जगह पहुँच कर गोलाई ही पकड़ेगा। यद्यपि वह कागज पहले साफ था और उसमें कोई बल भी नहीं था। इसी प्रकार बचपन से लेकर, जिस मन ने बाहर दूसरे प्राणी व पदार्थों की संगति से जीवन को धारण किया है अर्थात् जिन प्राणी व पदार्थों के साथ जुड़ा है, उनके साथ इस मन का इस प्रकार का बन्धन (गठजोड़) हो गया है अर्थात् उस गठजोड़ का एक ऐसा ही स्वभाव पड़ गया है, जैसा कि उस कागज में उस गोलाई का स्वभाव पड़ गया था। आप यदि थोडी चेष्टा से उस कागज को सीधा भी करना चाहते थे तो भी वह कागज थोड़ा सा ढीला छोड़ने पर अपनी पूर्व (पहले)

वाली अवस्था में आ जाता था अर्थात् वह कागज कुछ समय तक गोल ही रहने का बल पकड़ गया था तथा अपनी इसी अवस्था (हालत) में अब रहना चाहता था। इसी प्रकार यह प्रकृति वाला मन बाहर ही प्राणी व पदार्थों के साथ बहुत समय तक मेल जोल करने से उनका ही सुख व संगति प्राप्त करने का अभ्यस्त (आदी) हो गया है और वहाँ से हटना नहीं चाहता। जैसे कागज कुछ समय मुड़ कर गोल पड़ा रहने के कारण गोलाई ही पकड़े रखना चाहता था। यह सब प्रकृति का ही बन्धन है, जिसने पहले तो सांसारिक ज्ञान द्वारा बाँधा है, फिर सुख को बनाये रखने के लिये और दुःख को टालने के लिये उन्ही संसार के ही प्राणी और पदार्थों का संग करवाया है। इस प्रकार बहुत समय तक वैसा ही करते रहने से यह कागज के समान बन्धन रूप गोलाई पकड़ गया है। इसलिये अब वह अपनी जकड़ी हुई अवस्था में कागज की गोलाई के समान रहना चाहता है अर्थात इसी अवस्था (हालत) में बने रहना चाहता है और इस अवस्था को छोड़ना नहीं चाहता। इस प्रकार व्यायाम करते–करते प्रकृति एक बल अर्थात् शक्ति बन गई है, जो कई रूपों में जीव को बाँधती है अर्थात् यह प्रकृति शक्ति बलपूर्वक धक्का देकर अपनी काम (इच्छा) व क्रोध आदि तंरगों के अनुसार जीव मात्र को चलाना चाहती है और संसार में ही रुलाये रखना चाहती है और जिस बल द्वारा ही संसार में रुलाये रखना चाहती है उसका नाम तृष्णा है।

जैसे कि पहले बताया है कि आपने समझ तो लिया कि इस प्रकृति के मार्ग (रास्ते) से सुख लेना ठीक नहीं है और इसमें कुछ नहीं रखा है तथा उल्टा इससे अन्त में दुःख ही प्राप्त होता है, परन्तु एक दो मिनट के सुनने पढ़ने से या अपने ध्यान द्वारा भी इतना समझने पर यह प्रकृति (आदतों की शक्ति) क्षीण (दुर्बल) नहीं होगी या नष्ट नहीं होगी। आपकी इस अल्पकाल की सत्य की समझ अथवा ज्ञान के

थोड़ा सा ढीला होने पर या आलस्य सुस्ती व नींद आदि के क्षणों में उस प्रकृति ने अपना ही मार्ग चलाना है। जैसे कि उदाहरण के तौर पर एक छोटी सी मीठा खाने की आदत को ही लो। मीठा खाने का सुख छोड़ने में कितना दुःख मालूम होता है, यद्यपि वह आदत शरीर को हानि भी कर रही है जैसे मधुमय के रोगी को करती है। डाक्टर ने मीठा खाना वर्जित (मना) भी किया हुआ है, परन्तु जिस समय मीठा खाने की याद आयेगी जब उसने समझ भी लिया है कि मीठा खाना मरने जैसा कष्ट देता है, तो भी उसका मन व्याकुल हो जायेगा कि थोड़ा सा मीठा तो मिल ही जाना चाहिये। ऐसी अवस्था में किसी समय वह प्रमाद (ढिलाई) कर ही जायेगा। जैसे ही थोड़े सुख की आशा व बन्धन के कारण उसने मीठे का सेवन किया तो उसी समय वह मृत्यु (मरण) तुल्य कष्ट पायेगा। यही चाल इस प्रकृति की है। इस प्रकृति के काम (इच्छा) रूपी तत्व ने ही मीठे का सुख दिखाकर बार–बार मीठा खाने का एक प्रकार का अन्दर ऐसा यत्न सा करवा दिया है कि मन में प्रकृति ही काम (इच्छा) के रूप में बैठ गयी है उसी प्रकार जैसे कि कागज के दृष्टान्त में कागज को कुछ समय के लिये गोल मरोड़ कर रखने पर वह गोल आकार वाली प्रकृति का ही हो गया था।

मान लो! ज्ञान से तो आपने समझ लिया कि इस प्रकृति के मार्ग पर चलने में कुछ लाभ नहीं है परन्तु इसके लिये पहले ध्यान में बैठ करके अपने अन्दर ही ज्ञान को चेताना पड़ेगा अर्थात् इसके लिये ध्यान द्वारा अपने में इतनी प्रेरणा उत्पन्न करनी पड़ेगी कि प्रकृति के बल का सामना करने के लिये थोड़ा उचित मात्रा में संयम का अभ्यास करना आ जाये। क्योंकि प्रकृति के बल को जीतने के लिये थोड़ा संयम (इन्द्रियों व मन का काबू करना) का अभ्यास करना अति आवश्यक है। उस संयम के अभ्यास की भी आदत बनने तक मन को जोड़ने का कष्ट सहन करना पड़ेगा तथा कष्ट

रूप तपस्या भी अपनानी पड़ेगी। ऐसा करने के लिये पहले मनुष्य थोड़ी श्रद्धा रखकर संसार के पाप कर्मों से टलने का यत्न करे, फिर अपने आपको थोड़ा खाने पीने, सोने जागने, बोलने चालने , देखने सुनने आदि सब बाहर के कर्मों में नियंत्रित (काबू) रखे। स्मृति (होश) और वीर्य (हिम्मत) को भी सम्भाले रखे तथा फिर थोड़ा ध्यान करे कि जो कर्म हम कर रहे हैं वे कर्म जिधर ले जा रहे हैं उनका क्या परिणाम होगा ? क्या तंगी, क्लेश में तो नहीं होगा ?"तो ध्यान करने से आपको पता लगेगा कि "प्रकृति का मार्ग, जो कि जन्म से हमको मिला है, वह सारा बन्धन व दुःख में ही डालने वाला है।" जिस–जिस तरफ भी बाहर संसार में यह प्रकृति आकर्षण की वस्तु दिखाती है तो मन को भी उधर ही उलझा देती है। ऐसी अवस्था में यह श्वाँस को भी रोक सा देती है। जैसे मान लो, आप अकेले में बैठे हुए है और प्रकृति वाले मन ने यह प्रेरणा की कि मीठा खाना चाहिये और आपका मन उस मीठा खाने की दृष्टि बनते ही मीठा प्राप्त करने के बारे में सोचने लग गया, ऐसी अवस्था में जब तक यह सोच चलती रहेगी तो आप देखेंगे कि उस सोचने की क्रिया ने आपका श्वाँस भी ऐसे ऐंठन में डाल दिया कि आराम से आपके अंग श्वाँस भी नहीं खींच पा रहे हैं। अन्दर जमा हुआ श्वाँस न जाने आपकी देह में किस–किस प्रकार से आपको कष्ट देगा व अंगों में रोग उत्पन्न करेगा। कोई बीमारी बढ़ायेगा। जैसे कि दिमाग में तनाव, ह्रदय की ऐंठन, पेट व नाड़ियों में कई प्रकार के विकार आदि हो जायेंगे व आसन पर सीधा बैठने भी नहीं देगा। ये जितने भी बन्धन हैं; वे सब शान्ति से आपके अन्दर ज्ञानदेव भगवान् की शक्ति (प्राण शक्ति) को आराम से इस देह को धारण करने के लिये चलने नहीं देंगे।

यदि आप धीरे–धीरे इस प्रकृति (आदतों की शक्ति) पर कर्मयोग व श्वाँस के बल द्वारा दबाब डालते हुये, इसको हर

क्षण सीधा करते गये, तो कुछ वर्षों में सीधा होते–होते वह प्रकृति का बन्धन पूर्णतया टल जायेगा। प्रकृति का बन्धन यही है कि चुपचाप आलस्य सुस्ती में वही काम (इच्छा) आदि की तंरगें पैदा करना कि " चल उधर, वहीं पर सुख है" प्रकृति के वशीभूत हुआ–हुआ मन कहता है कि "यदि वह काम (इच्छा) का सुख नहीं मिलता है तो जीना भी कठिन है जिसके कारण से श्वाँस भी जैसे घुटा–घुटा सा चल रहा है व मन भी अन्दर नहीं लग रहा है। जब मन उस इच्छित सुख के न मिलने पर अन्दर लग नहीं रहा है, तो आदत का सुख प्राप्त करने के लिये वह उधर संसार में ही जायेगा, जहाँ वह सुख मिलने की आशा लगाये बैठा है। इस प्रकार वह प्रकृति वाला मन उस क्षणिक सुख प्राप्ति के साथ बँधा हुआ है, भले ही अन्त में वह दुःख में ही समाप्त होता है। जब यह प्रकृति की शक्ति श्वाँस को रोकने जैसा करके मन को अशान्त (बैचेन) कर देती है, तब सबसे अधिक कष्ट होता है और शरीर भी टिक नहीं पाता। तभी यही अशान्त मन शिकायत करता है कि "यहाँ तो मन नहीं लगता, चलो वहाँ दूसरों की संगत में चलें या विषयों का संग करे, जिसमें मन आदत से लगता है। यदि यह नहीं करना है तो नींद का सुख ले लें," यह सब प्रकृति के स्वभाव में है।

प्रकृति मनुष्य को निम्नलिखित चार स्तरों (ठिकानों) पर बाँधती है–

(१) शरीर (देह)

(२) मन

(३) चित्त (जहाँ जा करके मन सोचों में पड़ा रहता है)

(४) वेदना (सुख व दुःख का महसूस करना)

प्रकृति पहले स्तर पर शरीर का सुख दुःख दिखला करके बाँधती है। दूसरे स्तर में इच्छा, क्रोध आदि बन करके जीव को संसार में ही पटकने के लिये ठोकर मारती है और बाहर

ही कुछ न कुछ बनने के लिये प्रेरणा करती है। तीसरे स्तर में सुख दुःख वाली वस्तुओं (प्राणी व पदार्थों) का चिन्तन करके प्रकृति बाँधती है। चौथे स्तर में सुख दुःख की वेदना अर्थात् सुख–दुःख को महसूस करवा करके प्रकृति संसार में ही बाँधती है।

इस प्रकार ये चार ही ठिकाने या ठहरने के स्थान है अर्थात् शरीर, मन, चित्त व सुख दुःख की वेदना, जहाँ प्रकृति ने मनुष्य को बाँध रखा है। ये चारों ही ठिकाने आपको अपना परिचय दैनिक कार्य करते समय अर्थात् छोटे से छोटा दातून कुल्ला जैसा कार्य करते समय भी देगें , यदि आपकी स्मृति इनमें बनी रही; और ऐसी बात नहीं है कि ये अपना परिचय (जानकारी) आपको अकेले (एकान्त) में बैठे हुए को ही देंगे। इनके परिचय के लिये ज्ञान का चक्षु (आँख) खुला हुआ होना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि आलस्य, सुस्ती व निद्रा के क्षणों में भी ज्ञान शिथिल न होता हुआ अपना अध्ययन अर्थात् बुद्धि को जगाये रखने का अभ्यास बनाये रखे व अपने मन की पढ़ाई को शिथिल न होने दें।

यह प्रकृति अब इतनी बलवती हो चुकी है कि कर्मयोग व क्रिया–योग के अभ्यास बिना क्षीण (दुर्बल) नहीं होगी। यह प्रकृति कर्मयोग व क्रियायोग द्वारा ही धीरे–धीरे कटती है जैसे रेती से लोहे को घिस–घिस कर रेत बना दिया जाता है, इस तरह यह प्रकृति भी धीरे–धीरे घिसनी पड़ेगी । ऐसी अवस्था में मनुष्य का कर्मयोग व क्रियायोग ही धर्म है। यह मार्ग उस भगवान् द्वारा बताया गया है जो कि छः ऐश्वर्यो वाला है अर्थात् (१) विद्या व (२) अविद्या को जानने वाला (३) कर्म की गति और (४) आगति के जाननेवाला (५) प्रकृति के बन्धनों को जानने वाला व (६) उनसे पूर्णतया मुक्त होने वाला अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हुआ है। उस भगवान् ने ही यह सारी विद्या समझी, प्रकृति (अविद्या) को भी समझा। इस प्रकृति के बन्धनों को भी समझा और इनसे मुक्त हुआ।

भगवान् द्वारा बताये गये मार्ग के अनुसार इस प्रकृति (आदतों की शक्ति) को भी क्षीण (निर्बल) करने के लिये थोड़ा कर्म–योग व क्रिया–योग करना पड़ेगा। केवल ज्ञानमात्र से अर्थात् प्रकृति के बारे में कोरा समझने से ही कि " यह दुःखदायी है" धर्म के मार्ग में अधिक सफलता मिलने की आशा नहीं है।

यह प्रकृति काम (इच्छा) के साथ मिलकर अपना कार्य करती है। आपने इस संसार के काम (इच्छा) लोक से थोड़ा अपने मन को मोड़ना है। काम–लोक में हमारी इन संसार के प्राणी व पदार्थों के सुखों में ही कामना (इच्छा) बँधी रहती है। जब तक संसार में काम–लोक व काम (इच्छा) का बन्धन बना हुआ है, तब तक यह धर्म के मार्ग की यात्रा बड़ी कठिन है। यदि धर्म के मार्ग में सफलता प्राप्त करनी है तो थोड़ा सा उस काम–लोक से किनारा करना पड़ेगा अर्थात् जो यहाँ रहते हुये कामनाओं या इच्छाओं के सुख प्राप्त होते है, उस संसार से भी वैराग्यवान होना पड़ेगा या मुख मोड़ना पड़ेगा। इस संसार का सुख सदा सनातन नहीं है अर्थात् यह काम (इच्छा) लोक का सुख सदा बना रहने वाला नहीं है; अन्त तक यह सुख कभी भी बना रहने वाला नहीं है और काम (इच्छा) का सुख तो दुःख में समाप्त होता है। यदि मन के अन्दर यह ज्ञान जाग जाये और कामना(इच्छा) से मन टला हुआ हो, तो थोड़ा ध्यान भी अन्दर की तरफ आ सकता है। इस प्रकृति (आदतों की शक्ति) को विफल करने के लिये अथवा सांसारिक काम (इच्छा) से मन को मोड़ने के लिये क्रिया–योग तो बाद में आयेगा, परन्तु सबसे पहले मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह कर्म–योग का अभ्यास करे और उसमें सफलता पाये, ताकि मन क्रिया–योग करने योग्य बन सके। यदि मन कर्म करते हुए उनके साथ जुड़ कर नहीं करेगा, तो वह कोई भी कार्य करने के लिये एकाग्र नहीं हो पायेगा व क्रिया–योग करने में भी समर्थ नहीं हो पायेगा।

इसलिए सबसे पहले कर्म करते करते भी इन्हीं, काम (इच्छा) के सुख आदि से जो हर समय सिर पर लदे रहते हैं, उनसे मुक्ति पानी है। प्रत्येक कर्म करते समय अपने अन्दर की भी थोड़ी दृष्टि खुली रखनी है अर्थात् कुछ अपने मन के भावों को भी पहचानते रहना है कि इस मन के बन्धन किधर–किधर खींच रहे हैं और तब उस कर्म को करते–करते इन विपरीत भावों को भी निकालने की चेष्टा बनाये रखना है अर्थात् मन से इन बन्धनों के निकाल देने का भाव तो अवश्य ही बनाये रखना है। वही कर्म–योग हो जायेगा। इस को भी गीता में बताये गये निष्काम कर्म–योग का एक प्रकार समझा जा सकता है इसका अभिप्राय यह नहीं कि कोई भी जीवन चलाने की उचित इच्छा या जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक काम धन्धा करने की इच्छा भी छोड़ कर ही बैठ जायें । इस कर्म–योग में जो व्यर्थ इच्छाओं का जाल हर समय सिर पर लदा रहता है, उसको मन से निकालते–निकालते प्रत्येक कर्म करने का अभ्यास करना है अर्थात् ऐसे ही व्यर्थ के कामों(इच्छाओं) को, जो हर समय पूरे करने के भी नहीं है, उन्ही को मन से टालते–टालते कर्म करने का अभ्यास करना है। उदाहरण के तौर पर जैसे ठण्डी में चल रहे हैं तो चलते समय चलने में ही ध्यान होना चाहिये। परन्तु चलते समय काम (इच्छा) वाले मन में तो यही ध्यान रहता है कि " ठण्डी लग रही है, जल्दी–जल्दी चल कर घर के गर्म कमरे में बैठेंगे और चाय पियेंगे।" इस प्रकार घर पहुँचकर गर्म चाय पीने की इच्छा उसके सिर पर रास्ता चलते हुए भी लदी हुई है। जबकि उसको रास्ता चलते समय यह सोचने की आवश्यकता ही नहीं है कि घर जाकर के चाय पीनी है। कारण कि घर में पहुँचकर जो करना है वह तो अपने समय पर कर ही लिया जायेगा, इस समय तो केवल ठण्डी के दुःख को तप रूप से समझ कर सहन करते हुए चलने में ही ध्यान रखना कर्म–योग का अभ्यास है। परन्तु रास्ता चलते समय काम (इच्छा) पापी

उसके मन को थोड़े से सुख को पाने के लिये ही बाँधे रखता है तथा चलने के कर्म में ही ध्यान को बना नहीं रहने देता। अब यदि कोई इस उपर्युक्त दिये गये उदाहरण में कर्म–योग का अभ्यास करता हुआ ठण्डी के दुःख को तप समझ कर सहन करता जाये और ज्ञान को इस प्रकार जगाये रखे कि "कितना एक इस ठण्डी का दुःख है, कोई मारने वाला दुःख तो है नहीं तथा जितना ठण्डी से बचने के लिये आवश्यक कपड़ा वगैरह पहनना है वह पहना ही हुआ है तो इस प्रकार कर्मयोग का अभ्यास करने से एक तरफ तो कर्म–योग का फल प्राप्त होगा तथा दूसरी तरफ इस काम (इच्छा) रूपी ठग से छुटकारा मिल जायेगा। जिस प्रकार यह ठण्डी के दुःख का उदाहरण है इसी प्रकार गर्मी की धूप में चलने का भी उदाहरण है जैसे ज्येष्ठ–आषाढ़ की धूप में चलते समय मन में यही काम (इच्छा) का बोझा (बबाल) ही लदा रहता है कि " अमुक स्थान पर जा करके कूलर के पास बैठेंगे और शीतल (ठण्डा) पान करेगें। इस तरह से यह मन में काम (इच्छा) का बबाल चलते समय चलने का कार्य भी ठीक नहीं करने देता है और सही प्रकार से कर्म–योग का अभ्यास न होने से उसको अपनी चाल का भी पता नहीं लगता है कि पैर कहाँ पर पड़ रहे हैं? और यदि उसको कर्म–योग का अभ्यास आ जायेगा तो वह पावों की चाप को सुनता हुआ, चलने के कार्य में ही ध्यान रखता हुआ तथा काम की सोचों को टालता हुआ चलने का कार्य पूरा कर लेगा। क्योंकि मनुष्य ने बचपन से ही संसार में बाहर ही जीवन व्यतीत करना सीखा है। इसलिये उसके मन में यह काम (इच्छा) का जाल सदा लदा रहता है।

बाहर संसार के जीवन को देखते हुए ही कहने वालों ने तो यह भी कहा है कि इस शरीर रूपी रथ को हाँकने वाला तो प्रकृति का तत्त्व यह काम (इच्छा) है, फिर साथ ही उन्होंने इससे छुटकारा पाने का रांस्ता भी बताया है कि भाई! यदि

इस काम से छुटकारा पाना है तो अर्जुन बनो। 'अर्जुन' संस्कृत में उसी को कहते हैं, जो अर्जन करे अर्थात् धर्म की कमाई करे, धर्म के रास्ते मन को चलाने व लगाने में अपने आपको प्रेरित करे। इस तरह सही मार्ग पर चलने कां धर्म यदि कमाना आ गया तथा ज्ञान जगाने लग गया, तब ज्ञान रूप भगवान् श्री कृष्ण ही उस देह रूपी रथ को हाँकेगे (चलायेंगे) अन्यथा काम (इच्छा) वाला मन तो यही कहेगा कि " इस देहरूपी रथ को तो हाँकने वाला मैं ही हूँ और मेरे ढंग से ही यह शरीर चलेगा।" इसका तात्पर्य यह है कि धूप में चल रहे है, तो काम (इच्छा) वाला मन बड़ी तेजी से कदम उठायेगा और चलते समय भी छाया व ठण्डक की सोचता रहेगा कि ये कहाँ पर मिलेंगे ? थोड़ा धूप में चलने के दुःख को थोड़ा तपस्या से बुद्धि–पूर्वक सहन करने के बजाय उसका मन छाया व ठण्डक लेने में ही चिपका रहेगा और केवल स्मृतिपूर्वक व्यर्थ की कामनाओं को टालते हुये चलने में उसका कोई ध्यान नहीं होगा कि पाँव कैसे पड़ रहे है? क्या सड़क पर चल रहे वाहनों इत्यादि से बचकर चलने में मेरी स्मृति है ? इत्यादि, जब कि पहुँचना तो उसने अपने स्थान पर अपने समय पर ही है। परन्तु वह सारा रास्ता भूल में चलता गया है। जैसे मनुष्य का भूल में श्वाँस चलता है, ऐसे ही यह धूप में चलने की क्रिया थोड़ा सा छाया व ठण्ड़ी के सुख के कारण भूल में हुई है। इसी तरह भूल में मनुष्य दातुन कुल्ला, नहाना धोना, बातचीत करना, खाना पीना कितने ही कर्म करता है। ये सब कर्म करने ही पड़ते हैं व इनको कोई मनुष्य छोड़ भी नहीं सकता। लेकिन आप कर्म करते हुये इन कर्मों के बीच में से काम (इच्छा) रूपी ठग को निकालने का यत्न करते करते कर्म करने का अभ्यास करें तथा मन को उस कार्य के साथ जोड़कर कर्म करने का प्रयास करें। यदि इस प्रकार कर्म करने की युक्ति आपने सीख ली, तो समझो निष्काम कर्म–योग आपने उत्तम रीति से सीख लिया तथा सदा आप ध्यान में ही

हैं । परिणामस्वरूप प्रत्येक कर्म आपकी भक्ति बन जायेगा तथा कर्मयोग का दृढ़ अभ्यास होने पर समाधि की योग्यता भी मिल सकती है । कर्म–योग में स्मृति और वीर्य की बहुत महत्ता है । उदाहरण के तौर पर दातुन करने का ही कर्म है । जिस समय आप स्मृति के साथ मन को टिका करके दातुन भी करने लगेंगे, तो आपको मालूम होगा कि "मन तो ठण्डी मान रहा है और दातुन तो आदत से चल रही है तो समझो ! आपने उस इच्छा वाले मन को पहचान लिया ।" यदि आपको इतनी भी मन की समझ आ गई तो थोड़ा सा इसके साथ ज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति भी प्राप्त हो जायेगी कि "हे मना ! ठण्डी इतनी तो नहीं है, दातुन कुल्ला आदि तो करने ही पडेंगें, अब ठण्डी मानने से तो काम नहीं बनेगा," कुछ भी बोल करके अपने मनको जगाना है और मन से कहना है कि इस ठण्डी से मैं मरता तो नही हूँ ; केवल ठण्डी से डरना व्यर्थ है और भीरुता (कायरता) भी है ।" बस ! ऐसे–ऐसे शब्द बोलते गये तथा अपने मन को जगाते गये । जप करने से इतना पुण्य नहीं है, जितना कि विचार के शब्दों को जगा करके समझ के साथ कर्म करके अपने जीवन को सम्भालने में है । यह मार्ग बड़ा व्यवस्थित है व तृणमात्र भी किसी प्रकार की शंका व भय इस मार्ग में नहीं है । यही सारे शास्त्रों का निचोड़ है । भले आप उपनिषद् व गीता पढ़ लो, परन्तु इतना अवश्य है कि जब आप स्वयं पढ़े हुये व सुने हुये के अनुसार अपने जीवन में करने लगेंगे, तभी ये सभी धर्मशास्त्र समझ में आयेंगे । यदि स्वयं नहीं करके देखोगे तो कुछ ही समझ में आयेगा अर्थात् पूर्णतया उसका ज्ञान नहीं होगा कि इन शास्त्रों में जो बातें लिखी हुई हैं उनमें गहरा छुपा हुआ तत्त्व क्या है?

अभी कर्मयोग में यही बताया है कि प्रत्येक (हर एक) कर्म के साथ मन को जोड़ कर रखना है । मनको जोड़ कर रखने का नाम ही योग है । कामनायें (इच्छाएँ) हर समय मन में

लदी रहती है । वे थोड़े सुख की इच्छाएँ आराम से कोई भी कार्य नहीं करने देती। आपने कर्म में स्मृति को चेताते रहना है और वीर्य (हिम्मत) करके जो भी काम क्रोध आदि खोंटे विकार मनमें पैदा होते हैं, उनको समझने के लिये यत्न करना है और समझ कर टालने का भी उद्योग करना है। इस प्रकार खोंटे विकारों को पहचानना ही स्मृति है और विकारों को दूर करने का नाम वीर्य है। जो कुछ भी कर्म बाहर हुआ है, उसको अकेले में ध्यान में लाना चाहिये कि "जब दातुन कर रहे थे, तो काम (इच्छा) रूपी ठग मन को कहाँ कहाँ ले जा रहा था? रास्ता चलते समय केवल चाय पीने की सोच में ही आधा घण्टा बँधा रहा था। अब आप यदि सम्भल सम्भल कर कदम रखने लगेंगे तो पता लगेगा कि भले ही आप दो घण्टे रास्ता चलते रहे आपको ठण्ड़ी गर्मी की खबर तक ही नहीं रही ? " परन्तु काम (इच्छा) वाले मन में ही उस ठण्डी व गर्मी का डर बना हुआ था। इस प्रकार कर्मयोग का अभ्यास करने पर आपको संशय भय छोड़ते हुये चलने की आदत पड़ जायेगी। इस प्रकार से सारे कर्मों (कार्यों) को काम (इच्छा) से मुक्त होते हुए करने का अभ्यास आपने करना है। जिस वस्तु की इच्छा होती है, वह थोड़ी देर के लिये पूरा नहीं भी करने पर उस इच्छा का एक संस्कार सूक्ष्म रूप में चित्त की अवस्था में टिक जाता है। यही चित्त की अवस्था बार बार उन्ही काम के विषयों का चिन्तन करवाती है, और उस इच्छा की वस्तु को मन से उतारती तक नही। यह राग–चित्त है। इसी प्रकार दुःख देने वाली वस्तुओं से पीछा छुड़ाने या छुटकारा पाने के लिये जो चिन्तन की धारा बहती रहती है, वही द्वेष–चित्त है। इसी प्रकार एक मोह–चित्त है। यदि यही राग व द्वेष रूपी चित्त शोक में बहता है और इच्छा पूरी नहीं होने से दुःखी होता रहता है और अपने राग द्वेष के विषयों में खोया–खोया सोचों में पड़ा रहता है। यही मोह–चित्त है। इस सब प्रकार के चित्त को अर्थात्

चिन्तन की धारा को अपने सब दैनिक कर्म करता हुआ भी टालने का यत्न करता रहे। स्मृतिपूर्वक तथा बुद्धिपूर्वक टालने का यत्न तब बनेगा, जब इनको पहचानेगा। ये इतनी सूक्ष्म अवस्था में मन के अन्दर बहते रहते हैं कि शीघ्र मनुष्य को पहचाननें में नहीं आते, इसलिये थोड़ा ध्यान में इनको पहचान–पहचान कर अपनी याद में इनको पक्का टिका ले। जब जब कोई कर्म करेगा तो यदि उस कर्म के बीच में ये बहते हुये होगें, तो वह झटपट इनको पहचान जायेगा और इनको त्यागने का यत्न करता–करता अपने कर्म को करता रहेगा। ऐसा उसका अभ्यास होने पर वह मनुष्य अपने आत्मा के परम सुख (परमानन्द) के अति निकट होता जायेगा।

जिसने काम (इच्छा) की दासता से दूर रहकर समझ के साथ ही सारे कर्म करना सीख लिया और अन्त में ध्यान की बारीकी में जा करके चित्त को भी शान्त कर लिया और शान्त चित्त होकर टिक गया, तो उसको शरीर व इन्द्रियों में सब जगह सुख ही सुख प्रतीत होगा। वह फिर यह अनुभव करेगा कि "चेतन तो आनन्दरूप है जो जीवन तत्व है।" भले कोई भी जीव हो, वह जीवन तत्व तो सबमें समान है। समान होते हुए वही आनन्दरूप है जो बन्धनों से मुक्त हो गया है। इसका तात्पर्य है कि वह पहले बन्धनों में बँधा हुआ था, अब उनसे छुटकारा पा गया; सारे बन्धन उसको अपने आप दिखाई देने लग जायेगें। यह कोई ऐसी बात नहीं है कि कोई दूसरा मनुष्य दूसरे को बतायेगा व दूसरा किसी दूसरे के लिये करेगा। यह सब अपने आप (स्वयं) ही करना पड़ेगा। इतना अवश्य है कि धर्म के रास्ते पर आरम्भ (शुरुआत) मनुष्य को श्रद्धा से करना पड़ता है। अन्त में जो उसको फल प्राप्त होगा वह ऐसी वस्तु है, जो अत्यन्त समीप से जानने की है और संशयरहित है। यही सत्य का ज्ञान है।

जैसा कि पहले बताया है कि क्रिया–योग की सफलता तो अभी पीछे है, परन्तु इससे पहले ज्ञान–योग की सफलता

प्राप्त करनी है। इस ज्ञान–योग से मनको समझाना पड़ेगा कि बाहर जो भी जीवन चलता है वह अन्त में सुख का हेतु (कारण) सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार के बाहरी जीवन में पूर्णतया प्राप्त करने योग्य सुख नहीं है और इस संसार के सारे सुख समाप्त होने वाले है और अन्त में अनर्थ में पहुँचाने वाले है। यदि यह ज्ञान इस मन में जाग जाये तो इधर यह ज्ञान–योग काम करेगा और फिर उधर प्रकृति के बन्धनों तथा बल को टालने वाला वह क्रिया–योग भी करना होगा। यदि ऊपर कहे हुए कर्म–योग के साथ ये दोनों(ज्ञान–योग व क्रिया–योग) साथ–साथ चलते रहे, तो मनुष्य को समझना चाहिये कि उसका धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन ठीक चल रहा है। इस धार्मिक (आध्यात्मिक) जीवन में कोई भी किसी प्रकार का बन्धन और किसी की दासता नहीं है; केवल अपने आप में ये समझ को साथ–साथ बनाये रखते हुये जीवन का मार्ग चलना है। साधारणतया सांसारिक काम धन्धे के अतिरिक्त मनुष्य के पास पर्याप्त (काफी) समय होता है। यही समय यदि व्यर्थ की संगति या व्यर्थ की बातों इत्यादि में न लगाकर, उसी समय को इस क्रिया–योग में लगाया जाये तो समय व्यतीत करने के लिये दूसरों की पराधीनता से भी छुटकारा मिल जायेगा तथा दूसरी ओर प्रकृति के बन्धन को जड़मूल से टालने के लिये सामर्थ्य या बल भी प्राप्त होगा।

यहाँ क्रिया–योग यही है कि श्वाँस (प्राण शक्ति) के सहारे अपने आपको या अपने मनको शुद्ध करना है। जैसे बाहर के मनोविनोद व व्यर्थ की बातचीत करने आदि से समय निकाल कर आप एकान्त में बैठ गये । यदि भोजन भी कर लिया है तो भी कोई बात नहीं। कारण कि भोजन (खाना खाने) के झटपट बाद चिन्तन रूप ध्यान तो ठीक नहीं है। लगभग छः घण्टे के बाद जब भोजन जीर्ण (हजम) हो जाये तभी ध्यान में बैठना अधिक उपयुक्त (फलवाला) होगा। इसलिये भोजन के उपरान्त, यदि समय हो तो ध्यान के स्थान

पर इसी क्रिया–योग का सहारा लेना ठीक है। इससे अन्न पाचन में भी सहायता होगी व शरीर में कोई दोष विकार भी उत्पन्न नहीं होगा और यदि कुछ पहले का विकार हुआ हुआ भी है तो वह भी उसी प्रकार से इस क्रिया के सधने पर दूर हो सकता है। आलस्य सुस्ती में या मिथ्या बातचीत आदि कर्मों में अपना समय न खोकर अपने मनको सम्भालते रहने से समय का सदुपयोग भी हो जायेगा। यही सब इस क्रिया–योग का फल है। इसलिये अपने आसन पर या कहीं भी एकान्त में बैठकर समझते हुए श्वाँस लेना है व समझते हुए श्वाँस छोड़ना है। जो श्वाँस अन्दर से बाहर फेंका जाता है उसका नाम 'प्राण' है और जो बाहर से अन्दर की और खींचा जाता है उसका नाम 'अपान' है। इससे प्राण अपान सम करने का अभ्यास प्रारम्भ हो जायेगा, यही यहाँ क्रिया–योग है। भूल में (बिना समझते हुए) जो श्वाँस जाता है, वह प्रकृति (आदतों की शक्ति) की चेष्टाओं वाला होता है, वह सम से विपरीत विषम होता है क्योंकि वह श्वाँस प्रकृति के विकारों के रहते–रहते लिया और छोड़ा जाता है। बिना समझ के श्वाँस केवल आलस्य सुस्ती में या फिर वही प्रकृति के संस्कारों अर्थात् "तेरी मेरी" सोचते या किसी से राग द्वेष, वैर विरोध का चिन्तन करते हुए दबा–दबा घुटा–घुटा या ऐंठन में ही चलेगा। जो अपने समय के अनुसार अस्वस्थता को भी उत्पन्न कर देगा। और प्रकृति व्यायाम (कसरत) करती हुई बल पकड़ती जायेगी। प्रत्येक काम अभ्यास से ही सीखने में आता है व जन्म से ही कोई सब कुछ नहीं जानता है। इस तरह समझ के साथ श्वाँस लेना और समझ के साथ श्वाँस छोड़ना भी एक कर्म रूप कार्य है अर्थात् क्रिया–योग एक कर्म ही है। क्रिया (कर्म) होने से इसको करना ही पड़ेगा। इसमें करना यही है कि समझ के साथ श्वाँस को अन्दर नासिका (नाक) से लेना है और नाक से ही छोड़ना है और कुछ नहीं करना

है । श्वाँस तो वैसे भी लिया व छोड़ा ही जाता है इसमें कोई विशेष ज्ञान का काम नहीं है और न ही बुद्धि जगाने व विद्या का कोई काम है, परन्तु श्वाँस के साथ समझ को जोड़ने का उद्योग (परिश्रम) अवश्य है । थोड़ा सा अपने मन को उपस्थित रखना है इस मन की उपस्थिति का नाम स्मृति है तो इस क्रिया का नाम है कि स्मृति से प्राण और अपान क्रिया को करना । गीता में इसका नाम प्राणापान समीकरण है अर्थात् प्राण और अपान को सम करना ।

यदि कोई अधिक समय इस कर्म के लिये नहीं निकाल सकता तो पहले पहल यह क्रिया–योग पाँच दस मिनट के समय से ही आरम्भ किया जा सकता है । इसमें श्वाँस को इस प्रकार से अन्दर लेना है कि प्रत्येक श्वाँस जो अन्दर आता है पता लगते–लगते (समझ के साथ) अन्दर आये व प्रत्येक श्वाँस जो बाहर जाता है वह भी पता लगते–लगते (समझ के साथ) ही बाहर जाये, जैसे श्वाँस अन्दर लिया और फिर छोड़ा तो पता है कि श्वाँस ले और छोड़ रहा हूँ अर्थात् श्वाँस लिया जा रहा है व श्वाँस छोड़ा जा रहा है । लम्बा श्वाँस है तो लम्बे का पता लग रहा है, छोटा श्वाँस है तो छोटे का पता लग रहा है । आपने श्वाँस को रोकना नहीं है । लम्बा आते हुए श्वाँस को अपनी तरफ से छोटा भी नहीं करना व छोटा आते हुए श्वाँस को लम्बा भी नहीं करना है । आपने केवल समझ के साथ श्वाँस लेना व छोड़ना है; वैसे ही भूल में श्वाँस नहीं चलने देना है । यदि श्वाँस भूल में चलेगा तो इसका अर्थ है प्रकृति ने आपके मन में अविद्या (कुछ बाहर ही जानने की लपक या झोंक) का बन्धन खड़ा कर दिया और उसी से वह श्वाँस को या तो भूल में चलायेगी या पुनः श्वाँस को संसार में खोये हुए मन द्वारा ही चलायेगी, जिससे कि पुनः उसी का ही बल बढ़ेगा । आप देखेंगे कि इस अविद्या ने तुरन्त आपका ध्यान इस क्रिया–योग से छीन लिया है । ऐसी मन की अवस्था होने पर भी आपने श्वाँस

को समझ के साथ चलाते रहना है, इसको बन्द नहीं होने देना है और किसी प्रकार के चिन्तन या ध्यान में भी नहीं खो जाना है। जो इस श्वाँस को बन्द करने के रास्ते में अड़चन आये, उसका सामना व प्रतिरोध करते हुए उससे निकल जाना व अपने क्रिया–योग में लगे रहना ही क्रिया–योग का अभ्यास है।

अब इस क्रिया योग का अभ्यास यही है कि भोजन आदि करने के बाद व सब ओर से थोड़ी छुट्टी पाकर आराम से उस समय आसन पर बैठ जायें। सोचना कुछ नहीं है अर्थात् वहाँ चिन्तन कुछ नहीं करना है। यदि चिन्तन किया तो ध्यान बन जायेगा, जो खाना खाने के बाद उचित नहीं है, कारण कि सोचने से तो श्वाँस ठीक चलेगा नहीं , परिणामस्वरूप अन्न ठीक प्रकार से जीर्ण (हजम) नहीं हो सकता, यदि श्वाँस ठीक चलता रहेगा तो अन्न भली प्रकार से जीर्ण (हजम) होगा। इसलिये श्वाँस को रुकने नहीं देना है परन्तु प्रकृति के तत्व अधिक वीर व बल वाले होने से इस श्वाँस को रोकने वाले हैं अर्थात् कहीं इच्छा, क्रोध व द्वेष ही श्वाँस को जकड़ लेगा, कहीं मान मोह आयेगा, किसी के प्रति शिकायत ही आ जायेगी या कुछ और मन को अच्छा या बुरा लगने वाली वस्तु की याद आ जायेगी। जब उस याद की गाँठ मन में पड़ जाती है, तो वह गाँठ श्वाँस को भी रोक देती है और श्वाँस को सही या भली प्रकार से चलने नहीं देती। ऐसी अवस्था में आपने फिर यही करना है कि जो श्वाँस अन्दर आये तो पता लग रहा है कि " श्वाँस आ रहा है।" श्वाँस छोड़ते समय " छोड़ने का भी पता लग रहा है।" क्रिया–योग के पहले भाग में सर्वप्रथम मन को अपनी देह में उतारने का यत्न करे अर्थात् अपनी देह के अन्दर कई प्रकार के अंग जैसे पेट, जिगर, तिल्ली, दिल, फेफड़े, गुर्दे, बड़ी आँत, छोटी आँत आदि एक–एक अंग को मन में याद करता हुआ व उसी का चित्र सा मन में खींचता हुआ श्वाँस लेता जाये और छोड़ता जाये।

इस तरह देह के अन्दर अपनी सुरति (समझ) को लगा दे। यह देह का योग हो जायेगा। काया–योग से भी जो श्वाँस चलेगा, वह देह के अन्दर चलेगा, इसमें यह सावधानता रहे कि अपने अंगों का स्मरण करते हुए श्वाँस लेते और छोड़ते कहीं चिरकाल तक मन अंगों का चिन्तन ध्यान करता हुआ अपने श्वाँस की गति को ही न बिगाड़ ले, केवल थोड़ा सा अंगों का स्मरण करता हुआ अधिक सावधानता श्वाँस के अन्दर लेने और छोड़ने के नियम में ही बनाये रखे। जो मन बाहर लम्बे चौड़े संसार में बिखरा हुआ है और प्रकृति (आदतों की शक्ति) ने खींच रखा है, इस क्रिया–योग में प्रकृति के साथ युद्ध तो अवश्य होगा। परन्तु इन प्रकृति के काम क्रोध आदि विकारों से मुक्ति दिलवाने वाला अन्त में यह युद्ध सिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार हिम्मत करके जागने की आदत डाले। खाना खाने के बाद दोपहर के समय या रात्रि में इस क्रिया को करने के लिये बैठा जा सकता है तथा इस क्रिया के लिये पर्याप्त (काफी) समय दिया जा सकता है। इस क्रिया में एक–एक अंग को याद करता हुआ श्वाँस लेना व छोड़ना है। जैसे नाक द्वारा श्वाँस ले रहा है और मुख बन्द रख करके नासिका (नाक) द्वारा ही श्वाँस छोड़ रहा है। पेट फूल रहा है तो श्वाँस ले रहा हूँ पेट अन्दर की तरफ जा रहा है तो छोड़ रहा हूँ। ऐसा एक–एक अंग का ध्यान करते हुए क्रिया करते जाना है कि उसी पेट के साथ दाँयी तरफ जिगर, बाँई तरफ तिल्ली और उसी के साथ जुड़ी हुई लम्बी आँत है व छोटी आँत उसी में बसी हुई है, दिल व फेफड़े हैं। अपने अन्दर ही अन्दर एक–एक अंग को याद करता हुआ श्वाँस लेता रहे व छोड़ता रहे यदि याद नहीं रहेगी तो प्रकृति अपने काम, क्रोध आदि विकारों को खड़ा करती रहेगी और वे ही श्वाँस खींचेंगे, यदि अंगों की स्मृति (याद) रखते–रखते श्वाँस लेने व छोड़ने में लगे रहे तो प्रकृति के विकारों का मन में बहना नहीं बन पायेगा। भूल (सोये–सोये) में जो भी

श्वाँस चलेगा, वह सब संसार के संस्कारों वाला ही होगा। जागते हुए अर्थात् स्मृति को टिका कर श्वाँस लेने का अभिप्राय है कि आदत के रास्ते को रोकना है व समझ के साथ श्वाँस लेना व छोड़ना है।

इस प्रकार सारे अंगों की क्रम से स्मृति (याद) रखते हुए मुख बन्द करके नासिका (नाक) द्वारा श्वाँस लेते गये व नासिका द्वारा ही श्वाँस छोड़ते गये। परन्तु अंगों की याद इस रीति से नहीं करनी है कि अंगों की स्मृति करते–करते मन अंगों में ही रम जाये और श्वाँस लेना व छोड़ना ही भूल जाये। श्वाँस लेना व छोड़ना भूल गये तो अन्न जीर्ण (हज़म) होने में कठिनता पड़ेगी और यह क्रिया–योग भी ठीक नहीं हो पायेगा। क्रिया–योग वही उत्तम व सुन्दर होगा, जिसमें श्वाँस समझ के साथ निरन्तर (लगातार) चलता रहे। ऐसा करते हुए यदि थोड़ी आलस्य सुस्ती आने से एक दो बार श्वाँस लेना, छोड़ना भूल भी गये , तो फिर इस देह के अंगों का स्मरण (याद) करते हुए श्वाँस चलाने लग गये। एक दो श्वाँस भूल में चलने के बारे में ज्यादा अपने मन में सोचने की आवश्यकता नहीं है और याद आते ही फिर क्रिया के अभ्यास में लग जाना ही उचित है। इस प्रकार जितनी देर आपने बैठना है, उसके लगभग आधे समय तक इस शरीर के अंगों को याद करते हुए इस क्रिया–योग को करना है। यदि कोई तीस मिनट बैठ सकता है तो लगभग पन्द्रह मिनट तक देह के अंगों का स्मरण करता हुआ समझ के साथ श्वाँस लेता रहे और छोड़ता रहे। श्वाँस को भूलना नहीं है। यदि श्वाँस को भूल से लिया तो समझो यह क्रिया–योग ठीक नहीं हुआ। परन्तु कोई परवाह की बात नहीं, फिर श्वाँस लेने व छोड़ने की क्रिया में जाग गये। जो श्वाँस समझ से अन्दर लिया जायेगा वह कुछ सही प्रकार की रचना करेगा अर्थात् देह के अंगों का सही निर्माण करेगा और जो श्वाँस समझ से नहीं लिया जायेगा वह किसी संसार के दुःख को ही रचने वाला

होगा। अर्थात् भूल में लिया गया श्वाँस निष्फल व बेकार है। इसलिये इस क्रिया–योग में बैठने का लगभग आधा समय तक देह में ही अपनी वृत्ति को जुड़ाये रखना है। वृत्ति का अर्थ है कि " मन का वर्तना ।" संस्कृत में वृत्ति नाम वर्तने को कहते हैं। देह में ही मन वर्तता रहे अर्थात् देह के अंगों को याद करता हुआ इसी देह में वर्तमान (हाजिर) रहे तो सारे संसार से बिछुड़ा रहेगा। इस पहले प्रकृति के बाँधने के स्तर में अर्थात् शरीर को नियन्त्रित करने (काबू करने) के लिये देह के अंगों प्रत्यंगों को याद करते हुए समझ के साथ श्वाँस लेना और समझते हुए श्वाँस छोड़ना है। शरीर को यह प्रकृति भटकाती है कि " सो जाओ या चलो ! वहाँ चलकर चाय पियें या कुछ बातें करें। जिससे कि मन लगा रहे।" कारण कि यही क्रिया–योग करते हुए मन नहीं लग रहा है। यह मन शरीर को ही चलाता है कि "बाहर ही कुछ न कुछ करो तभी सुख मिलेगा।" अब यदि शरीर में ही (काफी देर तक) आपने अपने मन को पर्याप्त समय को लगाये रखा तथा आसन पर इस शरीर को स्थिर कर लिया तो उस अवस्था में मन जागने लगेगा।

अब क्रिया–योग के दूसरे भाग की चर्चा है अर्थात् जब लगभग आधा समय यह क्रिया–योग करते–करते व्यतीत हो गया तो देह को भूलना आरम्भ कर दिया अर्थात् जिन देह के अंगो को याद करते–करते श्वाँस लेते थे व छोड़ते थे उन सब अंगों की याद को छोड़ देना। केवल समझते–समझते श्वाँस छोड़ते जाना यही देह को भूलते–भूलते श्वाँस लेना और छोड़ना है। अब सीधे–सीधे मन के साथ जुड़ने का अभ्यास करना है। जैसे देह को उसने भूलना शुरू किया तो उसी समय प्रकृति (आदतों की शक्ति) वाला मन कहीं बच्चे की स्मृति लायेगा तो आप देखेंगे कि तुरन्त ही जैसे उसने बच्चे की दृष्टि सामने खड़ी कर दी। अब मन के साथ लड़ने का काम (कार्य) आ गया है। जैसे उसने बच्चे, मित्र या

किसी अपने धन्धे की याद दिलाई, तो याद तो एक ही है, वह याद क्रिया–योग से टल गयी अर्थात् श्वाँस लेने व छोड़ने में नहीं रही। जबकि क्रिया–योग में लगे हुए आप को स्मृति से श्वाँस चलाना था अर्थात् स्मृति से श्वाँस लेना था तथा स्मृति से ही श्वाँस छोड़ना था। जब याद किसी दूसरे बच्चे मित्र आदि क़ी हुई तो स्मृति श्वाँस से भटक गयी, जब मन बच्चे आदि की याद करने लग गया तो श्वाँस का लेना और छोड़ना भूल में ही हुआ। अब यदि यहीं पर आपका थोड़ा विचार जाग गया तो पता लगेगा कि श्वाँस को समझ के साथ लेने व छोड़ने का कार्य कर रहा था परन्तु बच्चे की याद में तो वह कार्य भूल ही गया। ऐसी अवस्था में फिर चेत करके होश में आ गये और पुनः समझ के साथ श्वाँस चलाने लग गये। पश्चाताप करने की इसमें कोई आवश्यकता नहीं है। जितना समय गया, सो गया, इसके बारे में नहीं सोचना। परन्तु फिर श्वाँस को समझ के साथ चलाने में लग गये अर्थात् भटके श्वाँस के बारे में पश्चाताप नहीं करना कि "ओहो! इतने समय तक मैं भूला रहा और मेरा यह क्रिया–योग ठीक नहीं बना।"ऐसे पश्चाताप में भी समय नहीं खोना बल्कि झटपट श्वाँस को समझ के साथ लेने और छोड़ने के कार्य में लग जाना। बस! समझ के साथ श्वाँस लेते जाओ व छोड़ते जाओ और ऐसा करते हुए बच्चे व मित्र की याद बिल्कुल भूल जानी है। यह युद्ध है, जिसमें प्रकृति अपना तनाव उत्पन्न करके अपनी तरफ खींचती है और आपने अंपना इधर समझ से श्वाँस लेने व छोड़ने का कार्य करते रहना है।

जितने समय तक बैठना है, समझ के साथ श्वाँस लेते व छोड़ते हुए बैठे रहना है। तब जो ये काम, क्रोध अन्दर बसे हुए हैं, वे घिसने लग जायेंगे। स्मृति को बिगाड़ने वाले ये काम क्रोध आदि विकार ही हैं। यदि आप स्मृति के साथ श्वाँस चलाते रहेंगे, तो ये काम क्रोध इत्यादि विकार आपके इस श्वाँस

द्वारा ही धीरे–धीरे मिटते जायेंगे । बस ! आपने अपनी स्मृति (याद) को नहीं खोना है । जब क्रिया–योग करते समय मित्र प्यारे की याद आये अर्थात् उनकी दृष्टि बने, तो अपने मन से कहो कि "अभी उनको याद करने की आवश्यकता नहीं है ।" परन्तु श्वाँस को समझते–समझते लेते और छोड़ते जाना है । और इसी श्वाँस की क्रिया के साथ मित्र आदि की याद को भुला देना है । यदि मित्र की याद करोगे तो श्वाँस आपकी समझ या याद में नहीं चलेगा । यदि श्वाँस को याद या स्मृति से लेंगे व छोडेंगे, तो मित्र इत्यादि भूले ही रहेंगे और एक दिन यह याद इतनी प्रबल हो जायेगी कि उन्हीं के संग से होने वाले राग द्वेष आदि सब उतने समय तक छूटे रहेंगे और अन्त में ये सदा के लिये ही विदा हो जायेंगे । यही राग द्वेष वाली प्रकृति को घिसना है । यदि एक जगह आपने ऐसा करके परख (देख) लिया तो आपको सारे प्रकृति के बन्धनों से समझ के साथ निकलने का रास्ता मिल जायेगा । यह तो दृष्टि बन्धन से छुटकारा क्रिया–योग करते हुए है । फिर थोड़ी देर में संशय होने लगेंगे कि "बच्चे के बारे में सोच रहे थे और यदि वैसा नहीं सोचते तो शायद कहीं कुछ होने वाली हानि ही न टल सके । यह भी संशय रूपी मन की तरंग है । मन से इस समय कहना है कि "कोई बात नहीं, अभी बहुत समय पड़ा है, सोचने के समय ही सोचेंगे, कहीं कुछ नहीं बिगड़ता है; परन्तु यह समय उस बच्चे के बारे में सोचने का नहीं है ।" ऐसा महसूस करते हुए समझ के साथ श्वाँस लेते व छोड़ते हुए संशय को मन से निकाल दिया । यदि समझ के साथ श्वाँस लेते व छोड़ते हुए संशय मिट गया तो प्रकृति का वह संशय रूपी बन्धन भी घिस गया व प्रकृति क्षीण (निर्बल) हो गई । यदि संशय ने ही मन को अर्थात् समझ को लपेटे रखा, तो श्वाँस तो भूल में ही चलेगा और वही पुरानी प्रकृति (आदतों की शक्ति) बल पकड़े रहेगी । इस तरह दृष्टि (नज़र) आदि बन्धन बनते रहने से ही सब दुःख उत्पन्न होते हैं और

मन संसार में व्यर्थ में उलझा रहता है और आत्मिक शक्ति क्षीण (दुर्बल) होती रहती है।

इसके बाद तो मन में नींद लेने की ही इच्छा होती है, तो श्वाँस फिर भूल में चलने लगता है। जब तक निद्रा या आलस्य की इच्छा में जकड़ा हुआ मन उसकी मिठास देखता रहेगा तो समझ (स्मृति) उधर ही उलझी रहेगी। फिर यह श्वाँस समझ के साथ नहीं चलेगा अर्थात् श्वाँस तो भूल में ही चलेगा। क्योंकि प्रकृति वाले मन को निद्रा आदि की इच्छा चुरा करके ले गयी। फिर ऐसी अवस्था में आपने अपने मन को चेतन करके या जगा करके समझ के साथ श्वाँस लेना और छोड़ना है और निद्रा आदि के सुख को त्यागते जाना है। इस प्रकार समझो कि क्रिया-योग करते हुए आपने उतने समय के लिये निद्रा आदि की इच्छा को भी बीच में ही समाप्त कर दिया अर्थात् नष्ट कर दिया। निद्रा आदि की इच्छा पूरी न करने से अब क्रोध खड़ा हो सकता है कि "निद्रा को टाला जा रहा है और सुख बिगड़ रहा है।" क्रोध वाला मन कहता है कि मैं तो ऐसे टलने का नहीं हूँ ; कारण कि निद्रा मीठी लगती है, यह निद्रा बहुत प्रिय है,इसके बिना काम नहीं चलता।" अर्थात् प्रकृति ऐसे-ऐसे चिढ़, क्रोध आदि के भावों को उत्पन्न करके श्वाँस को भी बाँधेगी। ऐसी अवस्था में आप फिर पहचानो कि उस समय तो निद्रा की इच्छा तंग कर रही थी, अब चिढ़ ने इस श्वाँस को पकड़ (जकड़) लिया है। आप अपने मन को थोड़ा चेतन करो या जगाओ और समझ के साथ श्वाँस लेने व छोड़ने की क्रिया इस प्रकार करते जाओ कि अन्दर का भी पता लगता रहे, जैसे कि मैं समझ रहा हूँ कि चिढ़ मेरे श्वाँस को जकड़ रही है फिर भी मैं समझ के साथ श्वाँस लेता व छोड़ता ही जाऊँ। तो इस प्रकार यह क्रिया-योग करते हुए चिढ़ को भी समाप्त कर देना है। भले ही इच्छा, क्रोध, चिढ़ तथा और भी कोई विकार आते जायें, आपने समझ के साथ श्वाँस लेना व छोड़ना नहीं भूलना

है। मन तो एक ही है। यदि क्रोध आदि के साथ श्वाँस लेगा तो श्वाँस लेने और छोड़ने का कार्य स्मृति या याद से नहीं होगा अर्थात् भूले-भूले ही होगा और यदि श्वाँस को समझ या स्मृति के साथ लेने और छोड़ने के कार्य में व्यस्त हो गये, तो क्रोध और चिढ़ आदि बिदा हो जायेंगे, मन तो एक समय में एक ही काम करेगा। प्रकृति एक-एक करके अपने काम क्रोध आदि विकारों को बड़ी तेजी से खड़ा करती जायेगी, क्योंकि प्रकृति में तो बाहर बिजली जैसी शक्ति की तरह कार्य होता है। परन्तु आपने अपनी स्मृति श्वाँस लेने व छोड़ने में ही बनाये रखनी है। इस प्रकार काया के स्तर के बाद इस दूसरे मन के स्तर पर पहुँचा हुआ मन दृष्टि (नज़र) संशय, काम, क्रोध व आलस्य, निद्रा उत्पन्न करके इस क्रिया-योग में विघ्न डालता है अर्थात् श्वाँस को समझ से छोड़ने व लेने नहीं देता। और इस काया को प्रकृति के बल से मशीन के समान चलाने की दिशा में ले जाता है परन्तु आपने समझ के साथ श्वाँस लेते छोड़ते हुए इस प्रकृति के दूसरे स्तर के बन्धनों को भी निष्फल बना देना है अर्थात् इस क्रिया योग में लगे रहना है।

तीसरा प्रकृति का स्तर चित्त का है, जिसके तीन भाग हैं। राग-चित्त, द्वेष-चित्त और मोह-चित्त। जिनका विवरण पहले कर्म-योग के प्रकरण में आया है। जिस वस्तु से सुख प्रतीत होता है उस वस्तु में मन की प्रीति हो जाती है तथा उसी का चिन्तन भी होता रहता है, यह राग-चित्त है। जिससे दुःख मिलता है, उसके बारे में क्रोध का चिन्तन होता है और मन सोचता है कि " यह कब दूर हो।" यह द्वेष-चित्त है। यदि अपने मन के अनुसार अर्थात् अपनी इच्छा अनुसार कार्य नहीं होता है तो मन उसी के कारण चिन्ता व शोक (दुःख) में पड़ जाता है। यह मोह-चित्त है। अर्थात् "अहो ! यह काम ऐसे पूरा नहीं हुआ, क्या बनेगा ?" ये सब चिन्तन की धाराएँ तीसरे स्तर पर हैं, जो मन की गहराई में बनी रहती हैं।

इस स्तर में जागते–जागते समझ के साथ श्वाँस लेते–लेते यदि आप पहुँच गये, तो समझो आप संसार के स्तर से तो दूर हो गये; परन्तु यही संसार चित्त की बारीकी में पहुँच गया है। काम (इच्छा) लोक तक संसार की याद है अर्थात् काम (इच्छा) लोक तक ही संसार में मन क्रियाशील है और चित्त स्तर पर वही संसार स्वप्न जैसी अवस्था में है। यहाँ काम (इच्छा) नहीं है, जब आप ऐसी अवस्था में पहुँच जाओगे तो आपको प्रतीत होगा कि बाहर की आवाजें भी स्पष्ट नहीं सुनाई दे रही है और न ही बाहर की सुगन्धियाँ अथवा दुर्गन्धियाँ आदि अधिक प्रतीत हो रही हैं परन्तु अन्दर संघर्ष अवश्य चल रहा है। इसका ज्ञान हो रहा है अर्थात् मन निद्रा जैसी अवस्था में नहीं है। खूब समझ के साथ श्वाँस लेने व छोड़ने की क्रिया में लग रहे हैं। ऐसा करते–करते मन एक दम झपकी लेना चाहता है और निद्रा में जाना चाहता है। कारण कि वह चित्त का स्तर ही ऐसा है कि जहाँ मनुष्य को बाहर के संसार से थोड़ा टल कर पहुँचना पड़ता है। ऐसी अवस्था में निद्रा जैसी अवस्था भी अपना सुख दिखाकर मनुष्य के ज्ञान तथा स्मृति को हरना चाहती है। यदि आप उस प्रकृति वाले मन के भावों को समाप्त करके वहाँ समझ के साथ श्वाँस लेते छोड़ते हुए जागते रहे तो समझो तीसरे स्तर पर आप जागते रहे व क्रिया–योग करते हुए प्रकृति के इस तीसरे स्तर (चित्त) पर भी आपने नियन्त्रण पा लिया और प्रकृति का बन्धन आपके अभ्यास में विघ्न नहीं डालेगा, श्वाँस लेते हुए और छोड़ते हुए इन्हीं सब चित्त की अवस्थाओं को टालते जाने का प्रयत्न करना है। यदि श्वाँस को समझ से लेते और छोड़ते रहे तो तीनों प्रकार का चित्त आपको अपने चंगुल में नहीं लपेट सकेगा। और यदि इन तीनों प्रकार के चित्त के प्रभाव से इन्हीं के सुख या इनसे सम्बन्ध रखने वाले अन्य विचारों की धारा में बह गये तो श्वाँस न समझ से लिया जा सकेगा, न समझ से छोड़ा जा सकेगा अर्थात् यह भूल में

ही चलेगा। ऐसी अवस्था में इस श्वाँस क्रिया के साथ यत्न के साथ स्मृति (याद) पूर्वक लगे रह कर यदि उन तीन प्रकार के चित्तों को आप टालते गये तो समय पाकर इनके प्रभाव से भी चित्त मुक्त हो जायेगा। इस सब का तात्पर्य यह है कि बजाय इसके कि इन तीनों प्रकार के चित्त के प्रभाव में बहते रहें और श्वाँस को भूल में चलाते रहें, आप श्वाँस को समझ के साथ लेते छोड़ते रहने में लगे रहो और इन तीनों प्रकार के चित्तों की परवाह ही न करो। इस प्रकार शनैः–शनैः (धीरे–धीरे) ये आप ही टल जायेंगे। तब अन्दर से मन भी और चित्त भी हल्का हो जायेगा और उस पर सुख की भी प्राप्ति होगी। इस स्तर को क्रिया–योग करते हुए पार करना बड़ा कठिन है। कारण कि प्रकृति वाले मन के भाव बाहर ही सुख दिखलाकर उलझाये रखते हैं।

प्रकृति के बन्धन का चौथा स्तर सुख दुःख की वेदना है, जिसको भी प्राणापान स्मृति (क्रिया–योग) करते हुए पार करना है। इतनी ज्यादा सावधानता के साथ श्वाँस लेने व छोड़ने में ध्यान रखना पड़ेगा कि सुख का पता ही न लगे व सुख लेने में मन ही न रहे। और स्मृतिपूर्वक या समझ से श्वाँस को लेने और छोड़ने के कर्म में ही लगा रहे । कारण कि मन तो एक ही है। यदि समझपूर्वक श्वाँस लेने और छोड़ने के कर्म में लगा रहेगा तो सुख और दुःख इन दोनों प्रकार की वेदनाओं से बेखबर रहेगा; तो इनसे कहीं भी नहीं उलझेगा; इनसे मुक्त ही हो जायेगा और परमपद का पूर्ण अधिकारी बन जायेगा। इस चौथे स्तर पर जैसे सुख की अवहेलना करते हुए भी यदि आप श्वाँस लेते छोड़ते रहे और इससे सुख की भी उपेक्षा (बेपरवाही) हो गयी, इसी प्रकार दुःख की अवहेलना (बेपरवाही) करके यदि कोई मनुष्य समझ के साथ श्वाँस लेने छोड़ने की क्रिया कर गया तो समझो कि प्रकृति (आदतों की शक्ति) को वश में करने के लिये जड़ तक उसने बल प्राप्त कर लिया। इस सारे चतुर्थ स्तर पर कहे हुए का

भावार्थ यह है कि इस अभ्यास को करते हुए जब मन में सुख की वेदना हो या सुख महसूस हो तो वह सुख भी आपके मन को लुभाकर इसी समझ के साथ श्वाँस लेने और छोड़ने की क्रिया में विघ्न डालेगा अर्थात् मन तो सुख के लोभ में पड़ जायेगा और आदत के अनुसार ढीला रह करके उस सुख को महसूस करने लगेगा और श्वाँस भूल में आयेगा और जायेगा, यही इस क्रिया में विघ्न है। तब यही मिथ्या सुख की आसक्ति वाला मन सुख दुःख में सम होने की योग्यता प्राप्त नहीं कर सकेगा। इस सुख दुःख की समता बिना परमपद की प्राप्ति भी नहीं होगी। इसलिये इस चौथे स्तर पर बड़ी सावधानता के साथ स्मृतिपूर्वक श्वाँस को लेने और छोड़ने में लगे रहना और यत्नपूर्वक इस श्वाँस में लगे–लगे सुख की उपेक्षा करते रहना अर्थात् उससे बेखबर सा ही रहना। उसकी तरफ चिन्तन तक भी न जाने पाये। वैसे ही यदि इस सुख से बेपरवाह होकर श्वाँस लेने और छोड़ने में कष्ट या दुःख अनुभव करे तो उस दुःख से भी बेखबर सा रहता हुआ स्मृतिपूर्वक श्वाँस लेने और छोड़ने में ही लगा रहे। अल्पकाल ऐसा यत्न करते रहने से दुःख से स्वयं ही मन बेखबर हुआ–हुआ पुनः सम अवस्था के सुख को प्राप्त हो जायेगा और श्वाँस क्रिया भी आराम के साथ चलती रहेगी। ऐसी अवस्था मनुष्य को स्वयं अपने आप में आनन्दयुक्त प्रतीत होगी और मुक्त अवस्था की अनुभूति रूप में पहचानी जायेगी। यदि इन चारों ही स्तरों में श्वाँस को जागते हुए समझ को साथ रख करके इस प्रकृति (आदतों की शक्ति) का विरोध करना आपने सीख लिया, तो समझो ! इस क्रिया–योग की युक्ति आपको मिल गयी। परन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि कितने समय में कोई इस क्रिया–योग में पूर्ण सफलता प्राप्त कर लेगा, परन्तु पहुचँने की अवस्था यही है।

इन ऊपर कहे गये चार स्तरों (शरीर,मन,चित्त व सुख दुःख की वेदना) में प्रकृति बाँधने वाली है। इन चारों स्तरों

में इस क्रिया–योग द्वारा आप गहराई में पहुँच करके तिल–तिल भर भी यदि इस प्रकृति को क्षीण (दुर्बल) करते गये तो प्रकृति का बल जो कि केवल ज्ञान–योग व कर्म–योग से ही कोरा नहीं कटेगा अपितु इस क्रिया–योग द्वारा ही पूर्णतया नष्ट होगा। इस क्रिया–योग के करने वाले मनुष्य को जीवन काल में ही मुक्ति का सुख मिलता है अन्यथा इस धर्म व धार्मिक जीवन का फल प्रत्येक मनुष्य को जीवन काल में ही मिलना बहुत कठिन कार्य है। इन चारों स्तरों को अपने मन के अन्दर पहचान करके और इनका सामना करते हुए यदि कोई मनुष्य जागते–जागते रह गया, तो वह कह सकता है कि इस क्रिया–योग से उसको समाधि मिल गयी तथा पूर्ण बन्धनों से मुक्ति का भी अनुभव हो गया। उस समय उसको संसार की कोई खबर भी नहीं रहेगी और उसके मन में वह सुख होगा, जिसको पाकर के वह कहेगा कि " अब और कोई पाने की वस्तु ही शेष (बाकी) नहीं रह गई है।"

जब तक आप प्रकृति (आदतों की शक्ति) के बन्धन का विरोध (प्रतिरोध) करना सीखकर उसका निरोध (उस पर काबू पाना) नहीं करोगे, तब तक प्रकृति के बन्धन से छूटना कठिन है। भगवान् ने तो इस प्रकृति का निरोध (काबू पाना) किया था। इसलिये भगवान् इसके बन्धन से पूर्णतया मुक्त है और उसी ने यह मार्ग वेदों व शास्त्रों के द्वारा बताया है तथा उसी मार्ग को कई महात्माओं तथा आचार्यों ने भी अपने अपने धर्मग्रन्थों में बताया है। परन्तु आपने स्वयं चलकर अपने जीवन से उन्हें प्रमाणित (साबित) करना है। ऐसा करने के लिये थोड़ा प्रकृति का विरोध तो होता है। फिर प्रकृति के विरोध में थोड़ा क्लेश भी होता है। इसके लिये पहले थोड़े खोंटे कर्मों से बचना है। फिर आपने अपने मन से ही खोंटी आदतों जैसे ज्यादा खाने पीने सोने व गप्पें लगाने की व्यर्थ (फालतू) आँखों व कानों द्वारा देखने व सुनने की आदतों को साफ करना है। जिस ओर व्यर्थ देखना केवल आदत के

कारण से है उस ओर मन की तंगी को सहन करते हुए भी नहीं देखना है। कान भी व्यर्थ (फालतू) की वस्तुएँ सुनने के लिये बाहर नहीं फैलाने हैं। इस प्रकार इन्द्रियों की शक्ति का व्यर्थ का प्रयोग टालने के लिये थोड़ा–थोड़ा तिल–तिल जितना भी अपनी समझ के साथ उस प्रकृति (आदतों की शक्ति) से निवृत्त होना बन सके, उससे पीछे हटना है। पहले बाहर के कर्मों (शरीर और इन्द्रियों के कर्म) से आरम्भ करके फिर स्मृति (होश) से सारे अन्दर के भी कर्म (काम, क्रोध आदि विकार तथा राग, द्वेष आदि सकल बन्धनों का त्याग रूप कर्म) करने की आदत डालनी है। साधना में लगे हुए उद्योगी पुरूष को मन की तरंगें अर्थात् मन के अन्दर के विकार और उन विकारों से भी नीचे गहराई के स्तर पर चित्त भी समझ में आने लगेगा। अन्त में समझो, बन्धनों में डालने वाले सारे निमित्त (कारण) दिखाई देने लग जायेंगें । यही ज्ञान–योग हो जायेगा जब अपने अन्दर की ही खबर पड़ने लग जायेगी।

अब इसके साथ थोड़ा स्वाध्याय द्वारा भी अपने आपको जानने की आवश्यकता है। इसका तात्पर्य यह है कि अपने आपको अपनी अन्तर दृष्टि से समझने के लिये अपने आपकी पढ़ाई करनी है। और थोड़ा अपने द्वारा दूसरों को भी समझने का यत्न करना है अर्थात् अपने आपको समझकर उसके ही द्वारा दूसरों को भी समझने का यत्न रखना है। जैसे मेरे को चलाने वाली शक्ति बाध्य करके उल्टे–उल्टे कर्मों में डालती है इसी प्रकार दूसरों को भी यह प्रकृति शक्ति बाध्य या लाचार करके बुरे (खोंटे) कर्मों को करने की प्रेरणा देती है। इसलिये ये दूसरे भी इतने अधिक दोषी नहीं है, जितना साधारण जन दूसरों को दोषी समझ बैठता है। इसलिये दूसरों के दोषों, पापों व अवगुणों को भी प्रकृति की ही बाध्यता या लाचारी मानकर उनके लिये भी दया भाव रखते हुए उनसे सही बर्ताव करने का अभ्यास करे और उनके प्रति क्षमाशील रहे। यही व्यापक जीवन रूप परमात्मा में जोड़ना ईश्वर प्रणिधान

है । कारण कि हमारा जीवन सब के बीच में है । यह सारा जितना व्यापक जीवन है यह व्यवस्थित, विशिष्ट व एक दूसरे से जुड़ा हुआ है, अकेला कोई भी नहीं जी रहा है अर्थात् सबके साथ जुड़ जुड़ाकर ही यह जीवन बना है । अकेला कोई भी अपने आप में कुछ भी नहीं है और अकेला अपने आप में जीवन धारण नहीं कर सकता । यह ठीक है कि "मैं" अपने आप में खूब ध्यान भजन में लग रहा हूँ परन्तु यदि दूसरों की मैं परवाह नहीं करता, तो वह जीवन का मार्ग ठीक नहीं है । कारण कि जीवन तो सब के साथ ही है । इसलिये अपने आप में लगे हुए मनुष्य को देखना चाहिये कि " मेरे कर्मों से किसी को कोई दुःख तो नहीं हो रहा है या किसी का सुख तो विघ्न में नहीं पड़ रहा है ।" थोड़ा बाहर विवेक भी रखना पड़ेगा । इसलिये दूसरों के सुख में सुखी होना; दूसरों के दुःख में दयावान होना; दूसरों का अच्छा गुण तो पहचानना, अवगुण तथा पाप की ओर अधिक ध्यान नहीं देना; क्षमा मन में रखनी; दूसरों के अपराध अधिक गिनने की भी आवश्यकता नहीं है । थोड़ा अपनी "मैं" का भी त्याग करना है अर्थात् इन प्राणी व पदार्थों के संग से मिली इस "मैं" का भी बलिदान करना है । अपनी ओर से कोई शिकायत की बात ही नहीं रखनी है । यदि किसी दूसरे से अपने प्रति कुछ उल्टा कर्म भी हो गया है तो भी थोड़ा दूसरे के प्रति क्षमा का भाव रखते हुए ही अपने को शान्त कर लेना है और अपना बर्ताव सही रखना है । इसी का नाम शील है । मान लो ! दूसरा बेचारा इस प्रकृति के तनाव के कारण कुछ खोटा कर गया है और अभी कर भी रहा है तो इस स्थिति में मैं अपना बर्ताव ठीक रखूँ यही अपने भद्र आप (श्रेष्ठ) बनना है, जिसको पुराने लोग आर्य कहते थे । यह सब अपना कर्तव्य होता है । इस प्रकार से चलने पर बाहर परमेश्वर की भक्ति हो गई, जिसे व्यक्त भगवान् की भक्ति भी कहते हैं । इस

प्रकार अपने आपको नियन्त्रित रखते हुए ज्ञान द्वारा अन्दर के सत्यों की खबर पड़ने लगेगी।

इस प्रकार कर्म–योग, ज्ञान–योग व क्रिया–योग द्वारा धीरे–धीरे उस प्रकृति के बल को क्षीण (दुर्बल) व नष्ट करना होगा। एक दिन इस सारे प्रकृति के बल को क्षीण करके मनुष्य अपने प्रत्यक्ष अनुभव में यह पायेगा कि " मैं अकेला हूँ और हर प्रकार से आनन्द में हूँ ऐसे ही मैं शरीर त्यागने पर इस अपने आनन्द रूप में मर करके भी अजर अमर ही रहूँगा अर्थात् न बुढ़ापे का और न ही मृत्यु का दुःख पुनः मुझे देखना पड़ेगा।" इसलिये इस जीवन में डरने की कोई बात नहीं है। बस ! यही सारे कहे हुए का निचोड़ है।



प्रवचन

गीता जी में एक श्लोक आता है कि

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत''।।

इसका अर्थ है कि हे कुन्तीपुत्र ! ये जितने भी गर्मी सर्दी सुख दुःख आदि देने वाले इन्द्रियों के स्पर्श हैं ये आगमापायी अर्थात् आने जाने वाले अर्थात् सदा टिके रहने वाले नहीं । इसलिये ये अनित्य हैं। क्योंकि नित्य तो वह होता है जोकि सदा एक जैसा बना रहे । इन्द्रियों से जो विषयों का ज्ञान होता है वे सारे विषय स्पर्श रूप हैं । जैसे आँख से रूप का, कान से शब्द का, नाक से गन्ध का, जिह्वा से रस का और त्वचा से ठण्डे गर्म इत्यादि कई प्रकार के स्पर्शों का पता लगता हैं । भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि इन्द्रियों द्वारा विषयों का ज्ञान क्योंकि सदा एक जैसा नहीं बना रहता इसलिये इनकी तितिक्षा करनी चाहिए । 'तितिक्षा' का क्या अर्थ है ? सादे में तो इसका अर्थ है कि 'त्यागने की इच्छा' । यदि क्रियात्मक ढँग से इसका अर्थ समझा जाये तो इस प्रकार है—जैसे मान लो ! किसी समय ठण्डी या गर्मी लगने से थोड़ा दुःख होता है और उस दुःख को दूर करने का कोई शीघ्र उपाय भी नहीं बन पाता है और उस दुःख के कारण मन भड़कता है, साथ ही भड़कते मन में क्रोध भी उत्पन्न होता है, क्रोध में न जाने क्या-क्या करने के लिये सोचता है । अब ऐसा सोचने से तो उस मनुष्य की शान्ति ही बिगड़ेगी, और तो उससे कुछ होता नहीं । क्योंकि कोई मनुष्य कितने भी उपाय कर ले, फिर भी संसार में रहते हुए कुछ न कुछ तो अपने मन के प्रतिकूल या मन की चाह के विपरीत होता ही है । अब ऐसी दुःख की अवस्था में यदि मनुष्य भड़क जाये और उल्टी-उल्टी बातें सोचने लग जाये तो उसका मन सदा विक्षेप में ही रहेगा तथा शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकेगा और दूसरों में समुचित प्रकार से जीवन धारण भी नहीं कर सकेगा क्योंकि मन के उत्तेजना की अवस्था में उसका व्यवहार तो ठीक होगा नहीं । अब जैसे ठण्डी गर्मी का ही दुःख है, बहुत सुखी अथवा दुःख से बहुत डरने वाला मनुष्य तो यहाँ

तक भी विलाप कर सकता है कि "लो जी ! क्या करें ? भगवान् ने भी कैसे-कैसे मौसम बना दिये हैं, दुःख देने वाले ? और ये संसार बनाने की क्या जरूरत थी ? इससे उसको क्या लाभ हुआ ? अब इस तरह नाना प्रकार की चिन्ताओं में पड़ा हुआ ऐसा मनुष्य पता नहीं, कहाँ तक सोचकर, कैसे-कैसे अपने लिये दुःख उत्पन्न कर लेता है । तो ऐसे में ही भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन को यही कहते हैं कि गर्मी सर्दी सुख दुःख इत्यादि देने वाले जो इन्द्रियों के विषय हैं, इनकी थोड़ी तितिक्षा करनी चाहिए, क्योंकि इन्द्रियों के साथ विषयों का सम्बन्ध एक जैसा बना नहीं रहता । इसलिये इनसे मिलने वाला जो सुख है उसको छोड़कर उसके बिछोड़े के दुःख को सहन करे और इस दुःख के कारण मन में चिन्ता विलाप न करता हुआ, उस दुःख के प्रतीकार करने या टालने के रास्ते को भी न सोचता हुआ उस दुःख को सहन करता ही जाये तथा ऐसा दुःख सहन करने का अभ्यास बढ़ाता ही जाये, परन्तु बाहर किसी के प्रति शिकायतें भी न करे । यह दुःख तो धीरे-धीरे सहन करने से अपने आप ही समाप्त हो जायेगा ।

इसलिये अपने मन को इतना तीक्ष्ण करना कि मन इस दुःख से प्रभावित न हो और प्रभावित होकर बुद्धि भी विचलित न हो जाये और यदि इसके सुख में पड़े रहे तो एक दिन दुःख इतना बढ़ जायेगा कि बुद्धि विचलित होने के कारण मन कड़वा हुआ-हुआ न तो किसी से आराम से बोल पायेगा और न ही कोई काम ठीक ढंग से कर पायेगा । वह मनुष्य अपने मन के अन्दर ही चिढ़ता कुढ़ता हुआ एक दिन ऐसी ही अपनी प्रकृति या अपने स्वभाव को बना लेगा कि सकल आयु भर भी उसके पास कितनी ही अच्छाइयाँ व सुख के साधन हों, परन्तु उसका दुःख मिटाने वाला कोई भी नहीं हो सकता । इस प्रकार यह भी एक सत्य है कि संसार में थोड़ा दुःख को भी परखना पड़ता है और दुःख के बीच में भी जीना सीखना पड़ता है । दुःख को देखकर घबराना नहीं बल्कि स्मृति रखकर दुःख को ही देखने में मन को लगाये कि "कितना एक है ? मारने वाला तो नहीं ; नष्ट करने वाला तो नहीं ।"

बस ! इतना ही थोड़ा ख्याल रखना है। तो इस प्रकार थोड़ा दुःख को सहन करने की आदत डालना; उसके कारण चिन्ता में न पड़ जाना; विलाप न करने लग जाना ; हाय !तौबा ! न मचाने लग जाना और उसके प्रतिकार यानी कि टालने के लिये अनुचित उपाय भी न सोचना, इसी का नाम तितिक्षा है।

अब जैसे ठण्डी गर्मी के दुःख हैं ऐसे ही और भी कई प्रकार के दुःख हैं। मान लो ! किसी के दुर्वचन से आपको दुःख हुआ जिससे मन में कई प्रकार की उल्टी सीधी बातें आने लगी और मन यह सोचने लगा कि "जी ! ऐसे तो जीना बड़ा मुश्किल हो जायेगा |" और तरह-तरह के विचार मन में आने से आप उसकी निन्दा इत्यादि करने लगे तो अब बताओ ! इन शिकायतों का बंडल वहाँ पर कौन सुनेगा? यह तो सब सहन करना ही पड़ेगा। और यदि सहन नहीं करते तो इसका अर्थ हुआ कि अपनी ही प्रकृति या स्वभाव को बिगाड़ना और दुःख के साथ ही बाँधना। अब दुःख क्या है कि मन की एक ऐसी अवस्था, जो बुरी लगती है और जिस समय कोई चीज बुरी लगी तो उसको बुरी लगने की अवस्था में ही देख लो कि "कितनी एक बुरी लगती है ? अब यही यदि देखने में थोड़ा समझ-समझ कर अपने को आदी बनाते गये तो धीरे-धीरे दुःख को हज़म करने से उस बुराई से छुटकारा पाने की शक्ति भी मिल जायेगी। जैसे कि देखो ! कई प्रकार के नशे पीने वाले हैं; कई संखिया तक खाने वाले भी होते हैं जो कि थोड़ा-थोड़ा सेवन करते हुए न जाने कितना खा जाते हैं; दूसरा मनुष्य यदि उसका कुछ अंश भी खा जाये तो उसकी शायद मृत्यु ही हो जाये। परन्तु अन्दर यही प्रकृति जो है वही उस दुःख के जहर को हज़म कर लेती है। इसी प्रकार से मनुष्य यदि बुराइयों से टलने के लिए दुःख के जहर को थोड़ा-थोड़ा हज़म करने लग जाये तो उसकी आत्मा में बल मिलने लग जाता है।

अब और, जेसे बीमारी इत्यादि में अपना स्वाद का खाना भी छोड़ना पड़ता है और नाना प्रकार से कहीं चोट काँटा वगैरह का दुःख, भी होता है ; ऐसे में भड़के नहीं; बल्कि मन को शान्त रखते

हुए दुःख को देखते-देखते ही सहन कर ले। यही यदि दुःख को देखते-देखते ही सहन करोगे तो बुद्धि बनी रहेगी और यदि बुद्धि बनी रही तो ही मनुष्य है। और यदि विचार करने की शक्ति खो गयी तो मनुष्यपना गया। उत्तेजनाएँ और जोश तो ऐसे हैं कि जो मनुष्यों के अतिरिक्त दूसरे जीवों में भी हैं। और इनसे कोई जीव बड़ा नहीं होता तथा अपने कल्याण और भलाई का रास्ता नहीं सोच सकता। अतः इन उत्तेजनाओं, जोशों व मन के भड़कावों का दुःख होने पर इनको थोड़ा-थोड़ा टालने की कोशिश करे। इस प्रकार टालने की कोशिश करने पर इसको दुःख का जहर हज़म करना भी तब आ जायेगा। दुःख प्रायः तीन प्रकार का हैं— (i) आधिभौतिक अर्थात् जैसे कहीं बीमारी आ गयी, कहीं शरीर में कोई चोट आ गयी (ii) आधिदैविक ऐसे हैं जो कि देवता इत्यादियों से मिलते हैं जैसे ठण्डी गर्मी वर्षा इत्यादि मौसम तो अपने समय पर आने ही हैं (iii) आध्यात्मिक दुःख यही है कि जैसे दूसरे के दुर्वचन से आपका मन दुःखी हुआ; मन के अनुकूल खाना पीना रहने का स्थान आदि नहीं मिला।

अब ये तीन दुःख जो हैं ये संसार में रहते हुए सभी प्राणियों के लिये हैं चाहे कोई छोटा है ; बड़ा है ; धनी है; निर्धन है—सभी को ये दुःख तो देखने ही पड़ते है और ये आकर इस प्रकार चलायमान करते हैं कि मनुष्य को अपने कर्तव्य का ज्ञान भी नहीं रहने देते जिससे बस वह बाहर ही बाहर उनसे छुटकारा पाने के लिये सोचता हुआ मिथ्या कर्मों के चक्कर में ही भटकता रहता है। फिर क्या है ? कि बुद्धि खोकर उल्टे सीधे कर्मों में लगा हुआ मनुष्य अपनी बर्बादी कर लेता है। तो इसलिये यही है कि पहले से ही थोड़ा दुःख को सहन करने की हिम्मत बना कर रखे और दुःख को आराम से सहन करने के लिये बुद्धि को भी चेतन रखे। इस संसार में रहते हुए दुःख तो हर एक को देखना ही पड़ता है। अब जैसे कोई मजदूरी करता है, कोई खेती करता है और कोई अपना अन्य प्रकार से व्यवसाय (धंधा) करता है तो उसमें वह कितनी लगन से दुःख सहन करके भी

उस काम को करता है। रातों जागकर के भी वह काम करता है। कारण किउसको पता है कि यदि वह इस तंगी से दुःख मानेगा तो उसका जीवन निर्वाह कैसे होगा ? उसका काम काज कैसे चलेगा ? अब इस फल को ध्यान में रखते हुए वह उस तंगी से भी बड़ी बेपरवाही के साथ अपने कारोबार में लगा रहता है। तो जिस प्रकार मनुष्य यह ध्यान कर लेता है कि इस प्रकार तंगी सहन करने से उसे अमुक (फलाँ) फल प्राप्त होगा इसलिये अपने आपको तंगी में भी सँभाल करके ठीक रास्ते पर लगाये रखता है इसी प्रकार धर्म के रास्ते पर चलने के लिये भी मनुष्य को थोड़ी अपने अन्दर की खोज या सत्य का ज्ञान बनाये रखना पड़ता है।

अब सत्य के ज्ञान के सात अंग हैं इनको जरूरी तौर पर अपने अन्दर बसाना पड़ता है। ये सात अंग क्या हैं ? स्मृति, वीर्य, ध्यान, मीमांसा तथा प्रसन्नता, प्रीति, उपेक्षा। धर्म के रास्ते पर चलते हुए पहले पहल मनुष्य को बाहर के सुखों को जब छोड़ना पड़ता है तो उसके कारण मन दुःख मानता है ऐसे में सत्य की खोज (मीमांसा) ही ध्यान द्वारा उसको सही रास्ते पर थामे रखती है उसी प्रकार जैसे कि बाहर का कोई व्यवसाय या ड्यूटी इत्यादि करने वाला यदि अपने कर्तव्य से तंगी मानने लग जाये तो ध्यान द्वारा ही खोज करके वह यह सोच पायेगा कि "अच्छा मना ! यदि तू इस ड्यूटी से तंगी मानेगा तो अपने परिवार का पालन पोषण कैसे करेगा ? "भाई ! ये तंगी तो सभी को सहन करनी ही पड़ती है।" जैसे खेती करने वालों को दिन रात जुतना पड़ता है; व्यवसाय को सफल बनाने के लिये मनुष्य को कितना उद्योग करना पड़ता है ; सेवाकर्मियों को रात को भी अपनी ड्यूटी करनी पड़ती है तो इस प्रकार ध्यान द्वारा सच्चाई का ज्ञान होने पर उसका मन उस तंगी से बेपरवाह हो जायेगा। इसी का नाम उपेक्षा है। और लगन से अपने कर्तव्य को पूरा करने में लगा रहेगा। इसी का नाम प्रीति है। अब यह तंगी मानने के कारण से जो दुःख हो रहा था वह समाप्त होने पर उसके मन में प्रसन्नता भी आ जायेगी। अब यदि धर्म के रास्ते पर चलना है तो ये तीन

(प्रसन्नता, प्रीति, उपेक्षा) भंग नहीं होने चाहिएँ और इन तीन को बनाये रखने के लिये प्रथम चार का सहारा लेना पड़ेगा। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त इस प्रकार है--एक भिक्षु था। वह शहर से दूर एकान्त में अपनी तपस्या करने वाला था। एक बार किसी भक्त सज्जन ने उनको अपनी भिक्षा स्वीकार करने का अति आग्रह किया। यद्यपि वह भिक्षु त्यागी था परन्तु उस भक्त के बार-बार आग्रह करने पर उसने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। संयोगवश दूसरे दिन वह भक्त कोई जरूरी काम पड़ने के कारण स्वयं उस भिक्षु के पास भोजन लेकर न जा सका। इसलिये उसने अपने एक बच्चे को भिक्षु के लिये भोजन देकर भेज दिया। अब जैसे ही वह भोजन लेकर उस भिक्षु के समक्ष उपस्थित हुआ तो भिक्षु का मन क्रोध में भड़कने लगा। क्योंकि वह भोजन उस भिक्षु की आवश्यकता के आधे से भी कम था। भिक्षु के मन में यह आया कि इतने भोजन से तो उसे मानो २४ घण्टे फाका ही काटना पड़ेगा। लेकिन अब बच्चा भिक्षा लेकर आया है उसे क्या कहा जाये ? यदि कोई बड़ा आदमी भोजन लेकर आता तो बात कुछ और थी। मन क्रोध में इतना भड़कने के बावजूद भी भिक्षु ने तप समझते हुए उस बच्चे से भिक्षा स्वीकार कर ली। अब भोजन जैसा कि उसकी आवश्यकता से काफी कम था इसलिये उसके चित्त में विक्षेप होने लगा। कभी तो उस भक्त के बारे में खोटी दृष्टि बने जो कि भोजन कह गया था कि "देखो ! कितना यह दुष्ट शरारती आदमी था। मेरे को ठगने के लिये मुझे भोजन कह गया। अब मेरे २४ घण्टे कैसे निकलेंगे? यह शंका भी तंग करे। सुख बिगड़ने से राग और दुःख के कारण द्वेष भी उसको तंग करने लगा और उस भक्त के प्रति बैरी जैसी दृष्टि बनने लगी। अन्त में मान भी भड़के; मोह भी आये। अब बार-बार उस तरफ से ध्यान हटाने पर भी मन बार-बार उधर की ही सोचों में जाये। अब ऐसे करते-करते दो तीन घण्टे बीत गये। परन्तु आखिर था तो भिक्षु ही। किसी न किसी कारण से विचार जाग ही गया। ध्यान में खोज करने पर उसके मन में विचार आया कि "भाई ! तूँ खाली भड़क रहा है इससे कोई लाभ तो

होने वाला है नहीं ; फिर कई, कितने-कितने दिन व्रत रखते हैं। तूने भी कई व्रत किये हुए हैं; तो आज दिन तक तूँ मरा तो नहीं और यदि आज फाका होने से तेरा व्रत हो गया तो इससे तेरा क्या बिगड़ जायेगा ? और फिर कम से कम जलपान जितना भोजन तो तूने ग्रहण कर ही लिया है और २४ घण्टे की तो बात ही है। इसलिये तू घबराता क्यों है ? कल फिर आ जायेगा। इससे ज्यादा खा लेना।" अब इस प्रकार से उसने अपने मन को मनाना शुरू किया। इतने में कोई एक महात्मा उसके पास पहुँच गया। वह महात्मा इस प्रकार की घटनाओं के दुःख को सहन कर-कर काफी पहुँचा हुआ था। उस भिक्षु ने उस महात्मा से अपने मन की सारी व्यथा कह सुनाई। तो महात्मा ने उस भिक्षु को शिक्षा दी कि "देखो ! नारायण !बीमारी से कई-कई दिन भोजन छोड़ना पड़ता है; और फिर हम अपनी इच्छा से भी कई-कई बार छोड़ देते हैं जैसे नौरात्रों में नौ दिन खाते ही नहीं; पानी पर ही रह जाते हैं; एक पाव दूध पर ही रह जाते हैं; उससे तो ज्यादा भोजन तुमने खा ही लिया है। और जो तुम्हारे मन में थोड़ा दुःख हुआ है इसी के कारण से इस भक्त की तुम्हारे मन में दुष्ट, पापी, वैरी आदि की दृष्टियाँ बन रही हैं। अब यह तुम्हारी समझ में ही वह भक्त पापी, दुष्ट इत्यादि है। अगर तुम ध्यान में थोड़ा विचार करके देखो तो वास्तव में उस बेचारे भक्त का दोष क्या है ? अब ये तीन चार बार खाने वाले हैं। सुबह जलपान किया ; दोपहर का भोजन, शाम को जलपान और फिर रात का भोजन। उसने शायद ऐसा सोचा होगा कि भिक्षु तो जैसे है उनका इतना ही भोजन होता होगा जितना कि वे स्वयं एक समय में खाते हैं। तो उन्होंने अपने ढँग का भोजन आपको भेज दिया। इसलिये वे दुष्ट वैरी कुछ नहीं है ; उन बेचारों का ज्ञान ही इतना है। बस ! महात्मा के इतना समझाने से उस भिक्षु का वैर भड़काव दूर हो गया और उसका मन शान्त हो गया।

तो अब यदि इस दृष्टान्त का विश्लेषण (छानबीन) किया जाये तो पता चलेगा कि भोजन आवश्यकता अनुसार न मिलने के

कारण उस भिक्षु के मन के बीच में धर्म की प्रीति बिगड़ गयी थी और इस तंगी के कारण उसका मन भड़कने लगा था तथा दुःख मानने के कारण उसकी प्रसन्नता भी समाप्त हो गयी थी। मन बार-बार उस भक्त को बैरी पापी के रूप में देखने के कारण से इस दृष्टि से बेपरवाही (उपेक्षा) भी नहीं कर पाया था। परन्तु महात्मा के वचन समझ में बैठने पर भिक्षु का ज्ञान जाग गया। ज्ञान जागने से उस भिक्षु ने हिम्मत से उस क्षुधा के दुःख को सहन कर लिया। परिणामस्वरूप धर्म में उसकी पहले जैसे लगन (प्रीति) भी हो गयी। पहले जो वह भूख के कारण तंगी मान रहा था, वह तंगी भी उसने खुशी-खुशी सहन कर ली तथा वैरी आदि की दृष्टियों से भी उसके मन में उपेक्षा हो गयी।

तो अब यह सत्य का ज्ञान जगाने के लिये धर्म के सात अंग हैं। जैसे उस भिक्षु ने इनका सहारा लेकर अपनी बुद्धि को चेता लिया उसी प्रकार कोई दूसरा भी अपने मन को एकान्त में बैठकर समझा सकता है। मान लो ! कहीं बाहर से ठीक बर्ताव न मिलने के कारण या किसी अन्य दुःख से या किसी सुख के बिगड़ने से मन भड़कता है तो अब इन्हीं भड़के हुए मन की अवस्थाओं में यदि उसी प्रकार समय बिताते ही गये जैसे दो तीन घण्टे उस भिक्षु ने व्यर्थ ही गँवा दिये तो बताओ ! ऐसे विपरीत घटना चक्र (बबाल) में समय बिताना क्या है कहीं आराम का काम है ? केवल अपना दुःख ही मनुष्य बढ़ा लेता है और यही उसका आध्यात्मिक बन्धन बन जाता है। तों इसलिये उत्तम (बढ़िया) युक्ति यही है कि जैसे ही कोई दुःख आये या कोई आदत का छोटा मोटा सुख बिगड़े तो मनुष्य ऐसी अवस्था में अपने मनोमन हाहाकार न मचाने लग जाये बल्कि स्मृति बनाये रखते हुए ध्यान में थोड़ा दुःख के कारण को खोजने की कोशिश करे और तितिक्षा से काम ले अर्थात् ऐसे दुःख के समय में चिन्ता विलाप न करता हुआ, बल्कि मन को शान्त रखता हुआ हिम्मत से दुःख को सहन करने का अभ्यास बढ़ाता जाये इसी का नाम तितिक्षा है। बीमारी इत्यादि का दुःख भी तो मनुष्य सहन करता है; जले कटे का दुःख भी

देखता है। इसी प्रकार और कितने ही दुःख हैं जो मनुष्य को न चाहने पर भी सहन करने ही पड़ते हैं। यही श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को गीता जी में कहा है कि सर्दी गर्मी, सुख दुःख को देने वाले जो इन्द्रियों और विषयों के संयोग हैं ये क्षणभंगुर और अनित्य हैं इसलिये तू उनको सहन कर और इनमें अपने मन को मत भड़कने दे।

मनुष्य जब से इस संसार में पैदा हुआ है वह तो सुख में ही पला है और उसने तो दुःख में रोना ही सीखा है कि कोई दूसरा ही आकर उसके दुःख को दूर करे। परन्तु सकल आयु भर कोई बच्चा तो रहता नहीं। आखिर समय पाकर जब वह बड़ा होता है तो वह अपने दुःखों का उपाय आप ही सोचता है। अब इस अवस्था में जबकि वह स्वयं ही सोचने वाला है तो दूसरे उसके दुःख की परवाह नहीं करते बल्कि दूसरों से ही कई प्रकार के दुःख ही आते हैं। अतः यदि किसी ने ऐसे दुःख को झेलना नहीं सीखा तथा मन को शान्त रखना नहीं सीखा तो यही समझना चाहिये कि ऐसे मनुष्य का तो आध्यात्मिक रीति से पतन ही हो गया अर्थात् वह अपनी ऐसी प्रकृति बना लेगा कि वह सदा चिढ़ा ही रहेगा; दुःखी रहेगा; दूसरे उसको बुरे लगने लगेंगे। तो इस तरह करते-करते एक दिन सब लोग उसको भी बुरा ही समझने लग जायेंगे और ऐसी अवस्था में यदि वह संसार से विदा भी हुआ, तो कौन से अच्छे लोक को प्राप्त होगा ? अर्थात् वह मनुष्य दुर्गति ही पायेगा। तो इसलिये कहने वाले कह गये हैं कि ठीक है ! धर्म बहुत हैं; दान देना भी धर्म है; और भी नाना प्रकार से दूसरों की सेवा भी धर्म है तथा वे धर्म अपने-अपने स्थान पर पुण्य कमाकर सुख देते हैं। परन्तु आपने अपने आपको यदि संसार के चक्कर से, बन्धनों से और नाना प्रकार के विक्षेपों से मुक्त करना है तो यही धर्म है कि थोड़ा दुःख को सहन करना सीखो और यह दुःख सभी को मिलता है। इसलिये दुःख को सहन करने का ही धर्म पहले बना लो। अब दुःख जो है किस-किस रास्ते से आता है ? इसको थोड़ा ध्यान करके देख लिया कि "हाँ भाई!

यदि ऐसा दुःख अपना कल्याण साधने के लिये नहीं सहन करते तो फिर क्या तुम्हारा अन्तिम भला किसी और उपाय में है ? तथा दुःख किसको नहीं है ? क्या संसार में कोई भी ऐसा है जो यह कहे कि जन्म से लेकर सदा वह सुखी रहा है या रहेगा ? दुःख सबके पीछे है। बस इतना ही है ! कि तुझे दूसरे का सुख ही ज्यादा दिखायी देता है। वास्तव में सब दुःख के बीच में ज्यादा है तथा सुख सबका कम ही है।"

इस प्रकार खोज-खोज कर यदि आप सत्य का ज्ञान जगाते रहेंगे तो वही तीन (प्रसन्नता, प्रीति व उपेक्षा) आपके साथ सदा बनी रहेंगी जैसे कि दिये गये दृष्टान्त में उस भिक्षु में सत्य का ज्ञान जागने पर उसमें फिर से यही तीन बन आयी थी तथा धर्म के प्रति कुछ ज्यादा विषाद या दुःख भी आपके मन में नहीं रहेगा। अन्यथा धर्म मन में खोने लगता है। यदि दूसरे से कोई छोटा मोटा दुःख भी आ पड़े तो, उसके कारण भी मन कई प्रकार की (तरह-तरह की) शिकायतें करने लगता है कि "लो जी ! हम तो दूसरे की सहन करते जायें और दूसरा सिर पर ही चढ़ता जाता है। दूसरा दुर्वचन कहता है ; एक बार तो इसका दुःख सहन कर लिया; फिर कब तक ऐसा हम करते रहेंगे ? अब ऐसी ही अवस्थाओं में यदि थोड़ा ध्यान का बल रख कर अपने मन के अन्दर ही थोड़ी खोज करनी शुरू कर दी जाये तथा एकदम उतावला होकर कुछ बाहर करने के लिए तैयार न हो, तो अन्दर से ही ऐसी भी आवाज आयेगी कि "मान लो ! मना ! दूसरे के दुर्वचन का दुःख यदि तूँ सहन नहीं करेगा, तो और क्या करेगा ? तेरे अन्दर इतनी शक्ति तो है नहीं कि दूसरे किसी का खोंटा करके स्वयं सुरक्षित रह जाये या दूसरे को मन चाहा दण्ड दे सके।" इस प्रकार मन में ध्यान द्वारा विचार जगा-जगा कर दुःख को हज़म करने की आदत डालनी पड़ेगी और यह आदत तभी पड़ेगी जब जागते हुए सब कर्म करने की आदत हो अर्थात् दातुन जैसा छोटे से छोटा कर्म करने में भी स्मृति न खोये। अब इस प्रकार स्मृति यदि बनी रही, तो दुःख को पहचान कर हज़म

करने के लिये मनुष्य अपना धर्म जगा लेगा। और यदि ऐसा नहीं, फिर भी काम तो सब करेगा परन्तु मन में चिढ़-चिढ़ कर करेगा जिससे मनुष्य अपनी प्रकृति या स्वभाव को ही बिगाड़ लेगा। उदाहरण के तौर पर जैसे किसी ने अन्य किसी दूसरे को देर रात के समय डॉक्टर को बुलाकर लाने के लिये भेजा। वह गाँव की जगह थी ; डॉक्टर को बुलाकर लाने में उसको काफी पैदल चलकर जाना पड़ना था। अब रात में ठण्डी के समय वह डॉक्टर को बुलाकर लाने के लिये जा रहा है ; परन्तु मन में गुड़गुड़ाता जा रहा है और कभी किसी को दोष देता है कभी किसी को कभी रोगी के बारे में कहता है कि "देखो जी ! ये लोग न जाने क्या-क्या खा पी लेते हैं जिसके कारण से इनको रोग होता है और दुःख हमारे जैसे को सहन करना पड़ता है।" जबकि डॉक्टर को बुलाकर लाने वाला वह जन यह जानता है कि कपड़ा उसने पूरा पहना हुआ है; उसको ठण्डी से कोई नुकसान होने का भय नहीं है और उसके थोड़ी सी तंगी सहन करने में दूसरे का भला भी है। परन्तु तंगी सहन करने की आदत नहीं है। वह अचानक आ पड़ी है उसके कारण इतना परेशान हो गया है कि स्मृति भी ठिकाने नहीं रही। अब रास्ता तो गुड़गुड़ाते हुए भी कटेगा। परन्तु इस अवस्था में यदि स्मृतिमान् होकर, होश को ठिकाने रखकर कदम-कदम पर मन को निग्रह करता जाये, मन को रोकता हुआ चले; भड़कावे में न आये और पहुँचने के स्थान पर पहुँच कर यदि पूरा काम कर ले तो यह बड़ी तपस्या होगी। अब एक बार यदि हो गयी तो दूसरी बार रास्ता खुल गया; तीसरी बार और ठीक हो जायेगा; ऐसा करते-करते यह आदत ही पड़ जायेगी। ऐसी आदत पड़ने के बाद फिर उस पर कोई भी दुःख आ पड़े, वह बड़ी बेपरवाही से उस दुःख को सहन कर लेगा।

दुःख ही सबसे पहला एक ऐसा कारण है जो बुद्धि को टिका नहीं रहने देता। अब यदि आप यत्न द्वारा अभ्यास करते हुए दुःख के बीच में भी स्थिर (टिके) रहे; बुद्धि आपकी बनी रही तो मनुष्यपना बना रहेगा। और यदि बुद्धि खो गयी; उत्तेजना, जोश व क्रोध के

भड़कावे में आ गये, चिढ़ आ गयी ; दूसरों में बुराइयाँ दीखने लगी तो यही समझना चाहिये कि उस समय वह मनुष्यता के स्तर से नीचे गिर गया; मनुष्यता के स्तर से नीचे हैं ये नाना प्रकार के जीव जन्तुओं इत्यादि की श्रेणियाँ । इसलिये कम से कम मनुष्य यदि इसने रहना है और मनुष्यों में भी उत्तम मनुष्य रहना है देवगति में रहना है तो सबसे पहले इस दुःख के जहर को हज़म करना पड़ता है । तो यही भगवान् शंकर के बारे में कहते हैं कि जब समुद्र का मंथन किया गया तो उसमें से जहर भी निकला; परन्तु इस जहर को शंकर भगवान् ने ही हज़म किया । बाहर संसार में दुःख देने वाले ज्यादा हैं और सुख देने वाले कम; कारण! कि हर एक प्राणी अपना सुख चाहता है इसलिये एक दूसरे के सुख का आपस में टकराव है । अब ऐसी अवस्था में सुख को छोड़ने वाले व्यक्ति के लिये बाहर से (दूसरों से) ज्यादा दुःख ही आता है । तो जिसने भी अपनी आत्मा को शान्त करके इस संसार रूपी समुद्र में रहते हुए मथना रूप विचार करके संसार से आने वाले (दूसरों से आने वाले) दुःख की जहर को हज़म करना सीख लिया वही भगवान् शंकर का सच्चा भक्त है । परन्तु यदि आप दुःख के जहर को हज़म नहीं कर सके तथा भड़कावे में आकर क्रोध में बाहर का कोई भी अनुचित उपाय करने के लिये तैयार हो गये, तो उससे आपको शान्ति तो क्या ही होगी बल्कि दूसरों के बीच में रहते हुए वैर विरोध ही बढ़ेगा। तथा ठण्डी गर्मी का, बीमारी इत्यादि का, व और भी, बाहर यह एक दूसरे के साथ बसने का जो दुःख होना है वह तो हो ही जायेगा । तो इस अवस्था में सबसे पहली आवश्यकता इस बात की है कि दुःख को सहन करने में स्मृति यानी होश को बना कर रखे । यदि स्मृति या होश बनी रहेगी तो मनुष्य दूसरे के कारण से होने वाली चिढ़ भी अपने में शान्त कर लेगा ; क्रोध भी शान्त कर लेगा तथा चिढ़ व क्रोध में दूसरे के प्रति अनेक प्रकार की जो वैरी इत्यादि की दृष्टियाँ मन बनाता है उनका भी समाधान अपने मन में पा लेगा । या तो ऐसे ही जैसे कि सांख्य योग वाले मानते हैं कि पुरुष एक सनातन है ; सब पुरुष रूप ही हैं और

दूसरी प्रकृति है। या दूसरा भक्ति योग वालों की तरह जो कहते हैं कि नहीं भाई ! पुरुष को भी ज्यादा पवित्र ढँग से जानो ; पूज्य ढँग से जानो; उसके अन्दर चेतन जो है वह ज्ञान रूप भगवान् ही सर्वत्र व्यापक हैं; तथा वह ही अपनी माया के साथ खेल रहा है।

तो इस प्रकार इस धर्म मार्ग पर चलने वाले पूर्वजों के प्रति थोड़ी श्रद्धा का भाव रख कर सत्य की खोज करने पर यह पता लगेगा कि दूसरे से थोड़ा सा ही दुःख आ पड़ने के कारण, दूसरा जो तुझे वैरी, दुष्ट, पापी, राक्षस या चण्डाल दीखता है ये सारे नाम एक पुरुष को हटाकर तेरे मन की कल्पना ही हैं। इसी तरह जो सुख देने वाला है वह भी पता नहीं क्या-क्या मित्र प्यारा इत्यादि दीखता है। अब उस अवस्था में भी ज्ञान जगाकर समझ ले कि मना ! बस ! तूँ सुख का ज्यादा दास है। इसलिये चाहे वह मनुष्य पापी भी है परन्तु तुझे अपने सुख स्वार्थ के कारण वह सबसे उत्तम (बढ़िया) ही दीखता है। वास्तव में देखा जाये तो न तो कोई उत्तम (बढ़िया) है और न ही निकृष्ट (घटिया)। बस ! दूसरे से सुख दुःख के कारण ही तुझे वह बढ़िया या घटिया दिखायी देता है। इसलिये इस विषय में शास्त्र का यही आदेश है कि सुख दुःख को हटाकर सत्य को सत्य ही देख लो। बस! या तो यह देखो कि जैसा 'मैं' हूँ वैसा ही वह दूसरा भी है अर्थात् सब एक पुरुष रूप हैं या फिर यह देखो कि पुरुष के अन्दर भी अर्थात् सब जीवों के अन्दर भी एक ज्ञान रूप चेतन परमात्मा ही अपनी माया के साथ खेल कर रहा है। इस प्रकार धर्म को साथ रखते हुए यदि आपने ठण्डी गर्मी का, बीमारी इत्यादि का, दूसरे के बर्ताव का, मान अपमान का दुःख एक बार हज़म कर लिया तो दूसरी बार के लिये ज्यादा दुःख हज़म करने की शक्ति बढ़ती जायेगी उतनी स्मृति (भगवती दुर्गा रूप) भी स्थिर होती जायेगी।

अब जैसे-जैसे स्मृति स्थिर होती जायेगी तो उसके साथ-साथ कुछ न कुछ बल भी बन जायेगा। इसी का नाम है वीर्य या हिम्मत। जैसे मान लो दूसरे के दुर्वचन से आपको दुःख हो गया

जिससे आपका मन चिढ़ने लगा तथा चिढ़ व क्रोध के भड़कावे में बाहर आप दूसरे को कुछ उल्टा सीधा कह बैठे; तो वह आपके भले में नहीं होगा क्योंकि इससे तो दूसरा आपका वैरी ही बनेगा। और दूसरी तरफ इसी स्थिति में यदि आपकी स्मृतिं ठिकाने है तथा आपने दूसरे के दुर्वचन के कारण होने वाली चिढ़ या क्रोध को अपने अन्दर ही अन्दर देखते-देखते सहन कर लिया है तो यही आपकी हिम्मत कही जायेगी। वैसे साधारणतया नासमझी के कारण और थोड़ा सा इसलिये भी कि स्मृति ठिकाने नहीं रहती, इसलिये कुछ भी हिम्मत करने की आदत नहीं होती। थोड़ा सा दुःख हुआ नहीं कि दूसरा कुछ का कुछ दीखने लगता है। जैसे पूर्व दिये दृष्टान्त में भिक्षु को भोजन आवश्यकता अनुसार न मिलने पर वही भक्त न जाने दुष्ट, पापी, वैरी क्या-क्या दीखने लग गया था। परन्तु विचार करने तथा महात्मा के सुझाने पर जब उसकी बुद्धि जाग गयी तो वही दुःख उसने हिम्मत से सहन भी कर लिया। तो ये सारा जितना धर्म का रास्ता है वह मनुष्य के लिए अपने अन्दर पहचानने का है। यदि मनुष्य सोया-सोया सा इस संसार में बहता रहे अर्थात् जीता रहे तो वह तो प्रकृति का ही बहाव है क्योंकि सोयी-सोयी यह मनुष्य को ले चलती है, सोयी-सोयी मारती है तथा सोये-सोये ही आगे जन्माती है। और यदि यहीं आप चेत गये; आपका ज्ञान जाग गया; समझ से आप विकारो को नष्ट करने लग गये तथा दुःख को थोड़ा सहन करके बुद्धि बनी रही तो यह चेतन भगवान् का काम है। अब इस अवस्था में चेतन की भक्ति करते आपका मन ज्यादा अपने आप में ही रहेगा जिससे प्राण शक्ति भी आपकी देह में ही इकट्ठी रहेगी, जिसका परिणाम सुख होता है। और यदि ऐसा नहीं तो मन बाहर दूसरों में ही रहेगा। मन बाहर दूसरों में जितना जानने में रहेगा उतना ही प्राण शक्ति भी बाहर ही भटकेगी। प्राण-शक्ति के बाहर भटकने से थकावट होती है और अन्त में दुःख ही होता है।

तो इस प्रकार यही थोड़ा दुःख का होना या थोड़ा सुख का न होना ही ज्यादा भड़काता है। इसलिये अन्तिम भले को दृष्टि में

रखते हुए थोड़ा सुख यदि जाता है तो जाने दे; थोड़ा दुःख यदि आता है तो कोई बात नहीं, उसको बुद्धिपूर्वक सहन करे। साथ ही बाहर किसी के प्रति शिकायतें भी न करे। तब यह धर्म का मार्ग आराम से चलता है। अब ऐसा होने पर वह मनुष्य दूसरों के बीच में मिथ्या कर्मों के चक्कर में न पड़कर, अधिक अपने आप में रहेगा। वैसे तो सभी को अधिक समय के लिये अपने आप में ही रहना पड़ता है। बस ! जब दूसरों के साथ कोई व्यवहार होता है तभी एक दूसरे के प्रभाव एक दूसरे पर पड़ते हैं परिणामस्वरूप किसी से सुख होता है किसी से दुःख। तो ऐसी अवस्था में उस समय ही थोड़ा सा दूसरे को बाहर जाना पड़ता है अन्यथा सभी अपने आप में ही रहते हैं। परन्तु अपने आप में ठीक वही रह सकता है जो थोड़ा दुःख को हज़म करके अपने मन को शान्त रखे। तथा जो ये कोई भी मन को भड़काने वाले राग द्वेष आदि बन्धन और काम क्रोध आदि विकार हैं इनको पहचान-पहचान कर इनके चंगुल से निकलता रहे। बस ! ऐसे यत्न करते-करते एक दिन आदत पड़ जाती है। आदत पड़ने पर फिर क्या है ? कि उस मनुष्य का ध्यान इतना जागृत रहता है कि जब भी कुछ खोंटा करने के लिये विचार पैदा होगा तो वह झट से ही खोज करना शुरू कर देगा तथा वहीं मन से प्रश्न कर देगा कि "क्यों भाई ! दूसरे के कारण से थोड़ी सी तंगी ही हुई है और तुम भड़क रहे हो। आखिर तुम बताओ ! यदि यह दुःख सहन नहीं करते, और फिर बाहर जो कुछ भी तुम बनना चाहते हो, उसका क्या परिणाम होगा ? बस ! इस प्रकार निष्पक्ष होकर यदि खोज करने लग गये तो उत्तर मिल जायेगा कि "हाँ भाई! धर्म को साथ रखते हुए थोड़ा दुःख सहन करने के अतिरिक्त कोई भी दूसरा उपाय ठीक नहीं।"

अब इस प्रकार यदि खोजे नहीं व भड़कावे में आ जाये कि " लो जी ! कहाँ तक सहन करें ? देखा जायेगा जो कुछ भी होगा ? और काम तो सारे करते रहे, परन्तु चिढ़ते कुढ़ते हुए; तो इससे क्या लाभ हुआ ? तो ऐसी अवस्था में उत्तम (बढ़िया) रीति यही

है कि विकारों को अपने मन के अन्दर ही शान्त करके इनसे होने वाले दुःख को हज़म कर लेना, बस ! इस प्रकार थोड़ा दुःख को हज़म करते-करते बल बनता जायेगा। अब जीवन तो निकलता जाता है। यही बल बनते-बनते यदि कुछ वर्ष निकल गये तो अन्त में जाकर उस मनुष्य का स्वभाव इतना पक्का हो जायेगा कि कोई भी दुःख आ पड़े उसकी प्रीति नहीं जायेगी; मन प्रसन्न रहेगा और वह उस दुःख की तरफ से बेखबर (उपेक्षा वाला) हो करके उसको सहन करने का आदी (अभ्यस्त) भी हो जायेगा। बस! ऐसा अभ्यास करते-करते धर्म उसके मन में पक्का बस जायेगा। अब धर्म के रास्ते ही भगवान् मिलता है। तो ऐसे मनुष्य को खुली आँखों से भी सब में फिर एक ही चेतन दीखेगा। न उसका किसी से वैर होगा और न ही राग। जब ऐसे मनुष्य को एक चेतन ही दीखेगा, दूसरा दीखेगा ही नहीं ; तो फिर उसको बाहर किसी से भय या शंका भी नहीं रहेगी। जब भय या शंका नहीं रहेगी तो ऐसी अवस्था में ऐसे मनुष्य का मन अपने शरीर में इकट्ठा हुआ-हुआ अपने आप में आनन्दयुक्त रहता है और बाहर सुख के लिये कोई कुछ भी न करने पर उसके लिये सुख अपने अन्दर ही रहता है। तो इस प्रकार धर्म के रास्ते से जब अन्दर का सुख प्रकट हो जाता है तो समझो ! भगवान् का रास्ता पूरा हो गया। अब यह अन्दर का सुख ही ऐसा है जो बाहर के सब प्रकार के बन्धनों व दुःखों से छुड़ाने वाला है और यह तभी मिलता है जब बाहर से मुक्ति हो जाये। बाहर से मुक्ति तभी होती है जब बाहर की कोई उलझन न रहे। और उलझन पैदा होती है थोड़ा दुःख के होने से या सुख के न रहने से। तो इस उलझन से निकलने के लिये यही है कि धीरे-धीरे अपने आपको ऐसे साधे कि ज्ञान को साथ रखते हुए दुःख को सहन करना आ जाये। अब ज्ञान को साथ रखते हुए यदि दुःख को सहन करने की आदत पक्की हो जायेगी तो मन सदा लगन के साथ धर्म के रास्ते पर बना रहेगा तथा एक न एक दिन इसी रास्ते पर बना-बना पूर्णता तक पहुँच भी जायेगा।

तो यही सारा कहने का निचोड़ या निष्कर्ष है जैसा कि इस व्याख्यान के आरम्भ से ही कहा जा रहा है कि जब भी किसी कारण से थोड़ा दुःख आ पड़ने पर धर्म के रास्ते से मनुष्य की अरुचि हो जाये तो ऐसी स्थिति में उस थोड़े दुःख के भड़कावे में आकर अपने धर्म के रास्ते से हटे नहीं बल्कि उस दुःख की तितिक्षा करे। तितिक्षा का अर्थ है दुःख को चिन्ता विलाप किये बिना, हाय तौबा मचाये बिना तथा उसी को दूर करने के लिये अनुचित उपायों को सोचे बिना, बड़े आराम से मन को शान्त करके सहन कर लेना। क्योंकि भगवान् श्री कृष्ण जी ने गीता में कहा है कि सर्दी गर्मी व सुख दुःख आदि देने वाले इन्द्रियों के स्पर्श (ज्ञान) आगमापायी हैं अर्थात् आने जाने वाले हैं तथा ये कोई भी सदा एक जैसे बने रहने वाले नहीं हैं, कारण कि मन का अन्दर से स्वभाव ही ऐसा है कि यह सदा परिवर्तनशील है। मन में जो ज्ञान की धारा सदा बहती रहती है वह स्थिर नहीं है बल्कि उसमें क्षण-क्षण नयी-नयी तरंगें हैं। जैसे मान लो ! दुःख की अवस्था ही है—उदाहरण के तौर पर पाँच मिनट के लिये ही दुःख है और आप उस दुःख को देखते-देखते सहन करने लग गये तो इतने में मन ही अन्दर से इतना चेतन हो जायेगा कि या तो नींद ला देगा या दुःख हटा देगा। इसी प्रकार दूसरी और यदि सुख की अवस्था है तो चाहें आप उस सुख को बनाये रखने का कितना भी यत्न कर लो, फिर भी मन का अन्दर से ऐसा स्वभाव है कि उस स्थिति को बदल कर ही छोड़ेगा अर्थात् उस स्थिति को कभी एक जैसी बनी नहीं रहने देगा।

अब इस प्रकार उपर्युक्त बतायी रीति के अनुसार यदि कोई मनुष्य दुःख सहन करता आयेगा तो उसकी आत्मा में बल बनता जायेगा तथा ऐसा बल बनते-बनते वह मनुष्य एक दिन यह देख लेगा कि बाहर से कोई किसी प्रकार का भी दुःख आये, वह सब को आराम से सहन कर सकता है और देखते-देखते ही उसको टाल सकता है। ऐसा होने पर किसी के प्रति द्वेष नहीं होगा; मान नहीं भड़केगा; संशय नहीं आयेंगे; दूसरे प्राणियों के प्रति उल्टी सीधी दृष्टियाँ (नजरें) भी नहीं बनेंगी। ऐसे मनुष्य को तो एक ही चेतन, एक

ही ब्रह्म सब में काम करता दीखेगा तथा उसके मन को बाहर रुलाने वाला, भड़काने वाले या बिखारने वाला कोई नहीं रहेगा। जिससे उसका ज्ञान भी अपनी देह में रहेगा तथा ज्ञान की शक्ति प्राण भी अपनी देह में ही रहेगा। देह के अन्दर से यहाँ अभिप्राय है कि वे उसके बहुत निकट या समीप रहेंगे। अब ज्ञान की शक्ति तथा प्राण की शक्ति के अपने देह में इकट्ठा होने से ही मनुष्य को सुख प्राप्त होता है। तो जिस प्रकार से नींद में सोये हुए मनुष्य को संसार की कोई खबर नहीं रहती तथा नींद में इतना आनन्द व आराम प्राप्त होता है कि कोई भी उस सुख से हटना नहीं चाहता उसी प्रकार जिस समय जागते-जागते भी बाहर संसार में कहीं भी मन की लगन न रहे, बाहर कोई भी वस्तु मन को भड़काने या बिखारने वाली न रहे तो यही मन बहुत समीप से या अन्दर नजदीक़ी में इकट्ठा हो जाता है। तो इसी को कहते हैं एकत्रित मन की एकाग्रता अब यदि कोई मनुष्य अपने ढँग के ध्यान से ही बाहर के ही उपायों का सहारा लेकर मन की एकाग्रता करना चाहेगा तो यही बाहर के उपाय ही उसके ध्यान को बिखारने वाले बन्धन बन जायेंगे। परन्तु दुःख को सहन करते-करते किसी का मन यदि बन्धनों से मुक्त हो गया तो उसके ध्यान को डिगाने वाला भी कोई नहीं रहेगा।

तो इस प्रकार से मन अन्दर इकट्ठा हुआ-हुआ ही उस परमात्मा चेतन जो देह में जीवन देने वाला है इसके निकट हैं। उसी के बीच में ही सदा सुख है। एक बार उसका सुख प्रकट हो जाने पर सदा के लिये उस मनुष्य को पता लग जायेगा कि यह सुख तो उसके पास है तथा अब चाहे वह मरे चाहे वह जिये, उसका यह सुख उससे कोई छीन नहीं सकता। बस ! ऐसा होने पर उस मनुष्य को मत्यु का भी कोई भय नहीं रहेगा। क्योंकि बहते पानी में यदि कोई भँवर पड़ जाये तो वह मरता है। बहती धारा कभी नहीं मरती। वह तो अन्त में जाकर समुद्र में पड़ जायेगी इसी प्रकार हमारे अन्दर यह जो ज्ञान की धारा है यह तो चेतन रूप सबके अन्दर समान है। यह कभी नहीं मरती और सदा एक जैसी रहती है।

परन्तु ये जो बाहर का सामाजिक जीवन है, एक दूसरे के सहारे का, तेरी-मेरी का—इसके बीच में जो 'मैं' का भँवर मिलेगा वह तो मर ही जायेगा। जैसा आज है वैसा कल नहीं रहेगा और कल वाला परसों नहीं रहेगा। यह 'मैं' का भँवर तो धूल में मिलता ही जाना है। क्योंकि आज तो आपके शरीर में शक्ति है जिसके कारण से दूसरों के साथ बँधे हुए आप बाह्य सुख स्वार्थ को पूरा करने की अवस्था में हैं, वह शक्ति शरीर में वैसी न रहने पर, एक दिन बाह्य सुख स्वार्थ भी वैसा नहीं रहेगा। इसलिये बाहर के सुखों के आकर्षण के कारण मन में जो भँवर पड़ता है उसको मिटाकर वास्तविकता (असलियत) को देख ही लेना चाहिये। अब ऐसा भँवर मिटाकर यदि कोई ज्ञान रूप भगवान् की धारा में पड़ गया तो ज्ञान-गंगा-स्नान उसी का ही समझा जायेगा और उसी को सब बन्धनों व दुःखों से मुक्ति मिल जायेगी। फिर उसके लिये मृत्यु का दुःख सदा के लिये समाप्त हो जायेगा। अन्यथा संसार में मरता हुआ प्राणी दुःखी ही होता है। उसके मन में यही भय रहता है कि बाहर के प्राणियों व पदार्थों से विछुड़ने पर पता नहीं उसका क्या बनेगा ? और दूसरी ओर जिसने जीते जी बाहर के प्राणियों व पदार्थों से मिलने वाले सुख की तुच्छता को देख लिया और परमात्मा का आनन्द अनुभव कर लिया तो उसको तो फिर यही होगा कि मरने के बाद भी क्या बनना है ? बस ! जीवन काल में ही जो परमात्मा का आनन्द अनुभव कर लिया है, यही मिलेगा। तो इसलिये इस सबकी औषध (दवाई) यही है कि थोड़ा दुःख के जहर को हज़म करना। जैसे छोटी-छोटी बात में, ठण्डी गर्मी में, दूसरे के व्यवहार के कारण या देह में कोई संकट इत्यादि आ पड़ने पर जो थोड़ा दुःख होता है उसको थोड़ा स्मृति से समझते-समझते सहन करने की आदत डालना। यहाँ समझते-समझते का अभिप्राय है कि दुःख में भी बुद्धि बनी रहे। ज्ञान को जगाकर यदि मन में दुःख को सहन करने की लगन (प्रीति) बनी रही तो यही थोड़ी बहुत अन्दर शक्ति बन जायेगी। अन्त में यही शक्ति बनते-बनते सारे संसार से न्यारा (अलग) करके परमात्मा के पास मिला देगी। यही सारे का निचोड़ है।

प्रवचन

७-१-१९८७

१. सब प्राणियों के अन्दर यह एक ऐसा सत्त्व है अर्थात् एक ऐसा जीवन का देवता रूप तत्त्व बैठा हुआ है, जो जन्म से सब के साथ आया है;किन्तु उसी अज्ञान के समय के अनुसार प्रत्येक प्राणी उसी को ही अपनी आत्मा या अपना आपा समझता है। शुद्ध सच्चिदानन्द एक रूप, जो प्रत्येक का अपना आपा या आत्मा है, वह अभी साधन के बिना समझ से दूर है। जो कुछ भी इस देह को जीवन दान देने का कार्य है या इस देह को दशों दिशाओं में चलाने का कार्य है; यह सब उस देव का काम है। शास्त्रों के ज्ञाता लोग इससे बहुत परिचित हैं और इसके परिचय के बिना मुक्ति का मार्ग या कर्म का सफल मार्ग चलना भी कठिन सा होता है। वेदों में इसको 'प्रजापति देव' कहा गया है। (''स वै शरीरी प्रथमा'') अर्थात् जो सबसे पहला शरीरी (शरीर में अपनी आत्मा का अभिमान करने वाला) है। जिस समय संसार में प्राणी आया है, अर्थात् जिस समय पैदा हुआ है उस समय तो उसको होश नहीं होता; और जिस समय संसार में उसकी आँख खुली या समझ जागी, तो वह जो पहले पहल जागी है, वही प्राणी है; वह सबके अन्दर समान रूप से है। जो कुछ भी मनुष्य के अन्दर भाव उत्पन्न होते हैं, वे सब इस देव की कृपा से ही होते हैं। जैसे किसी को थोड़ा सुख हुआ या कोई मीठा लगा, उससे उसके अन्दर प्रीति उत्पन्न हुई; इस प्रकार हँसी-खुशी होना; और यदि दुःख हुआ, तो फिर रोना, क्रोध करना, और द्वेष होना; ये सब भाव जो हैं, ये उसी के ही हैं।

२. जहाँ तक आपने सत्य का मार्ग पाना है, सत्य का ज्ञान पाना है और अपने आपको सम्भालना है, धर्म को मन में रखना है और अपने मुक्ति का मार्ग व पवित्रता का मार्ग चलना है, तो इस शक्ति को समझे बिना काम नहीं चलता; क्योंकि मनुष्य इसी को "मैं, मेरी और तेरी" बना रहा है ; जब कि ये उसकी हैं नहीं। यदि इसी के साथ वह मनुष्य एक रूप हुआ-हुआ समझता रहे कि "ये

तो मेरे ही है," तो फिर उसके चंगुल से छूटेगा नहीं। और छूटना है उसको क्रोध के चंगुल से भी, प्रीतियों के चंगुल से भी, मान अहंकार से भी, मोह से भी; और ये भाव हैं, सारे उसके। जैसे बहुत छोटा बच्चा है। सर्दियों के दिनों में आप उसको ठण्डे पानी से नहलाना शुरू कर दो, तो वह रोना चिल्लाना शुरू कर देगा। आप जानते हैं कि इससे (नहाने से)इसका कुछ बिगड़ेगा तो है नहीं ; बल्कि इसका भला ही है। परन्तु वह तो यह नहीं समझता है। वह तो इतना ही जानता है कि प्रकृति के मार्ग से मुझे अच्छा नहीं लग रहा है। बस ! अच्छा नहीं लग रहा अर्थात् जो ठण्डी वगैरह लग रही है, वह उसको सुख देने वाली नहीं है। इसलिये वह नहाने से टलने का संघर्ष करता है कि "इसको टालो" और प्रकृति उसके पीछे-पीछे चलती है। जिस समय उसको कष्ट हुआ, तो उधर रोना शुरू हो गया। वह दूसरे के हृदय को भी द्रवित करता है, पिघलाता है और उधर आँखों में आँसू आ गये, जिससे सारे उसके अन्दर कड़वा रस पित्त वगैरह उत्पन्न होने लग गये। वह जो सृष्टि रचयिता है, ये सब रचने वाला वही देव है। वह तो सब प्रकृति का राज्य है। परन्तु जहाँ तक आपने अपना भला साधना है; तो यदि आप कहें कि "जी! कड़वा लग रहा हैं; ठण्ड लग रही हैं ; नहायें नहीं ; धोयें नहीं ; और भी छोटी-छोटी बात में दुःख मानने लग जायें तो संसार में वह जीवन नहीं मिलेगा जो हित की ओर चलता है।" प्रजापति ने जो मार्ग दिया है, उसमें तो इतना ही है कि जो मीठा लगे, उसमें हँसना, खुश होना, आनन्द लेना और उसी से बँधना। तथा जिधर उसको कड़वा लगता है, उसमें रोना धोना, क्रोध करना और उसको समाप्त करना या उससे भाग जाना। तो ये भाव जो हैं, उस आदि जीव के हैं, जिसने यहाँ जन्म से आँख खोली है। उस समय तो बेचारे के अन्दर बुद्धि, विवेक, बल कुछ भी नहीं था।

३. यह जो अनादि काल से सृष्टि उत्पन्न करने वाला एक छोटे जीव से लेकर सबमें समाया हुआ है; अब यदि इसको आपने अपने अन्दर पहचान लिया, तो सारी उसकी लीला समझ में आ

जायेगी। शास्त्रों में इसको "सुख का देव" कहते हैं ; प्रजापति अर्थात् प्रजा सारी का पति; सबके अन्दर समान रूप से है ; सबके अन्दर भाव यह देव ही पैदा करता है। 'तेरी' 'मेरी' इसमें तो कुछ नहीं। परन्तु सामाजिक प्राणियों में एक दूसरे के सामने मिलने बैठने पर यह "तेरी मेरी" होती है कि "भाई ! तूँ हँसा; तूँ रोया ;यह चिढ़ गया आदि आदि।" अब ये तो मनुष्य एक दूसरे की 'मैं' को लिये बैठे हैं। इसलिये उस 'मैं' को लिये हुए बैठे होने के कारण से उसी को कोसते हैं कि "अजी ! उसने मेरे को यूँ कह दिया उसको ऐसा कहने का क्या अधिकार था ? अब यह जो है, 'तेरी मेरी' में मनुष्य उलझा हुआ है। परन्तु उस देव की लीला को कोई नहीं जानता कि ''यह तो सर्वत्र समान है और मैं इसकी लीला के साथ अपनी 'मैं' न समझूँ ; मैं तो जो हित की वस्तु है, उसको धर्म के रास्ते पहचानूँ और पहचान करके अपना भला साध लूँ।'' यहाँ तक आपने अपने आपको जगाना है। परन्तु थोड़ा एकान्त में ध्यान में वास्तविकता (असलीयत) को समझे बिना ये सत्य समझ में नहीं आयेंगे और चलने का सच्चा रास्ता भी नहीं मिलेगा; और धारण करना भी यह दुःख के साथ ही होता है ; सहज में तो होता भी नहीं हैं।

४. अब देखो ! उसकी सारी लीला इसी तरह की है कि जिधर सुख की वस्तु दिख़ाई दे, उधर ही दृष्टि डालो। अब इसको जिधर सुख है उधर दृष्टि डालेगा। अब इसकी दृष्टि दूसरे को अखरती (गड़ती) है कि उसने मेरे सुख पर दृष्टि डाली। या तो इसने मेरे सुख को सहन नहीं किया या उस सुख को यह अपने आप में चाहता है। इसी का नाम है, ईर्ष्या और मत्सर (द्वेष का भाव)। यदि उसके सुख को देखकर, जो कि धन का, परिवार का, या कोई भी सुख है, आपने ऐसे ढंग से दृष्टि डाली कि जैसा आपके अन्दर उसके प्रति भाव है, वह चेहरे पर भी दिखायी देगा। दूसरे को नजर आयेगा कि यह मेरे सुख को देखकर चिढ़ गया या यह सुख को देख कर इस सुख को अपने आप में चाहता है। तो ऐसी अवस्था में आपके प्रति उसका भी भाव अच्छा नहीं होगा, जिससे

बाहर आपकी भक्ति भी कुछ काम की नहीं होगी। क्योंकि दूसरे के सुख को देखकर आप खुश नहीं हुए। यदि आपने अपने आप को संयम मे नहीं रखा, तो समझो ! आप प्रजापति के मार्ग में बह गये। क्योंकि उसका काम है, जो वस्तु अच्छी लगती है उसी तरफ वह आँखें खोलता है ; उसी ओर झुकता है; चाहे वह हित के लिये हो चाहे अहित के लिये हो।

५. यदि आपको उसमें बुद्धि द्वारा समझ होती, चाहे श्रद्धा से सुना होता या आपने अपनी आत्मा में परखा होता, तो समझते कि "यह मार्ग हित का नहीं है अर्थात् दूसरे के सुख के प्रति अपनी दुर्भाव वाली दृष्टि, जो कि बाहर द्वेष को पैदा करने वाली है, दूसरे के साथ बैर और दुर्भाव पैदा करने वाली है; यही दृष्टि संसार में हमारा जीवन बिगाड़ने वाली है।" यदि इतनी आपके अन्दर समझ आती; तो यही सच्ची भक्ति होती। यदि आपने अपने मन को ऐसा सम्भाला, आँख को भी ऐसा सम्भाला कि उसकी ओर वैसी खोटी दृष्टि ही नहीं की अर्थात् आपने पहचाना ही नहीं कि "दूसरा क्या है?" तो वह समझ जायेगा कि इसने मेरी ओर वह दृष्टि (नजर) नहीं की, जो साधारण जन को किसी अच्छी वस्तु की ओर देखकर होती है; इसने अपनी दृष्टि सम्भालकर रखी; इसने अपने मन को रोक कर रखा। तो इसी गुण के कारण से ही वह अन्दर बैठा हुआ परमात्मा अपनी ज्ञान रूप विद्युत् की तरंगों द्वारा दूसरे के हृदय में ऐसा प्रभाव (असर) डाल देगा कि उसके अन्दर खुशी आ जायेगी; उसका चेहरा खिल जायेगा कि ''वाह भाई ! यह मनुष्य गुणी है।'' अब यह जो है, जानकर कोई नहीं करता। परन्तु व्यवहार के लिये केवल एक दूसरे के कहने में ही यह बनता है कि ''वह ऐसा है; उसने यूँ समझा; उसने यूँ किया।" परन्तु समझने समझाने वाला तो प्रजापति देव है। वह उन तरंगों से तरंगायित होकर जैसे सामने से प्रभाव आते हैं, उनसे यह उसी समय बदल जाता है। जैसा कि पूर्व दिये गये उदाहरण में उस बच्चे की देह पर ठंडा पानी डालने से उसको ठण्डी लगी; जैसे ठण्डी लगते ही एकदम विद्युत् तरंगों द्वारा उसके अन्दर रोने की बिजली प्रकट

हो गयी ; रोते-रोते उसने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि आप कितना भी मनाते रहो, समझाते रहो, वह समझ ही नहीं रहा। वह उस प्रभाव को जानता है, जो उस विद्युत् का है। कौन सी विद्युत् का ? उसी विद्युत् का, जो कि ठण्डा पड़ने से वैसे-वैसे ही उस बच्चे की देह के अन्दर रोना तथा अश्रुपात करवाने का प्रभाव लाती थी। तो उसी प्रकार से यह भी है कि जैसे कि किसी की वस्तु सामने दिखी, किसी के वचन सुने या किसी का कोई व्यवहार देखा, इससे जो कुछ भी प्रभाव हैं, ये उसके अन्दर के हैं। अब इनसे जो कुछ आपके अन्दर प्रभाव आयेंगे, वे भी उसी के ही हैं। आप जान कर करने वाले कुछ नहीं हैं। आप तो उसी के किये कराये में अपने आपे का अभिमान करते हैं और यह मान अभिमान आदि संसार में ही हैं। अब इनको यदि आपने बुद्धि द्वारा सम्भाल लिया और सम्भाल कर अपने अन्दर धारण कर लिया, तो यह धारण पहले पहल तो आपकी श्रद्धा में ही होगा और फिर ध्यान विचार द्वारा बुद्धि में बैठेगा।

६. यदि पहले आपने समझ लिया कि 'मैं सारे अच्छे काम करूँ, जिससे बाहर की भक्ति मेरी खोंटी न हो।' यदि बाहर खोंटा रचा गया, तो उसका फल भुगतना ही पड़ेगा। दूसरों के मन में यदि विरोधी उतरे, तो दूसरे जो हैं, आपके वैरी ही बनेंगे, आपको सुख नहीं लेने देंगे। यहीं नहीं कि यहाँ जागृत अवस्था में नहीं लेने देंगे; जिस समय आप नींद में सोये हुए होंगे या मरने के बाद भी, वे अन्दर की तरंगें, वे अन्दर के कर्म ऐसी सृष्टि पैदा करेंगे कि जिसमें आप के लिये सुख का तो नाम नहीं होगा। जैसे कोई चोर चोरी करके आया और चाहे उसको किसी ने देखा भी नहीं हो, परन्तु जैसे ही सबसे पृथक् (अलग) होकर निद्रा की गोद में वह समाना चाहेगा, तो अपनी बुराई की शंका अपने कर्मों के अनुसार कुछ बुराई का विचार करते हुए यह अवश्य सोचेगा की जिस प्रकार का कर्म करके मैं इतना महान् धन लाया हूँ यदि वैसा कर्म करने वाला किसी ने भी किसी प्रकार से समझ लिया या पहचान लिया तो मेरी परिवार सहित वह दुर्गति होगी जो कि सम्भवतः मृत्यु से भी बुरी हो। अब ऐसे भाव को लेकर वह निद्रा

में चला गया। तो इससे जो कुछ स्वप्न की दृष्टि वह देखेगा, तो उसमें अपने आपको कई प्रकार से पिटता हुआ या अनादर पाता हुआ ही देखेगा। अब यह विचार करना है कि उसके लिये यह सकल सृष्टि रचने वाला कौन है ? वही अन्दर बैठे हुए प्रभाव, वह प्रजापति रिकार्ड लिये बैठा है। चित्रगुप्त ! कि जो आपने किया है, उसके चित्र को, उसकी तस्वीरों को गुप्त (छुपा) करके बैठा हुआ है। हम नहीं जानते कि वह कहाँ छिपाये बैठा हैं ? परन्तु हमारे किये हुए की सारी तस्वीरें छिपी बैठी हैं। अब कब उसने रचनी हैं ? जब यहाँ का स्वाँग समाप्त हो जायेगा। यहाँ का स्वाँग कब समाप्त होगा ? नींद में भी समाप्त हो जाता है मौत में भी, और उस समय भी समाप्त हो जाता है, जब आप एकान्त में होंगे। जैसे ही मनुष्य एकान्त में जाता है, तो कैसी-कैसी भय शंकायें उत्पन्न होने लगती हैं और नींद में भी खोंटे स्वप्न और फिर मरने के बाद भी खोंटी सृष्टि। तो इसलिये ये हैं, प्रजापति के चक्कर वह तो सदा आदिदेव है, वह तो केवल इतना जानता हैं कि उसकी प्रत्येक क्षण नयी-नयी होती है ; उसको इसका कोई पता नहीं। उसमें 'मैं' 'तूँ' भी क्या है ? ये तो सब बाहर व्यवहार के लिये ही हैं।

७. इसलिये हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपने हित की वस्तु पहचान करके वैसी रचना करें, जो कम से कम हमारे लिये भविष्य में दुःख देने वाली न हो। उसको रचने के लिए सब खोंटे पापों से दूर रहना, सब अच्छे कर्म करना और मन की रखना सफाई। ये तीन शुद्ध चीजें हैं। ये बुद्धि को जगाये बिना नहीं होती। यदि बुद्धि जाग गयी, तो ईश्वर का एक अंश जाग गया। "ईश नाम सामर्थ्य का है।" सामर्थ्य का अर्थ है, शक्ति। शक्ति दो प्रकार की है ; एक ज्ञान-शक्ति और दूसरी क्रिया-शक्ति। ज्ञान-शक्ति क्या है? यह पता लगे कि किस कर्म करने से बुरा होता है ? किस कर्म करने से अच्छा होता है ? यह समझना ही ज्ञान-शक्ति है। जैसे एक छोटा सा दृष्टान्त है। कहीं खाना खाने गये ; और आपके सामने कई प्रकार के पदार्थ आये और आपकी तृष्णा उन

पदार्थों को देख कर बच्चे के समान भड़की कि इसको जितना भी है, उतना ही इच्छा भर के खाओ। किन्तु यदि आपके मन में वह पहला ज्ञान रूप ईश्वर का सामर्थ्य उतर आया कि खाना तो इसमें मेरे भले के लिये इतना ही है कि जितना कि मेरा मन चाह रहा है, उससे दसवाँ हिस्सा ही लूँ। मान लो ! मेरा मन तो एक किलो मीठा खाना चाहता है ; परन्तु मेरे भले में केवल सौ ग्राम ही है, तो मैं सौ ग्राम ही मीठा खाऊँ नौ सौ ग्राम छोड़ दूँ। तो यह सामर्थ्य आ गया बुद्धि का कि जो अपने हित के लिये है, आपने समझ लिया कि मेरा हित इसी में है। इसी तरह मान लो, कोई दूसरा खोंटे वचन बोल रहा है और मेरे को क्रोध आ रहा है ; इस क्रोध में मैं जो कुछ भी करने जाऊँगा, वह मेरे भले के लिये नहीं है। ऐसा यदि आपने पहचान लिया, तो समझो ! ईश्वर की ज्ञान शक्ति का कुछ-एक अंश आप में भी आ गया ; इससे यदि आप चाहें तो श्रेष्ठ मार्ग पर प्रवृत्त हो सकते हैं, यदि आपके अन्दर इतनी बुद्धि शक्ति जाग गयी। अब क्रिया-शक्ति अर्थात् करने का सामर्थ्य यही है कि जो जाना है कि यह मेरी भलाई के लिये है, उसको कर भी तो सके। यदि आपने समझ लिया कि नौ सौ ग्राम मीठा मेरे अहित के लिये है ; केवल सौ ग्राम ही मेरे हित के लिये है तो सौ ग्राम ही खायें ; नौ सौ ग्राम छोड़ने की हिम्मत करें, तो यह ईश्वर का दूसरा सामर्थ्य क्रिया रूप है जिसका कि एक अंश आप में आ गया तभी ईश्वर का सामर्थ्य आप में समझा जायेगा कि यदि आपने जैसा समझा है, वैसा कर सके तो। और यदि कोरा समझा ही समझा है, वैसा करने की शक्ति अभी नहीं आयी तो समझो ! भगवान् के करने की शक्ति के अंश से तो आप दूर ही भटक रहे हैं। केवल आदतों की शक्ति ही बलवान् है, जो कि संसार में भटकाने के लिये तो अवश्य है परन्तु मोक्ष के रास्ते से तो दूर ही रखने वाली है।

८. यह नहीं कि कोई चीज समझ तो ली कि भाई ! दूसरे के सुख में सुखी होना ठीक है और सब खोटे कर्मों से टलना ही ठीक है; बुरा तो त्यागना ही ठीक है। बुद्धि ने तो समझ लिया; परन्तु

क्या करें, वैसा बन ही नहीं पाता। क्योंकि अभी बहुत प्रकार की तृष्णा की गुलामी हैं कि मीठा भी खाना चाहिए ; क्या करें जी ! रहा भी नहीं जाता। आदत ऐसी पड़ी है कि थोड़ा कुछ किसी ने कहा नहीं, एकदम सिरे तक क्रोध छा गया और जो कुछ बोला गया, पीछे पश्चात्ताप ही करना पड़ा। इसका मतलब है कि अभी यह भगवान् के करने की जो क्रिया रूप शक्ति या सामर्थ्य है, उसका अंश अभी नहीं उतरा; समझ में तो था, पीछे आकर चाहे पछताया ही; पर मन के अन्दर नहीं उतरा ; इन्द्रियों में नहीं आया। इन्द्रियों द्वारा, वाणी द्वारा कड़वा भी बोल गया और हो सकता है देह (शरीर) द्वारा दूसरे का खोंटा भी कर गया ; नुकसान भी कर गया। तो अब यहाँ तक है, यह बुराई उतरी हुई। असुर (राक्षस) तो बैठे हैं, परन्तु भगवान् कहाँ उतरा अभी ? भगवान् यदि उतर आये, तो क्या होगा ? आँख भी ठीक रहेगी; कहीं भी किसी के खोंटे पर नजर नहीं डालेगा ' किसी के सुख पर दृष्टि नहीं डालेगा, मन में भी उतर आया ज्ञान तो, उसके मन में ईर्ष्या, जलन नहीं आयेगी। किसी के सुख को देखकर सुखी तो भले होगा, परन्तु उसको यह नहीं होगा कि इसके सुख की इच्छा मैं करूँ ! अब बताओ ! ये भाव रूप भगवान् किसी के अन्दर उतरेगा तो क्या किसी दूसरे को दिखायी नहीं देगा ? जब ये दीखेगा, तो दूसरे पर प्रभाव भी डालेगा। परमात्मा कहाँ नहीं है ? जब वह प्रभाव डालेगा तो उसको अपनी ही खुशी होगी। तो जो धर्म को धारण करने वाला है, वह सबका भला करने वाला है; क्योंकि उससे सब लोग सुखी होते है। धर्म को अपने जीवन में यहाँ तक उतारो कि प्रत्येक चेष्टा में आपकी आँख में भी पता लगे कि हाँ भाई ! बड़ा पवित्र देखती हैं कान का भी पता लगे कि बड़ा साफ सुनता है ; वाणी बड़ा ठीक बोलती है ; और आपकी इन्द्रियाँ देह भी ठीक काम करता है ; मन के भाव भी सब सुन्दर है; बुद्धि भी सुन्दर वस्तु का निश्चय करती है। सुख दुःख में भी आप इतने संयमी हैं कि किसी सुख को भी लात मार देते हैं, परन्तु दूसरों का बुरा नहीं होने देते। अपने दुःख को भी आराम से सहन कर लेते हैं और किसी का बुरा करने नहीं चलते।

६. अब इस प्रकार यत्न करते-करते यदि आपके अन्दर धर्म इतना प्रवेश कर गया अर्थात् कृति (करने का यत्न) में भी ऐसा उतर गया कि स्वाभाविक बन गया और तन में भी वैसा ही उतर आया तो समझो! यहाँ भगवान् का काम हैं। तो भगवान् वह होता है कि जिसके अन्दर ईश्वर की ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति अन्त तक इतनी उतरी हुई होती है कि उसकी बुद्धि में भी, मन में भी, इन्द्रियों में भी, देह में भी, सारे में भी ये शक्ति उतर कर उसका चरित्र ही इतना सुन्दर प्रिय हो जाता है कि वह सबको प्रिय (प्यारा) लगता है और सबके भले के लिये होता है ; तब भगवान् है। तो ये तीन शब्द हैं जो शास्त्रों में आम समझने में आते हैं। ईश्वर, परमात्मा और भगवान्। एक ही बात है, नाम उसके अलग-अलग हैं। परन्तु जब आप अपने काम में लाना चाहेंगे, तो इनको तीन तरह समझना पड़ेगा। दूसरों के अन्दर भी, सबके अन्दर वही परमात्मा रूप से बैठा है। देह के अन्दर वही विद्युत् शक्ति (बिजली), वही उसका ज्ञान जो कि सबके अन्दर एक यन्त्र रूप से सबके अन्दर भावों को बताता है ; वह मेरे अन्दर ही नहीं है, पशु पक्षी सब में है। जैसे-जैसे उसके अन्दर प्रभाव पड़ते हैं, उसी तरह के बोल शब्द इत्यादि निकलते हैं और उसी की तरह से एक दूसरे पर प्रभाव (असर) भी होता है। तो यह उसका व्यापक विधान है। सब के अन्दर वह एक चेतन, ज्ञान रूप से और अपनी हरकत विद्युत् रूप से, वह क्रिया शक्ति, जिसको माया कहते है, इन दो के साथ बैठा है। समझता है और समझकर अपनी विद्युत् को प्रवाहित करके नाना प्रकार के प्रभाव (असर) दिखाता है। जैसे कि किसी झाड़ी में खरगोश छुपा बैठा है, उसने दूर से अपनी ओर कुत्तों को आते देखा, देखते ही उसका भाव बन गया कि "ये मेरे खतरे वाले हैं" और झाड़ी से एक दम निकल कर भाग लिया। बस ज्ञान हुआ और भय आया; विद्युत् तरंग उसके अन्दर हरकत पैदा करके देखो ! कहाँ से क्हाँ भगाकर ले गयी। इसी तरह से क्रोध पैदा कर जाती है ; किसी से प्रीति करवा जाती है; मिठास द्वारा हँसी हँसा जाती हैं, किसी से वैर करवा जाती है।

१०. मान लो ! बुद्धि से यदि आपने समझ भी लिया कि यह रास्ता ठीक नहीं है, परन्तु इतना अपने भले के लिये समझने पर भी मालूम होता है कि जिधर आप चलना चाहते हैं; खींच उससे दूसरी तरफ की है। तो ऐसी अवस्था में आप-यदि चिढ़ने लग गये, तो आपने अपना और बुरा किया। क्योंकि यह तो प्रकृति का देव है। इसके साथ लड़ करके साधारण जन इस तरह पार नहीं जायेगा। परन्तु बड़ा नम्र होकर, नीचे से नीचा होकर निकलना पड़ता है। वह तो एक प्रकृति की शक्ति है, प्रत्येक क्षण नयी-नयी उसकी झाँकी है। वह झाँकता है और प्रकृति को चेतन करता है, उत्तेजित करता है। उसी ढंग से प्रकृति सारे देहों का काम चला रही है। और बाहर पेड़ों में, घास फूस में, पशु पक्षियों में, सबके अन्दर समान रीति से चलती है।

११. तो वह शरीरी आदि है, जो पहला शरीरी बना है; इसके अन्दर केवल एक क्षण है, सैकिण्ड बड़ा लम्बा होता है। परन्तु क्षण इतना सूक्ष्म काल है, जिसकी कोई गिनती भी नहीं कर सकता और इन्हीं क्षणों के बीच में प्रजापति अपनी सृष्टि रचता जाता है। उसके बाद जो भी तुम हो, तुम जानो ; आपको प्रजापति से कोई अधिक प्रयोजन (मतलब) नहीं है। तो इसलिये यह है कि उसकी सारी करनी को समझ कर फिर उसके चक्र से निकलना है। अब वह है शक्ति रूप। जिस समय क्रोध पैदा करेगा, तो वह एक शक्ति है और वह आपको अपने रास्ते पर धक्का देगी ; शरीर को भी, इन्द्रियों को भी, मन को भी तो धक्का देने से जो आपका बाहर बर्ताव होगा, वह आपके हित में नहीं होगा। यदि आपने ईश्वर की आराधना की और आराधना करके ज्ञान द्वारा अपने अन्दर समझ लिया कि "क्या अच्छा है ? क्या बुरा है ? तो ईश्वर (भगवान्) की कृपा हो गयी और जैसा कुछ समझ है अपनी भलाई के लिये, वैसा कर भी पाये, तो समझो ! ईश्वर आपके अन्दर आराम से बैठने लग गया। अब यह उतरते-उतरते यहाँ तक उतर आये कि सिरे तक सारे बन्धनों को पहचान ले और पहचान कर इनसे निकल जायें तो आप

समझो कि आप पूरे भगवान् के भक्त हो गये। अब करना तो अपने आप है। देखो ! बुद्धि भगवान् ने मनुष्य को दे रखी है और यही बुद्धि का पूरी तरह से उपयोग यदि कर लिया, तो ठीक है और यदि नर्म रखा तथा छोटे मोटे सुखों में पड़कर उन्हीं की ही दासता अपना ली, चाहे वह सुख रहेगा या नहीं रहेगा तो फिर उस मनुष्य का दूसरा तो और कोई हित करने वाला नहीं है।

१२. तो इसलिये जैसा कि शुरू से कहा जा रहा है कि हमारे अन्दर जो देव बैठा है, वह तो इस देह का काम चलाने वाला है। वह जिस तरीके से करता है, यदि उसी के अनुसार आप चल गये और पीछे कहें कि "लो जी ! यह पापी मन मानता नहीं, मैं तो बहुत चाहता हूँ परन्तु यह बस नहीं चलने देता ; क्या करें जी! समय पर कुछ का कुछ करवा देता है।" तो आपकी कोई सुनने वाला नहीं है। ये आपकी मिथ्या धारणायें है। इसका तात्पर्य (मतलब) यही समझा जायेगा कि ईश्वर (भगवान्) की अभी भक्ति ठीक नहीं है। ईश्वर की भक्ति होती, तो ज्ञान ठीक जाग जाता और दूसरी क्रिया-शक्ति भी जाग जाती। भगवान् की भक्ति होती, तो इन्द्रियाँ, देह, मन, बुद्धि सब में उतर आती। भगवान् का अष्टमी का जन्म है न, कृष्ण जन्माष्टमी। कृष्ण वह काली प्रकृति है, जो नींद में बैठी रहती है, उसमें ये सब छुपे रहते हैं। जब तक आप अकेले में अन्धकार में नहीं जागे, तब तक आप सुरक्षित नहीं हैं। यह ठीक है कि आपके अन्दर मन के भाव भी अच्छे बन गये, जागते हुए बुद्धि भी शुद्ध है; इन्द्रियों से भी ठीक कर गये। परन्तु अन्दर दोष दबा हुआ बैठा है अर्थात् नींद में छुपा हुआ बैठा है और आप नींद की मिठास लेने वाले हैं और इस नींद में छुपे हुए दोष को पहचान नहीं पाते। यदि कभी निद्रा के सुख को भी त्याग कर इसी निद्रा में छुपे हुए सकल बन्धन और विकारों को देख सके और निद्रा को भी त्यागते हुए उस निद्रा में भी छुपने वालों को जीत लिया, तो सत्य का ज्ञान रूप भगवान् आप में उतर आया। अब आप पूर्ण स्वतन्त्र हैं और पूर्ण मुक्त है। आपके लिये वही तब "शिव-रात्रि" यानी कि "कल्याण की रात्रि" होगी जिसमें कि निद्रा को जीतकर सब बन्धन और विकारों को टालकर

परम सुखी हो गये अर्थात् परम सुख का अनुभव कर लिया ; यही सब जन्माष्टमी में आधी रात तथा शिव-रात्रि में पूर्ण रात्रि जागने का महत्व है। यदि आपने अभी पूर्णतया निद्रा के सुख को नहीं जीता तो यह उसी आपकी निद्रा में सब बन्धन विकार छुपे बैठे रहेंगे और किसी समय बीज की तरह फिर उखड़ेंगे। यह नींद में छुप जाता है प्रजापति देव। आप जिस समय ध्यान में बैठकर बुराई से टलने लगे, वह बुराई लिये-लिये नींद की तरफ जायेगा और आपको नींद आने लग जायेगी तथा नींद मीठी लगेगी। आप तो नींद लेने लग गये। अब वह प्रजापति देव बुराई लेकर छिप गया। यदि उस दोष वाली नींद को भी जीत कर वह राग, द्वेष, मान, मोह आदि का जहर समाप्त कर दिया, तो तब मुक्ति की समाधि मिलेगी ; वहाँ भगवान् कृष्ण प्रकट होंगे। यह वासुदेव प्रकट होने पर फिर कोई संकट शेष (बाकी) नहीं रहता।

१३. पहले अपने अन्दर पहचानना है कि जैसे क्रोध में मैं उतावला हो जाता हूँ ; मेरा सुख बिगड़ने से मेरे को जहर चढ़ता है ; द्वेष, चिढ़ होती है ; दूसरे का बुरा करने चलता हूँ , तो दूंसरे भी ऐसे ही करते हैं। दूसरों को तो मैं रोक नहीं सकता ; परन्तु मैं अपने को तो बचा सकता हूँ। अब अपने को बचा करके और दूसरों के प्रति क्षमावान्, दयावान् और उनके अपराधों को भी सहन कर लेना, थोड़ी तपस्या करना और अपने सुख को भी त्याग दिया, तो आपके अन्दर तो उस भगवान् की कला उतर आयी ; दूसरा अपना आप जाने। तो इस रीति से यदि आप धर्म को अपने अन्दर उतारोगे, तो आपकी दृष्टि (निगाह) में वह भगवान् होना चाहिये, जो परिपूर्ण है, चाहे किसी ने उसको देखा है या नहीं। सृष्टि के आदिकाल में ये सब उसी के धर्म के वचन हैं। जो कि ऋषि महात्मा कहते आ रहे हैं और आप उनको सुनकर धारण करते हैं; वह इसमें परिपूर्ण था। वही परमात्मा रूप ईश्वर रूप भी था और उसी के अन्दर ये सारे गुण उतरे हुए थे। किसी समय में भी उसने अपना जीवन लोगों को ऐसे करके दिखा दिया, जिसको लोग देख करके बड़ा प्रिय (प्यारा) मानते थे। अब जिन्होंने भी उनको देखा उन्होंने ऐसे शास्त्र भी बना दिये कि भाई इस

प्रकार से भी मनुष्य लोक में प्रिय जीवन होता है, जो कि सबको प्रिय लगता है और सबकी भलाई के लिये होता है, आप भी उसके भक्त बनो ; और फिर अपने ध्यान में उन्हीं ऋषियों ने देखा कि ऐसे उद्योगपूर्वक उसका धर्मपालन करने पर या उसके जीवन के मार्ग को अपनाने पर कोई भी व्यक्ति उसी में टिकी हुई शान्ति को पा सकता है और वह पूर्ण पुरूष भी उस शान्ति का मार्ग स्वयं संसार के लिये बता कर जाते हैं अर्थात् उसके मार्ग पर चलना असम्भव नहीं है। परन्तु हमारे में अभी शक्ति तो कम ही है, पर जितनी है, पीछे तो नहीं रहना चाहिये। हो सकता है आप ज्यादा त्यागी बन जायें। त्यागी नाम किसका है ? ये छोटे मोटे सुख चाहे प्राणियों से, चाहे पदार्थों से, खाने पीने से, और मित्र प्यारे से होते हैं, उनके सुख को भी त्याग सके तो त्यागी बन गये। इनके त्यागने के दु:ख को सहन करके अपने को बुद्धि में रखकर सब अच्छा कर सके, तो आपके अन्दर उसकी कला उतर आयेगी; भक्तों के अन्दर भी तो वह उतर आता है ; परन्तु पूर्ण तो भाई ! शायद कभी होता होगा। चाहे हमने देखा या नहीं परन्तु पूर्णता पाने के लिए, उसके रास्ते चलने के लिये दृष्टि में उसको जरूर रखना पड़ता है।

१४. जैसे मैंने कहा परमात्मा, ईश्वर, इसी प्रकार यह भगवान् है; यह तीसरे नम्बर का है ; सबसे ज्यादा उत्तम तो यही भगवान् है परन्तु तत्त्व रूप से वे पहले दो हैं। भलाई सबसे ज्यादा इसी से होती है और यही परिपूर्ण होता है। इसी के छः ऐश्वर्य मैंने एक दिन बताये थे कि "विद्या को जानता है और अविद्या को जानता है।" कहाँ तक यह मिथ्या ज्ञान हमारे अन्दर छाया हुआ है ? और सच्चा ज्ञान क्या है ? ये सारा उसको पता है। "भगवान् कर्मों की गति जानता है" वह जानता हैं कि ये कर्म कहाँ तक ले जायेंगे, जहाँ तक ले जायेंगे, वहाँ सत्यानाश है, दुर्गति है; ये जानता हुआ अपने आप उसके अन्दर प्रकृति काम करती है कि उस दिशा में जाना ठीक नहीं है ! फिर भाई ! जो मेरे मन में आ रहा है, यह किस कारण से आया ? "ओहो ! ऐसे-ऐसे भावों के कारण से यह मेरे मन में आया।" "तो ये कर्मों की अगति है कि

वहाँ से चल करके कौन किस जगह पहुँचा हुआ है; ये भी उसको प्रत्यक्ष ज्ञान है अर्थात् जो व्यक्ति को अभी सुख दुःख यहाँ देखने में आ रहे हैं ये किन कर्मों का परिणाम (नतीजा) हैं ? यह भी वह प्रभु जानता है अर्थात् जो कुछ भी सुख व दुःख अभी किसी को भी प्राप्त हो रहा है वह किन पूर्व के कर्मों से हो रहा है ? यह सब विज्ञान उसी भगवान् को है। यही सब कर्म की गति और अगति का ज्ञान है। फिर भगवान् यह भी जानता है कि बन्धन क्या है ? और उन बन्धनों से छुटकारा क्या हैं ? जैसे मैने कई बार बताया कि छोटी मोटी आदत से मनुष्य बँध जाता है। यदि नहीं पूरी करते, तो उसका मन नहीं लगता है ; खुशी नहीं आती ; दूसरों से बोलना भी अच्छा नहीं लगता और कोई काम में भी मन नहीं लगता। यह बँधा हुआ ही मन तो है। जो वस्तु हमारी आदत की है, यदि वह मिलती रहे, तो हम बड़े बुद्धिमान् भी हैं, बड़े वीर भी हैं और सब कुछ करने के अनुरूप (योग्य) भी है। परन्तु यदि कोई आदत पूरी न हो, तो ऐसे उसमें बँधे हुए हैं किं हम बेकार जैसे किसी काम के भी नहीं हैं। तो वह प्रभु ऐसे किसी बन्धन में भी नहीं हैं। वह सब राग द्वेष, मान, मोह, संशय आदि सब बन्धनों को जानता है ; सब बन्धनों का ज्ञान उसको प्रत्यक्ष है। तो यही उसका ज्ञान परिपूर्ण है ; और जानकर किस तरह इन बन्धनों से छूटा जाता है, इसका नाम मोक्ष है। इसको भी वह जानता है।

१५. अपने सहज का सुख जो कभी समाप्त नहीं होता, जैसे मिलता है इसको भी वह जानता है। तो ये चीजें जो जानने वाला प्रत्यक्ष है और ध्यान करते हुए सबके बीच में आराम से रहता हुआ दीखने में आता है और सबके बीच में रहते हुए उसको किसी प्रकार का विक्षेप भी नहीं था। यह कभी सृष्टि के आदिकाल में हो गया, लोगों के बीच मे रहा और उसी के ये सारे आदेश, उन्हीं के बनाये हुए शब्द जो हम शास्त्रों में पढ़ते है, बोलते हैं और जिनके रास्ते हम भी ध्यान करते-करते अपनी देह को शोधते हैं; मन को शोधते हैं ; और बुद्धि को शोधन करते-करते चलते हैं। ये सारे शब्द उनके बनाये हुए हैं :— मैत्री, करुणा, मुदिता,

उपेक्षा, क्षमा, दान, शील, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा आदि जितने भी हैं और संतोष धारण करना, वैराग्य धारण करना। उन्होंने ही ध्यान में बड़ी बारीकी में अन्दर की अवस्थाओं को समझकर वैसा ही उनको नाम दिया। जैसे जब कामना खींचे ले जा रही है; वस्तु अच्छी लग रही है ; फुसला रही है। समझ भी रहे हैं कि खराब है परन्तु मन नहीं मान रहा, तो जान लें कि इसका नाम तृष्णा है। उन्होंने जाना कि मैने जबरदस्ती मन को मना लिया है; सम्भाल भी लिया है और उससे छूटकर सुख भी पा लिया। उन्होंने बताया कि राग से विपरीत वैराग्य भी होता है ; राग से निकल गये, तो उसका, सुख भी होता है। कोई नाटक, स्वाँग, सिनेमा अच्छा लगा, तो पता ही नहीं कि नींद भी आ रही है या नहीं ? कब क्या करना है ? इसकी भी खबर नहीं और उन्हीं का सुख लेने में लगे रहे और लोभ में वहाँ से उठने को मन ही नहीं कर रहा है। उन्होंने ही जाना कि लोभ की तृष्णा भी होती है ; परन्तु यह अन्त में सत्यानाश की जड़ होती है और इससे थोड़ा बचना भी चाहिए इसलिये थोड़ा संतोष कर लेना। यह लोभ से विपरीत है संतोष। यह उन्होंने धारण किया। वही जानते थे कि संतोष क्या है ? कि जिसमें सम्यक् तोष होता है ; जिसमें आराम से पीछे जाकर मन आनन्द पाता है। उन्होंने अर्थ अपने मन में देखा और लोभ को भी जीता।

१६. जिस समय कोई भी अपना सुख बिगाड़ देता है, चाहे वह कोई भी प्राणी है, उस समय उसका सत्यनाश करने की, उसको समाप्त करने की इच्छा होती है। क्रोध से विपरीत क्षमा की देवी है; अपने आपको शान्त कर लेना और नाना प्रकार का कोई खोंटा करने को नहीं जाना, जिससे अन्त में अपना ही खोंटा हो, तो उस अवस्था मे मन में क्षमा रखना और शान्त हो जाना। यह क्षमा भगवान् का ही गुण है। मन अधीर हो जाता है कि "लो जी! मेरा सुख बिगड़ गया बस ! उसको यह भी पता नहीं कि आगे उसका क्या होगा ? सुख बिगड़ गया" तो इतना देखते हुए कुछ का कुछ तो मन में आ जाये, वही बच्चे के समान करने चल

पड़ा— यह नहीं कि थोड़ा समझो तो सही; बुद्धि को चेतन करो; जो मेरे से होना चाहता है, वह भला है कि बुरा है ? अर्थात् मेरे आने वाले समय में मुझे सुख देगा या दुःख ? यही धैर्य है । तो ये सारे गुण उसके हैं । और फिर देखो संसार में रहना पड़ता है। सब में रहते हुए यह नहीं है कि सब का सुख बिगाड़कर तुम अपने सुख के पक्षपाती होवो । पहले दूसरों को सुखी बनाओ । यदि व्यापक को आप सुखी नहीं करोगे, इस परमात्मा की आराधना नहीं करोगे, जो व्यापक प्राण है, व्यापक जीवन है ; तो अपने आप में भी कैसे सुखी होवोगे ? किसी के सुख को देख कर चिढ़ना नहीं और उसके सुख को देखकर सुखी होना है, तो ये उन्हीं का बल था ''मैत्री''; उन्होंने अपने में धारण किया और इसका प्रत्यक्ष भाव देखा । इस प्रकार भगवान् सारे जगत् के प्रिय (प्यारे) थे । गुणों से ही उनकी मान्यता, पूजाएँ होती थी । परन्तु वह बैठा तो धर्म रूप में ही है न; यदि धर्म रूप से आप भी उसको हृदय में बिठायेंगे, उसी तरह से धारण करेंगे, तो यह बात नहीं कि आपके अन्दर न उतरें । यह ठीक है कि किसी के अन्दर सोलह कला उतर आया, किसी में पन्द्रह, किसी के अन्दर चौदह।

१७. परन्तु एक कला तो उतर आये, दो कला भी उतर आये अर्थात् कुछ तो करने के लिये चले । बुद्धि में जैसे उतरा, कहीं मन में थोड़ा आ गया, थोड़ा भावों को सुधार लिया, थोड़ा इन्द्रियों को भी रोक लिया । थोड़ा मन में अकेले बैठकर दुःख भी सहन कर लिया, किसी का कुछ बिगाड़ने की इच्छा न की; थोड़ा सुख का भी त्याग किया कि कोई बात नहीं भाई ! व्रत रखते हैं रोटी न खाने का दुःख भी सहन करते हैं ; और भी, कही गिर पड़ते है, चोट लग जाती है । मान लो! कोई अपने से बड़ा अधिकारी है, बलवान् है वह दुर्वचन दे जाता है, दुःख दे जाता है ; तो वह भी तो सहन करते ही हैं न ।" तो इस तरीके से थोड़ा अपने आप समझ करके ईश्वर की कला को धारण करना । अब इस तरह ईश्वर की भक्ति करते-करते देह, मन, बुद्धि इन्द्रियों आदि में एक कला भी चाहे उतरी, तो समझो ! आप सुरक्षित हो गये । आप

यहाँ दुर्गति तो पायेंगे नहीं। अब रह गया सुगति। इसके बारे में आप जाने, कि कितनी लम्बी चौड़ी यह आपके मन में है। क्या जाने आप भगवान् ही बनना चाहते हैं ? तो जितनी लम्बी आपकी तपस्या होगी, उतने ही लम्बे और उतने ही समय में जाकर बनोगे। परन्तु चलने का रास्ता यही है कि अपने अन्दर कुसत्य को समझना सत्य को पहचानना। जन्म से तो बेचारा बच्चा यह सब कुछ पहचानता नहीं था। जन्म से तो प्रजापति देव जैसा उसको हाँक रहा है, वैसा वह चल रहा है। यह तो प्रकृति का विधान है। बच्चा जन्म से बाहर ही बाहर सुख के लिये फैल रहा है। अब जितना आप इस संसार से ज्ञान से थोड़ा टलेंगे, अपने अन्दर आयेंगे, तो सुख तो आपके अन्दर ही है। तो सबसे पहले क्या है कि जो मन बाहर सुख देख कर फैल रहा है, उसको वास्तविकता (असलियत) समझाकर दो शक्तियाँ उत्पन्न करें। पहली ठीक समझने की अर्थात्" सत्य को समझने की, एक क्या वस्तु भलाई के लिये है और क्या बुराई के लिये है ?" और दूसरी "जैसा कि अपनी भलाई के लिये समझा है, उसी के अनुसार पुनः चलने की या करने की कोशिश करना।" इससे सब अनर्थ या बन्धनों से छुटकारा या मुक्ति मिलेगी। अब जितना-जितना ज्ञान बाहर की उलझन से रहित होगा, अपनी देह में एकत्रित होता जायेगा, और बाहर प्रत्येक काम के बीच में एकाग्र रहेगा अर्थात् जैसे नहा रहा है, तो उसको पता है कि मेरे को ठण्डी लग रही है, तो मैं डर नहीं रहा। और एक क्या है कि नहा रहा है और उस बच्चे की तरह ठण्डी मान रहा है ; मन में यही भाव बन रहा है कि "जल्दी-जल्दी नहाऊँ, कपड़े पहनकर गर्म-गर्म चाय पीऊँ और गर्म हो जाऊँ।" तो देखो! इच्छा का ठग काम का बन्धन कैसे खींचता है ? यह उस प्रजापति की पहली झोंक है, पहली लटक है। यदि इसी लटक में कोई मनुष्य बहता रहा, तो उसको धर्म का मार्ग पाना बड़ा कठिन है और जो यह देखता है कि नहा रहा हूँ, तो मैं देख रहा हूँ कि कहाँ भय लग रहा है ? तो मैं उस भय को हटाता हुआ ही नहाऊँ। गर्मी में धूप में चल रहा हूँ तो चलने में ही ध्यान है, न कि ठण्डी या छाया वाली जगह और

ठण्डे जलपान का।

१८. इसी तरह प्रजापति बस ! दो ही चीजें जानता है अर्थात् सुख की वेदना (महसूस होना) या सुख महसूस होना या सुख का पता लगना, जो कि बढ़िया लगता है और दुःख की वेदना या दुःख का पता लगना, जोकि अच्छा नहीं लगता। ये दो संवेदन (महसूस होना) उसके हैं और इन द्वारा वह तत्त्वों को चलाता है, मन रचाता है, बुद्धि रचाता है और इन्द्रियाँ व शरीरों को भी उसी रास्ते से कँपाता है।

१९. आप ज्यों-ज्यों बाहर से मुँह मोड़ेंगे, जितना इस संसार से अपने ज्ञान से थोड़ा टलेंगे और अपने अन्दर आयेंगे, तो यह यहीं बैठा है। यदि बाहर की दृष्टि से आँखें खोलकर किसी यन्त्रालय में जाकर आप प्रयोग करेंगे, तो वहाँ यह नहीं मिलने का है ; वहाँ तो जड़ विद्या मिलती है। यह तो केवल अपने मन के अन्दर जो परीक्षण केन्द्र है उसी जगह यदि आप तजुर्बा करेंगे, अपने जीवन में इसी जगह आप अनुभव करना चाहोगे, तो यहाँ यह पता लगेगा। इसीलिये गीता में भगवान् ने कहा है कि भाई ! निष्काम कर्म योग सीखो, इस कामना को निकाल कर सारे काम करो। जब कामना को निकालने लगोगे, तो ये अन्दर के ज्ञान पता लगने शुरू हो जायेंगे। किस में मन बँधा हैं ? कहाँ उलझा हुआ है ? तो बँधा है तो कैसे इससे छूटना है ? पहले ज्ञान होगा, फिर ईश्वर की क्रिया-शक्ति जागेगी, फिर उससे हटने लगोगे, हटते-हटते इतनी बारीकी तक हटते जाओगे कि अकेले ही हो जाओगे और उस अकेलेपन में सब दोष अर्थात् बन्धन टल जाने पर आपका ज्ञान स्वरूप आत्मा हल्का हो जायेगा और उस आत्मा में उसका अपना सहज या नित्य सुख प्रकट हो जायेगा, जिसको पाकर आप "कृत-कृत्य" हो जाओगे अर्थात् पुनः अपने भले के लिये कुछ करना सोचना इत्यादि शेष (बाकी) नहीं रह जायेगा। जब अकेले ही हो जाओगे, तो यह अन्दर का सारा जितना भी सिलसिला है, समझ मे आने लगेगा। बस ! यही सारे का सार है।

प्रवचन

८-१-१९८७

१. कल परमेश्वर और भगवान् इत्यादि के बारे मे कहा गया था कि भगवान् की भक्ति करने के लिए भगवान्, परमेश्वर या ईश्वर आदि शब्दों की रचना, इनके अर्थों (मतलबों) के अनुसार, शास्त्रकारों ने की हुई है। इन भगवान्, परमात्मा आदि शब्दों के अर्थ (मतलब) को मन में समझ करके फिर अपने काम में लाने लायक ढंग से इनकी भावना करना अर्थात् मन की भी वैसे ही रचना करना। भावना का मतलब है कि ''होना हवाना''। इस तरीकें का अपना मन रचना है कि जिससे हमारा कल्याण और भलाई हो।

२. इस तरीके से यह भगवान् या ईश्वर या परमात्मा की भक्ति कही गयी है। परमात्मा शब्द का क्या मतलब ? 'परमात्मा सबकी आत्मा है'' अर्थात् एक तो आत्मा है अपने में, एक एक में, जिसे मनुष्य कहता है 'जी, यह मेरी आत्मा है' अर्थात् अपने अन्दर का एक रूप में आत्मा। एक परमात्मा है, जो सबके अन्दर समान रूप से बैठा हुआ है। तो सबके अन्दर समान रूप से बैठा हुआ चेतन रूप आत्मा का नाम परमात्मा है। ईश्वर नाम सामर्थ्य का है, जो दो किस्म (प्रकार) क होता है अर्थात् ज्ञान का सामर्थ्य और क्रिया (करने) का सामर्थ्य। पहले ज्ञान के सामर्थ्य से जानना है कि 'क्या मेरी भलाई के लिए है'' ? फिर जैसा जानना, वैसा कर सकना। तो ये दोनों प्रकार से यदि सामर्थ्य (शक्ति) आवे, तो समझो, यह ईश्वर की कला उतरेगी। भगवान् वह है, 'जिसने प्रकृति के ऊपर पूर्ण काबू पाया हुआ है और काबू पाकर के पूर्ण स्वतंत्र हो गया है। विश्व (संसार) के अन्दर वह इतना स्वतन्त्र हो गया है कि जैसे उसको कोई दूसरा नहीं दिखलाई देता अर्थात् सबको वह आत्मा रूप से अपना ही रूप देखता है। भगवान् छः प्रकार के ऐश्वर्य वाला है। वह विद्या अविद्या को जानता है, सब कर्मों की गति और अगति को जानता है और बन्धन व मोक्ष को जानता है। इस रीति से भगवान् शब्द

का अर्थ कल कहा गया था।

३. मनुष्य को अपनी भलाई के लिये इन्हीं (परमात्मा, ईश्वर व भगवान्) की शरण लेनी है या इन्हीं का सहारा रखना है। इन सबमें मुख्य तो भगवान् का सहारा है। भगवान् के सहारे का मतलब यही है कि जो मनुष्य के कल्याण के लिए बल और गुण चाहिए उन पूर्ण बलों और गुणों वाला जो होगा, उसका सहारा लेना होगा। अब ये जो गुण और बल हैं, ये इतने आवश्यक होते हैं कि इनके बिना मनुष्य अपने छोटे दायरे से निकल करके बड़े दायरे में नहीं जा सकता। मनुष्य का छोटा दायरा कौन सा है ? जिसको कहते हैं कि मनुष्य जो है, जीव जो है, वह अल्पज्ञ है। अल्पज्ञ का मतलब है 'छोटी-छोटी चीज को, थोड़ी चीज को जानने वाला।'' भगवान् को सर्वज्ञ कहते हैं। सर्वज्ञ का मतलब है 'जो सबको समान व सबके अन्दर एक ही आत्मा को देखने वाला और जानने वाला है।'' अल्पज्ञ का मतलब है 'अल्प (थोड़े) को जानने वाला।'' जैसे आप मान लो, ''एक कुनबे (परिवार) का जीवन है।'' अब कुनबे के जीवन के लिये आपके अन्दर सारी वे ही चीजें हैं, जो भगवान् के अन्दर व्यापक दायरे की हैं। परमेश्वर का तो सारा संसार ही परिवार है और वह सारे संसार के परिवार में खुला होता है; उसके लिए कोई तेरा मेरा और छोटा दायरा कोई नहीं होता। उस परमेश्वर के लिए व्यापक में जो चीजें हैं, वे ही आपको अपने अल्प दायरे में अपनानी पड़ती हैं। तो कैसे ? अल्प दायरे का मतलब है कि जैसे एक कुनबा है या आपका जहाँ तक वृत्त (सर्कल) व दायरा है अर्थात् जहाँ तक आपके जीवन की हद है, यह सब आपका वृत्त (सर्कल) दायरा या जीने का क्षेत्र (घेरा) कहा जावेगा। इसमें मुख्य तो अपना कुनबा (परिवार) है, फिर परिवार से सम्बन्ध रखने वाले रिश्तेदार वगैरह, फिर उन्हीं के अनुसार अपने हितैषी मित्र वगैरह (इत्यादि) और फिर दूसरे भी जितने, आपके विपरीत (उल्टा) चलने वाले अर्थात् विरोधी भी हैं। बस यहाँ तक आपका जीने के लिए करने का क्रिया-क्षेत्र है। जहाँ तक आपका क्षेत्र या दायरा है, वह सब आपका जीने का जीवन वृत्त है, जो कि बहुत छोटा है।

अब इसमें यही होता है कि आपको सारे गुण व बल इस जीवन के छोटे दायरे में अपनाने पड़ते हैं। परन्तु गुण व बल अपनाने पर भी, फल देगा आपका ही किया हुआ कर्म। आप यह मत समझो कि ये मेरे जानकार या कोई दूसरा इस फल को देने के लिए कृपा कर रहा है। आप ही के अन्दर से आपके कर्म ऐसे ढंग से आपके अन्दर से प्रकट होंगे कि दूसरों के ऊपर उसी तरह का प्रभाव डालेंगे, कि जिससे दूसरों की तरफ से भी यदि आपको सुख मिलना है, तो सुख मिलेगा और यदि दुःख मिलना है, तो दुःख मिलेगा।

४. जैसे कि मान लो आपके बच्चे ही हैं, तो यही आपका छोटा दायरा घर, कुनबे का है। अब इसके बीच में आप अपने बच्चों के सुख में सुखी भी होंगे। यदि आप उनके सुख में सुखी नहीं हुए तो बच्चे भी आपसे मुख टेढा ही रखेंगे। तो यह आपका ही कर्म फल है और उन बच्चों की नाराजगी में आपके ही मन के भाव का फल है। यदि आपकी वाणी ठीक नहीं है, व आप हर समय (वक्त) ऐसे तने-तने शब्दों में बोलते हैं, जिससे कि उनको डर लगता है, तो इस दशा में आपके कुनबे (परिवार) का जीवन भी अच्छा नहीं हो सकता है। आप ही के अन्दर यदि उस वाणी में भी मिठास होगी, तो आप उन बच्चों के अन्दर से भी मिठास निकलते हुए देख लेंगे। तो ऐसी अवस्था में न तो वे बच्चे जान बूझकर अपनी वाणी में मिठास पैदा कर सकते हैं और न आप ऐसा कर सकते हैं। एक दूसरे के सामने पड़ने पर वह ज्ञान रूप परमात्मा ही विलक्षण रीति से प्रकट होता है और अपनी विलक्षण लीला कर जाता है। किसी को मीठा बुलवा जाता है; किसी को कड़वा बुलवा जाता है इत्यादि-इत्यादि। जैसे उनके अन्दर ज्ञान रूप से प्रभाव होगा, उसी ज्ञान के ढंग की क्रिया शक्ति वहाँ भाव पैदा करके आपका मनोविनोद भी कर सकती है और आपको उलझा और चिढ़ा भी सकती है। कारण कि जब आपके ही कर्म ठीक नहीं हैं वे आपके ही भाव मान अहंकार के हैं और आप ज्यादा स्वार्थी हैं, तो फिर दूसरे के अन्दर भी क्या आप देखेंगे? वहाँ से भी वैसा ही जवाब (उत्तर) मिलना है। अब यह सब

जान बूझ करके कोई नहीं करता है। यह जो कुछ भी है, अपने आप जैसा आपने कमाया हुआ है, उसी के अनुसार ही बाहर से आपको उत्तर मिलेगा।

५. आप अपने छोटे दायरे में अपने कुनबे (परिवार) की आराधना करते हो। आप अपने बच्चे, मित्र प्यारों की सेवा करते हो, तो उनसे भी सेवादारी ले लेंगे। यदि उनके प्रति आपके अच्छे भाव हैं, तो आपके लिए भी उनके अच्छे भाव व व्यवहार आयेंगे। यदि आप अहंकार में तने रहोगे, अपने क्रोध को ही अपनाओगे और अपने राग (सुख) के लिए इधर उधर छल कपट करोगे, तो वहाँ आपको सामने वालों में भी वही भाव देखने में आयेंगे अर्थात् वैसा ही भगवान् उनमें व्यक्त होगा अर्थात् प्रकट होगा और इसके अनुसार ही आपका सुख दुःख होगा। इसलिए इसमे कोई कर्ता धर्ता नहीं है, कर्ता धर्ता तो भगवान् का कायदा है। इसको संस्कृत में विधि कहते हैं। विधान तो यह ब्रह्मा ही कहा जाता है, जो सब कुछ करने कराने वाला है। अब ब्रह्मा क्या है ? यही संस्कृत में इसका नाम विधि है, जिसको आप विधान कहते हैं। देखो न ! यहाँ भी विधान के अनुसार चलता है कि नहीं सब ? तो यही सब जो है, इस चेतन परमात्मा का अधिनियम 'विधान' है। ''तूँ मैं'' तो खाली एक दूसरे को दिखलाने सुनाने के लिए ही है या फिर इस संसार में बर्तावे (व्यवहार) करने के लिए है। जैसे कि कोई कहता है कि 'यह घर मेरा है।' यह ठीक है कि संसार (दुनिया) के बीच में इस घर में हक (अधिकार) तेरा है अर्थात् इस शरीर में रहने वाले चेतन का हक है। यह सब संसार में मेरे तेरे का व्यवहार किसी की ''मैं तूँ'' तक ही सीमित है, इसमें ज्यादा कुछ नहीं है। शेष (बाकी) असलियत (वास्तव) में जो काम करने कराने वाला, सुख, दुःख दिखलाने वाला और अन्त में भले तक ले जाने वाला है, वह तो यही विधि विधान का कायदा है अर्थात् व्यापक ब्रह्मरूप परमात्मा का अधिनियम जो सबके अन्दर समान रूप में ज्ञान रूप से बैठा है।

६. जैसा जीव के अन्दर ज्ञान रूप परमात्मा बैठा है, वैसी ही

अपनी बिजली को वहाँ से चला देता है और वैसे ही भाव प्रकट करता है। इन भावों के अनुसार ही उसकी वाणी निकलती है, आँखें चलती हैं और अन्य चेष्टाएँ होती हैं। उन्हीं भावों के अनुसार मनुष्यों के सुख, दुःख होते हैं। अब यह जो है, सब कर्म-क्षेत्र है। यदि आप अपने ज्ञान द्वारा इसे परखना चाहोगे, तभी आप इस की लीला जान सकोगे। यह परख करना भी तभी सम्भव होगा, जब आप अपने ज्ञान को थोड़ा इधर उधर से अर्थात् संसार की उलझन से निकाल पाओगे। कारण कि यह ज्ञान अपने बाहर दुनियावी जीवन की उलझन में इतना उलझा हुआ है कि इसको वहाँ से निकलने की फुर्सत ही नहीं मिलती। जिस समय संसार में थकान व बाहर ज्यादा स्वार्थ न होने के कारण ज्ञान वहाँ से थोड़ी छुट्टी पाता है, तो ऐसी अवस्था में वह आलस्य, सुस्ती या निद्रा (नींद) में जाना चाहता है। बाहर संसार से ज्ञान (समझ) मुक्त हुए बिना इस कर्म-क्षेत्र की लीला समझ में नहीं आती और मनुष्य अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार ही कर्म करता रहता है। बाहर से थका हुआ किसी प्रकार मनोविनोद, मिथ्या हँसी मजाक की बातों में आनन्द लेना चाहता है, जो कि उसके स्वभाव के अनुकूल होते हैं। परन्तु यदि इनसे थोड़ी बहुत कोई फुर्सत पाकर के इस भगवान् के सत्य विधान को कि ''उसका विधान क्या है?'' समझना चाहे तो वही मनुष्य इसको सही ढंग से समझ पाएगा, जैसा कि पहले बताया गया है और शास्त्रों में इस बारे में बातें कही गयी हैं।

७. शास्त्रों की बातों के अनुसार इस तरह से कहा गया है कि 'जैसा आप करोगे, वैसा आपको सामने से परमेश्वर ने देना है। वह सबके अन्दर समान रूप से बसा हुआ है और कहीं छुपा हुआ बैठा नहीं। हर क्षण, हर सैकिण्ड, हर मिनट नया-नया प्रकट होता रहता है।' जैसा आपके अन्दर से वह प्रकट होगा, उसने सामने भी दूसरे के अन्दर से वैसा ही प्रकट करना है। आप अपनी ''मैं'' लिए बैठे रहो। ''लो जी ! मैंने कुछ भी नहीं कहा, परन्तु इसका दिमाग बिगड़ गया।'' परन्तु आपने कुछ नहीं कहा उस कहने-कहने में ही वह ऐसा प्रकट हो गया कि जिससे बिगड़े

दिमाग का ही उत्तर आपको मिलना था। इसमें किसी के क्या बस की बात है, कारण कि आपने अपने आपको ऐसा ही कमाया हुआ है। जैसी आपने कमाई की हुई है, वैसा ही आपको मिलना है। जो आपने कमाई की हुई है वैसा ही आपके अन्दर बस रहा है। जैसा वह बस रहा है वैसा ही अपने लिए दूसरों के अन्दर से खींचता है।

८. अब आपका यह कर्त्तव्य है कि जिस प्रकार आप अपने कुनबे (परिवार) की उपासना (भक्ति) करते हैं और उनके बारे में आपके सब अच्छे भाव होते हैं वैसा ही भक्ति व भाव आपके इस व्यापक भगवान् के परिवार के प्रति होने चाहिए। यही भगवान् के बल और गुण हैं, जो सारे आपको छोटे दायरे में अपनाने पड़ते हैं, जिनके बिना आपका छोटे दायरे का जीवन भी सुखी नहीं होता। यदि आप यही बल और गुण छोटे दायरे से निकल करके बड़े दायरे में अपनाने लग जायें, तो इसको शास्त्र वाले उदार चरित्र वाला व्यक्ति कहते हैं, 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् जो उदार-चरित्र वाले होते हैं, उनके लिए सारी वसुधा (पृथ्वी) अर्थात् सब पृथ्वी पर बसने वाले प्राणी उनका परिवार होता है। छोटे दायरे में जीवन संकीर्ण (तंग) चरित्र वाला होता है, जो प्रत्येक मनुष्य आम तौर पर जीता है। इस छोटे दायरे के जीवन से निकल कर जो ज्यादा फैल गया है, अर्थात् उनका चरित्र उदार कहा जाएगा। वसुधा नाम पृथ्वी का है, सारा संसार ही उनका कुटुम्ब है। इसका मतलब है कि जिस प्रकार आप अपने बच्चों के सुख में सुखी होते हैं, उसी प्रकार किसी दूसरे के सुख में भी सुखी होंवे; तो क्या यदि आपका बच्चा आपको मीठी-मीठी बाते करके प्रेम से रिझा या खुश कर सकता है, तो क्या दूसरों से मिठास नहीं निकलेगी ? वे ही चीजें जो बच्चे के अन्दर से मिठास निकालती हैं वे दूसरे मनुष्यों के अन्दर से भी मिठास निकाल सकती हैं। मनुष्य दूसरा कोई नहीं है, चाहे शक्ल (सूरत) कैसी भी हो; आप तो शक्ल को पहचानोगे, इसलिए आपका छोटा दायरा बनता है। 'यह मेरा लड़का है व आप जानते हैं कि इसी से मिठास बरसेगी।'

परन्तु आपकी समझ तो यह है कि यह ठीक है कि आपने इसी लड़के के लिए उपासना (भक्ति) की है, इसलिए वहीं से मिठास बरसेगी। अब आप यदि यही उपासना (भक्ति) व्यापक में दूसरों के लिए भी कर लें या वहाँ भी वहीं चेतन समझो, जो अपने बच्चे के अन्दर समझा हुआ था तो उस सर्वव्यापक चेतन विद्युत् (बिजली) शक्ति वहाँ भी उसी प्रकार के भाव, मिठास, मधुरता, सेवा भाव या मनोरंजन आदि करने के भाव प्रकट करेगी। परन्तु उसी तरह का पहले अपना मन बनाना पड़ेगा।

६. अहंकार (मान) ही, मिठास निकालने वाला मन नहीं बनने देता है। थोड़ी जगह तो आप झुक भी जायेंगे, थोड़ी जगह आप सेवा भी कर सकते हैं, परन्तु व्यापक में आपसे झुकना बड़ा मुश्किल हो जाता है। आप को थोड़ा मान के साथ प्रेम रखना पड़ता है अर्थात् वह दूसरों में मानी होकर रहना चाहता है अपमान पाने पर दुःखी हो जाता है, यही उसको अपने मान के साथ प्रीति है। और अपने सुखों में भी लगाव रहता है और थोड़ा सा जो दुःख देने वाला उसके प्रति विपरीत बन्धन भाव द्वेष और क्रोध भी रखना पड़ता है। यदि आप इन्हीं के बीच उलझे रहेंगे तो व्यापक की भक्ति तो नहीं हो पाएगी। आपका क्रोध द्वेष परिवार वाले तो सहन भी कर लेंगे कारण कि ! आप उनकी सेवा पूजा करते हैं व खान-पान देकर उनका पालन पोषण करते हैं और उनको दूसरों के भय से भी बचाते हैं। उनके प्रति आप मानी भी हो जाते हैं व क्रोध और अपना अहंकार भी दिखलाते हैं। उनको आपसे कुछ स्वार्थ (मतलब) होने के कारण सब सहन करना पड़ता है। बाहर संसार में दूसरे मनुष्य आपका क्रोध व मान अहंकार सहन नहीं करेंगे; तो वहाँ आपकी निष्काम भक्ति होगी। परिवार में तो कामना (स्वार्थ या इच्छा पूर्ण) की भक्ति है। जो प्राणी आपसे जुड़े हुए नहीं हैं, वहाँ यदि भक्ति करनी है, तो आपको त्यागी बनना पड़ेगा अर्थात् निष्काम भक्त बनना पड़ेगा। इसलिए गीता में भी लिखा है कि थोड़ा निष्काम कर्म करना भी सीखो।

१०. निष्काम कर्म-योग यही है कि प्रत्येक कर्म दुनियावी फल की

इच्छा को छोड़ कर करना। इस रीति से कामना (इच्छा) छोड़कर अपने मन के भावों को सुन्दर बनाना है। अर्थात् यदि कोई भी सुखी है. तो उसके सुख को देखकर मन मैला नहीं करना और कोई भी जीव यदि दुःखी है, तो उससे बेखबर नहीं रहना, जैसे हमको पता (खबर) ही नहीं है कि "वह दुःखी है।" किन्तु थोड़ी सी उनके दुःख में हमदर्दी (दयाभाव) बसा लेना, चाहे हमसे उसके बारे में कुछ बन पाये या नहीं। ऐसा भाव नहीं रखना कि "हमको उस दुःखी से क्या लेना है, वह दुःखी है, हमारा क्या लगता है ? ऐसा भाव नहीं बनाना जो करुणा (दया) रूपी गुण से उल्टा है। चाहे कोई भी दुःखी है, दुःख की अवस्था में चाहे हम किसी को कुछ दे भी नहीं सकते, पानी भी नहीं पिला सकते, परन्तु उस समय अपने मन में एक भाव ऐसा जरूर बनाना कि ओहो ! बेचारा बड़ा दुःखी है। बस ! इतना भाव बन गया, तो समझो भगवान् की भक्ति भाव रूप से हो गयी। उस दुःखी के लिए आगे कुछ करना कराना तो सामर्थ्य के अनुसार है, जैसा कुछ आगे बन पाएगा; लेकिन भाव के दरिद्री मत रहना ! दुःखी की अवस्था देखकर या विचार करके दया का भाव अन्दर बसाना ही करुणा (दया) रूपी बल की भक्ति है, जैसे कि ऊपर कहे हुए के अनुसार किसी के भी सुख में सुखी होने से "मैत्री" रूपी बल की भक्ति हो जाती है।

११. जैसे आपको अपने बच्चे का थोड़ा व छोटा सा गुण तो दिखाई देता है व अवगुण दिखलाई नहीं देता अर्थात् यदि वह अपना बच्चा किसी से बाहर लड़ाई करके भी आ जाए, तो मनुष्य अपने बच्चे का ही गुण बखान करेगा व दूसरे का दोष ही देखेगा। इसी तरह किसी के अन्दर भी गुण तो पहचान लो , दोष उसका बिल्कुल नहीं देखना। यदि दोष उसके अन्दर हो तो भी उसकी ऐसी अवहेलना करना अर्थात् उनकी तरफ निगाह (नज़र) भी नहीं डालना और यह सोचना कि ये सब दोष तो प्रकृति के दायरे में सबके अन्दर हैं; दूसरे में क्या देखने हैं; अपने में ही देख लो। दूसरे के दोष देखकर कुछ सुधार तो सकते नहीं। जब सुधार

नहीं सकते, तो देखने में क्या लाभ है ? हाँ यदि अपने किसी पुत्र आदि का अवगुण सुधार करने की शक्ति है, तो उसका तो दोष देखना भी ठीक है; कारण कि उसको सुधारने के रास्ते पर चला सकते हैं। परन्तु जिसका दोष देखने से वह बैरी (दुश्मन) ही बनता है, तो ऐसे के दोष देखने की उपेक्षा ही कर देना अर्थात् उससे बेखबर जैसे ही रहना। हमारी देह के अन्दर सारी गन्दगी है। हड्डी, चमड़ा, मांस कोई भी पसन्द की वस्तु (चीज) नहीं है और नाना प्रकार के थूक, बलगम आदि गन्दगी इसमें भरी हुई है। इसमें चेतन ज्योति का जो स्वरूप है, वह सुन्दर है। उसी में मनुष्य का ध्यान रहता है। उस चेतन ज्योति को देखकर व ध्यान में रखते हुए कोई भी मनुष्य पास-पास बैठे हुए भी दूसरे मनुष्य से घृणा नहीं करता। किन्तु उसमें तो गन्दगी है, उसकी अवहेलना की जाती है। इसी प्रकार किसी के अवगुण दोष आदि को मन में न बसा कर चेतन स्वरूप ही उसमें देखे। गन्दगी के समान जो दोष अवगुण हैं, उनको मन में न बसायें अर्थात् ध्यान में न लायें, यही उपेक्षा भाव का अर्थ है।

१२. जैसे मेरे अन्दर यह प्रकृति आकर के कुछ उल्टा सीधा खेल करवा जाती है, इसी तरह यह भगवान् की माया उस बेचारे के अन्दर प्रकट होकर कुछ विपरीत करवा गयी तो ऐसी अवस्था में वह मनुष्य कुछ करने कराने वाला वहाँ नहीं है। उसके गुण की तरफ तो निगाह रखे, दोष की तरफ अपनी नजर न रखे, तो व्यापक की भक्ति होगी। अर्थात् आपकी भक्ति ऐसा करने से उस परमात्मा की भक्ति हो गयी, जिसके बारे में कल बोला था। परमात्मा वह परम पिता है, सबके अन्दर बैठा हुआ है, उसी की सब के अन्दर अनन्त शक्ति रूप माया है। जैसा उधर से भाव आयेगा, उसने झटपट सामने वाले के अन्दर ज्ञान द्वारा अपनी विद्युत (बिजली) शक्ति रूप भाव पैदा करना है। बस! इतना तक तो ज्ञान भगवान् है। अब जैसा ज्ञान है, उसी के ढंग की उसने हरकत वहाँ चेष्टा कर्म उसके अन्दर से करवा देना है। सारी इन्द्रियाँ भी उसी ही भाव के अनुसार कार्य करेंगी। अब यदि तो

आपके अन्दर कोई ऐसी चीज आई, जो कि अगले के अन्दर ज्ञान रूप से मीठी लग गयी तो बस ! मीठे की शक्ति मीठी ले लो। और यदि निकम्मी लगी, तो यह देख लो कि जिस जगह आप रह रहे हैं, उसी जगह के मनुष्य हैं। और इतने लम्बे चौड़े संसार में जो व्यापक रूप जीवन है व इसका नाम परमात्मा का राज्य है, उसमें आपको कोई स्थान नहीं है।

१३. जैसे कि कोई मनुष्य जिस गाँव में बस रहा है, उस गाँव में रहता हुआ वह जानता है कि "कौन नम्बरदार है, कौन फलाना है, भई ! कौन इतना अधिकार वाला मनुष्य है। उसका कितना प्रभाव है। वह सब जानता है कि कौन मेरे प्यारे हैं, कौन मेरे विरुद्ध चलने वाले हैं" और उनके बीच में उसने बसना सीख लिया है व बड़े आराम से वह बस रहा है। उसको कोई ऐसा मालूम नहीं होता कि मेरे को अविद्या है, ओपरापन है व मैं किसी को नहीं जानता। उसकी अविद्या वहाँ रहते हुए नहीं है अर्थात् उसको अपने परिचितों में रहने की विद्या प्राप्त है। जहाँ विद्या है वहाँ भय नहीं है अविद्या में भय है। अब यही अपनी छोटे दायरे की आँख आप लिए बैठे हैं, तो आपके गाँव का ही जीवन आपको पता है। थोड़ा पैदल चल दो सड़कों सड़क बाहर निकल जाओ, चलो जी ! हरिद्वार जरा यात्रा करके आएँगे या जैसे ही दो चार पाँच मील बाहर निकल कर गये, तो आप देखेंगे कि सब नये-नये चेहरे हैं, दूसरे जन भी देखेंगे कि यह नया चेहरा है, कोई आपको नहीं पहचानेगा व आप किसी को नहीं पहचानोगे, तो वहाँ देखना! क्या बातें होती हैं। घर और गाँव से बाहर निकलने पर, जहाँ उसको कोई नहीं जानता व पहचानता, वहाँ उसको अविद्या तंग करेगी अर्थात् उसी व्यापक जगत रूप भगवान् की नासमझी तंग करेगी और उसमें संशय भय पैदा करके टिकने तक भी नहीं देगी। वह फिर अपने गाँव की तरफ ही भागना चाहेगा, जहाँ कि उसको गाँव वाले जानते हैं। इसी प्रकार वह जो व्यापक जीवन रूपी परमात्मा को नहीं पहचानता गाँव के समान छोटे दायरे में जीवन पाने के लिए जन्मता है। अब इसी व्यापक रूप परमात्मा

को पहचानने के लिए, जो पीछे मैत्री, करुणा इत्यादि बल कहे गये हैं, उनको अपनाना पड़ता है अर्थात् उनकी भक्ति करनी पड़ती है। ऐसी अवस्था में भगवान् के दस बल (मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, क्षमा, शील, दान, वीर्य, ध्यान व प्रज्ञा) ही उसके जीवन की रक्षा करेंगे। और इन बलों के सहारे उसको अपरिचितों में भी सुन्दर जीवन मिल सकता है।

१४. किसी दूसरे के द्वारा अपने मन के मुताबिक नहीं कोई चीज हुई, तो हम अपराध गिनते हैं। उस अपराध के होने पर भी हमारी तरफ से क्षमा भाव ही होना चाहिए व हमारा बर्ताव नहीं बिगड़ना चाहिए अर्थात् विपरीत अवस्था में भी अपना व्यवहार सही रखना है, जिसे शील कहते हैं। ये बल विश्व की आत्मा रूप भगवान् के बल हैं उसकी अनन्त शक्तियाँ (वायु को वश में करना, वायु में उठ जाना व अन्तर्ध्यान हो जाना आदि) हैं, जिनका शास्त्रों में वर्णन है। हमको उन भगवान् की शक्तियों से ज्यादा मतलब अभी नहीं है और उन शक्तियों से ज्यादा परवाह (आराधना) करने की भी जरूरत नहीं है। हमको केवल व्यापक जीवन रूप भगवान् की आराधना करनी है अर्थात् उस व्यापक जीवन में होने वाले किसी भी प्राणी के प्रति अपने ये सारे अच्छे भाव रचने हैं या उन्नत करने हैं। भगवान् के यही बल थे कि वह किसी के भी सुख में सुखी होता था अर्थात् भगवान् को किसी का सुख अखरता नहीं था (बुरा नहीं लगता था) (मैत्री) और किसी का भी दुःख दया रीति से मन में बैठता था (करुणा)। भगवान् को किसी का भी गुण तो दिखलाई देता था (मुदिता) और दूसरों के अवगुण भगवान् के लिए ऐसे होते थे, जैसे उन्होंने उन अवगुणों को देखा ही नहीं (उपेक्षा)। इस लम्बे चौड़े संसार में जीने के लिए भगवान् के इन्हीं बलों की आवश्यकता है, वरना जीवन ठीक ढंग से नहीं चल पाएगा। जैसे आप यहाँ घर से निकल कर जायेंगे और आपको दूसरे जन पहचानेंगे नहीं कि "आप कौन हैं" तो उनके मन में यह शंका होगी कि "पता नहीं यह चोर है, हमारा भेद लेने आया है, यह मालूम नहीं कौन है, कोई हमारी वस्तु ही न उठा

करके ले जाये।" तो ऐसी अवस्था में आपका विश्वास उनको होगा नहीं, तो बताओ ! आपके गाँव के विश्वासी आदमियों जैसा बर्ताव वहाँ आपका कौन करेगा ? अब उसने ऐसी रूखी भाषा में यदि आपसे पूछ लिया कि "अरे ! कौन है भई तूँ, यहाँ आकर के बैठ गया।" यदि आपको वहाँ रात किसी धर्मशाला में रहना पड़ गया तो आप चिढ़ जाओगे कि ! तूँ बोलता कैसे है ? "क्योंकि आपने बोल तो केवल आदर मान के परिचित लोगों के सीखे हुए हैं, अपरिचित बोल को सुनना तो आपने सीखा नहीं, अपरिचित बोल में आपको अपराध मालूम हो रहा है और इसके प्रति क्षमा का पाठ आपने अभी नहीं सीखा। यदि तो उस अपराध सोचने की अवस्था में आपने क्षमा धारण करके अपने मन को शान्त रख करके प्रीति (प्रेम) से बोल दिया कि "भई मैं तो इस प्रकार से एक यात्री हूँ और हरिद्वार की तरफ जा रहा हूँ, आज रात रहने का मेरा यहाँ मन है।" तो ऐसा नम्र जवाब सुन कर दूसरे गाँव का वह अपरिचित भी इस यात्री के बारे में समझ लेगा कि "भई हाँ, क्षमावान् है, चिढ़ा नहीं, दुःखी नहीं हुआ" आपका ही बोल उससे मीठे शब्द भी निकाल देगा और मीठे प्रकार से व्यवहार भी करा देगा, तो समझो आपके लिए आनन्द रूप से परमेश्वर वहाँ प्रकट हो गया। यदि आपने वही मिथ्या अहंकार, जो गाँव में लिया हुआ था, दिखलाया तो वहाँ आपकी भगवद्-भक्ति ठीक नहीं है। यदि इस अहंकार में आपने बोल दिया कि "क्यूँ जी, जानते नहीं, मैं कौन हूँ, वहाँ यह-यह आदमी था, तुमने कैसा बोल दिया आदि-आदि।" आपकी भगवद् भक्ति घर वाले व मित्रों के लिए थी भी, वहाँ आप सहन भी करते थे, सब कुछ था; परन्तु वहाँ के लिए नहीं थी। अब आपको यह ख्याल करना है कि चाहे मैं घर कुनबे में ही हूँ, फिर भी एकान्त में मैं बैठ कर के सारे विश्व के प्रति ऐसा अपना हृदय बनाऊँ कि जिसमें सबको स्थान है व मेरे को भी किसी से भय नहीं है। यदि आपका वहाँ बोल मीठा है, उसकी तरफ से फिर भी कोई दो चार पाँच बार में खोंटा आया, फिर भी आपका बर्ताव भी सही रहा। केवल यह ही नहीं कि आपने उसके अपराध को क्षमा किया, आपका

शील अर्थात् बर्ताव भी ठीक रहा, तो देख लेना कि उसी से आपके लिए ऐसी भक्ति फूट पड़ेगी कि वह आपकी सेवा भी कर दे, आपको आराम भी दे दे और वहाँ पर बिल्कुल बेपरवाही के साथ आपकी अविद्या भी शान्त हो जायेगी अर्थात् उनके बारे में आपको अपने सुख के अनुकूल समझ बैठ जायेगी कि इनमें भी मेरा आनन्द रूप भगवान् विराजमान है ये दूसरे कोई नहीं हैं केवल वही मैत्री आदि बलों की भक्ति की आवश्यकता है। यदि ये भक्ति के बल नहीं हैं तो आप उनको वही अपरिचित दूसरे गाँव के लोग ऐसा समझते रहो ऐसी-ऐसी आँखें लिए बैठे रहो अर्थात् ऐसे विचार लिए अपने मन में बैठे रहो कि "वह ओपरा व अपरिचित है।" ऐसी अवस्था में ये ही ओपरे जो हैं दूसरे मनुष्यों के अन्दर भाव दीखते हैं व ये ही भूत प्रेत बन जाते हैं और अकेले में रात में भी आकर के दिखलाई दे जाते हैं।

१५. इसलिए मन को इस प्रकार से भगवद्-भक्ति में लगाना है कि सर्व सामान्य में जो चेतन है, एक ही चेतन सब जगह व्यापक है और उसका विधान सब जगह काम कर रहा है अर्थात् उसी का ही कायदा कानून सबको अपनी शक्ति से चला रहा है। किसी के अन्दर जैसा कोई ज्ञान होता है, वह दूसरों के अन्दर प्रकट होकर के सुख दुःख देता है। सारे संसार को एक कुनबे (परिवार) के रूप में पहचान करके बस वहीं बैठे-बैठे उसी जगह से सबके प्रति भाव बनाना है। जब सबके प्रति एक समान चेतन भाव है, तो आपको किसी प्रकार से डर नहीं, चाहे आप मृत्यु के बाद भी यहाँ से कहीं चलें जायेंगे। मनुष्यों के जगत् से बाहर तो कहीं नहीं जा सकते। आपको देवता ही मिलेंगे, चाहे दूसरों के लिए वे राक्षस असुर कोई भी हो। यहाँ तक तो लोक की भक्ति है अर्थात् उत्तम लोकों की भक्ति है।

१६. इसी जीवन में तो भगवान् के बलों की शरणागति हमने लेनी है, जो दस बल (मैत्री, करुणा आदि) पहले कहे जा चुके हैं। दूसरे के सुख में सुखी होने का नाम "मैत्री" और दूसरे के दुःखों में दया रखने का नाम "करुणा" है। कोई भी दूसरे के गुण को

ही निगाह में रखना और उसकी मनोमन प्रशंसा करते हुए प्रसन्न होना, इसी का नाम "मुदिता" है और दूसरों की बुराई की तरफ तो ध्यान ही न देना, यही "उपेक्षा" कहलाता है। जैसा कि पहले बताया है कि देह के अन्दर सब बुराइयाँ हैं और सबके देह पास-पास पड़े रहते हैं, परन्तु उस बुराई गन्दगी को कोई नहीं देखता। उस चेतन आत्मा, उनके बर्ताव व व्यवहार को ही निगाह में रखकर सब मिलकर के बैठते हैं। इसी प्रकार से यदि हम गुणों का दर्शन करेंगे, तो द्वेष नहीं आएगा और जहाँ कहीं दोष किसी का देख लिया, तो मन का भाव बिगड़ जाएगा। यह मन का भाव जान बूझ करके आप नहीं बिगाड़ते। यदि आप मन के अन्दर द्वेष लिए बैठेंगे, तो अन्दर से ऐसा ज्ञान ही बिगड़ गया और इस ज्ञान रूप भगवान् ने दूसरे के अन्दर फिर चक्कर ऐसा ही चलाना है कि जो कि आपको सुख रूप नहीं होगा। वही चेहरे, वाणी, आँखों आदि सबसे प्रकट होना है। जब वही द्वेष भाव रूपी ज्ञान ही प्रकट होगा, तो उसने दूसरी तरफ से भी वही खिंचावट करनी है। तो आप चाहेंगे "जी, हमको सुख हो", परन्तु काम तो सुख का किया नहीं, कर्म बिना सुख कैसे हो ? ऐसी अवस्था में यदि उसने अपने आपको अर्थात् मन को मार कर के क्षमा भी बसा ली; शील माने अपना बर्ताव भी सही रख लिया; चलो ! अपनी "मैं" भी थोड़ी त्याग दी; अगले (दूसरे) का रूखा व्यवहार है। परन्तु अपनी "मैं" न आने दी। ऐसी अवस्था में जब दूसरा ठीक बर्ताव नहीं करता तो "मैं" आ जाती है अर्थात् "लो जी ! मेरे को इसने वैसा बोला, मैं क्यूँ सहन करूँ।" यह "मैं" झूठी है। अब इस "मैं" को जिसने दान किया है, यह सबसे बड़ा दान है। वैसे तो धन-दान, विद्या-दान, धरती-दान क्या-क्या दान हैं? राज्य का भी दान बताया गया है। इन सब दानों से बड़ा है कि जिसने अपनी "मैं" भी दान कर दी; बस ! मैं नहीं आने दी। यह "मैं" ही सब अनर्थों का बीज है। जैसे यह "मैं" आई नहीं कि उसी के बीच में द्वेष, क्रोध व अहंकार होता है। उसी झूठी "मैं" से जो कुछ भी आगे बर्ताव (व्यवहार) होगा, वह बाहर किसी के जीवन के लिए भी सुखी नहीं है और इसी "मैं" के सारे बैरी

बनेंगे। यह "मैं" किसी में भी भद्दी लगती है, चाहे जिस समय सादी बातों में भी प्रकट हो। यह "मैं" बच्चे के अन्दर तो ठीक है। चलो ! बच्चा है, वह बेचारा मुग्ध रीति से अभी करता है, तो वह ज्यादा कोई निकम्मी नजर नहीं आती। बड़े मनुष्य के अन्दर तो यह "मैं" ऐसी है कि "या तो मजाक या उपहास करवाने वाली या फिर उसके प्रति घृणा ही करवाने वाली होती है"।

१७. भगवान्, जिनकी हमने शरण लेनी है, उनके अन्दर मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, क्षमा, शील, दान आदि दस बल पूर्णतया बसे हुए होते हैं। सामान्य जन दूसरों के गुणों को देखकर विसराहना करते हैं अर्थात् अप्रशंसा करते हैं और वाह वाह नहीं करते। दूसरे का छोटा सा अवगुण भी मस्तिष्क में रखते हैं, जिसको बढ़ा चढ़ा कर कहेंगे और उससे अपनी मैं दिखलायेंगे। यह "मैं" भद्दी बन कर सबको बेधती व सेंधती है। इस "मैं" को जरा नीचे रख लेना ही नम्रता है। इस नम्रता के रखने से मनुष्य की भक्ति भगवान् के प्रति सुन्दर होती है। यही उसका "मैं" का दान हो जाता है। जिसके अन्दर यह दान का गुण है, वह अपनी "मैं" आने ही नहीं देता और समझता है कि जैसी "मैं" दुनिया देगी, वही ठीक है अर्थात मैं अपने अच्छे कर्मों में रहूँ, जैसे भी मुझे दुनियाँ समझ लेगी, वह मेरी "मैं" है। अपने आप मैं क्या बनूँ, जो दुनियाँ तो समझ नहीं सकती। यदि मैं सब अच्छे कर्मों व भावों में हूँ, तो कोई भी मुझे खोंटा नहीं मानेगा। उनमें मेरी "मैं" अच्छी होगी व मुझे ही मैं देंगे। दुनिया का मतलब क्या है ? दूसरों को जैसे हम दिखलाई देंगे। यदि आप दूसरों को दिखलाई दिये क्षमावान्, तो दुनिया कहेगी "वाह भई! वह आदमी तो बड़ा क्षमावान् है; अजी ! वह तो बडा दयालु है; अजी ! वह किसी के सुख को देखकर चिढ़ता नहीं; अजी उसके अन्दर तो सन्तोष है; अजी ! वह तो बड़ा वैराग्यवान् है; उसके अन्दर तो बहुत गुण हैं; यब सब दुनिया बखान करेगी। यह "मैं" आपको भगवान् की दी हुई है; परन्तु यह जब मिलती है यदि आपके अन्दर कुछ प्रकट होगा; सबको दुनियाँ ऐसी "मैं" नहीं

देती है। इसलिए ये सारे गुण आपको अपनाने हैं। ये सारे गुण यदि एक के अन्दर कहे जायें, तो आप अपने मन में उसकी एक एक मूर्ति रूप में धारणा कर लें। उसको आप किसी तरीके से कागजों में बनी हुई राम कृष्ण या शिव शंकर की मूर्ति समझ लें। सामने रखकर सभी गुणों की मूर्ति उसको समझ लो। ये सारे चित्र उन गुणों की मूर्तियाँ हैं, जिनकी भक्ति उपासनाएँ आप शास्त्रों में सुनते हैं। ये काम की चीजें हैं। इनका यह मतलब नहीं कि कोई किसी मूर्ति की पूजा है या कागज रंगों की पूजा है या मिट्टी पत्थर की पूजा है। यह उस भाव की पूजा है, जिस भाव को आपने अपने मन में धारण करना है और वह भाव चेतन है। जैसे आपके पिता जी का कोई फोटो है। अब पिता जी के फोटो को देखकर आपको रोना आ गया कि "ओहो जी; ! मेरे पिताजी ने मेरे लिए क्या क्या अच्छा किया था; सारी सम्पत्ति मेरे लिए छोड़ गये; मुझे पढ़ा गये और इतने सज्जन शील स्वभाव के मनुष्य थे; कभी क्रोध नहीं करते थे और फिर भी अपने अन्दर दूसरे के क्रोध को सहन भी करते थे"। तो यह सब विचार गुणों की भक्ति है। अब आप अपने पिता जी की मूर्ति को देखकर के गद्‌गद हो जाते हैं और उनके प्रति आपकी भक्ति जागती है। तो उस कागज में लिखे हुए या फोटो लाईट या अन्धकार में छपे हुए चित्र का वह गुण नहीं है और न ही वह उस फोटो की पूजा है। केवल उस चित्र को देखकर के एक भाव बनता है। इसी तरह से यह है कि भाव बनाने के लिए मन्दिर या समाधियाँ तथा पत्थर की मूर्तियाँ इत्यादि-इत्यादि हैं। ये सब उस भाव की भक्ति है। उस भाव में ये सारे चेतन गुण हैं। यदि इन गुणों की आराधना नहीं, फिर तो वह कोरी (केवल) पत्थर पूजा ही है अर्थात् केवल मूर्ति-पूजा ही है और यदि इन भावों के साथ किसी मूर्ति की पूजा है, तो वह भाव की भक्ति है। इस तरीके से अपने भाव व मन को उन्नत करने के लिए यदि आपने मन के अन्दर कोई चिह्न रख भी लिया, तो यह उसका भगवान् का ध्यान कहा जाता है।

१८. अब शरणागति उस भगवान् की है, जो चेतन गुण (वैराग्य

सन्तोष आदि) अपना करके व दस बलों के साथ इस संसार में ऐसे रहता था कि उसका कभी भी किसी अपराधी के प्रति क्षमा ही भाव था व किसी के सुख के प्रति भी हमेशा सुखी भाव था। यदि किसी के मन के अन्दर क्रोध हो तो क्रोध चेहरे पर भी झलकता है। यदि अन्दर मन शान्त खुश है, तो चेहरे पर भी खुशी दिखलाई देती है। जैसे अन्दर मन का भाव होता है, वैसी ही चेहरे की मूर्ति बनती है। इसी प्रकार से यदि मन में ये गुण बसे हुए हैं, तो इनकी भी एक मूर्ति है। परन्तु किसी मूर्ति को बाहर देखने के अतिरिक्त, कोशिश यह करो कि अपने अन्दर ही गुण बसाऊँ और अपने अन्दर ही वह चेतन मूर्ति देखूँ। फोटो आदि में जो मूर्ति है, वह थोड़ा ही लाभ करेगी। अर्थात् उससे केवल थोड़ी प्रेरणा ही मिल सकती है। यदि वह चेतन गुणों की मूर्ति आपको अपने अन्दर नजर आएगी तो उसको दूसरे जन कहते हैं कि इसको भगवान् के दर्शन हो गये। अब ये भगवान् के दर्शन तब होंगे, जब संसार को तो भूल गये और अन्दर गुणों की भक्ति हो रही है। छोटे जीवन या छोटे दायरे वाला मन तो पुरानी आदत की तरफ ही खींच रहा है; और कहता है कि "न भई ! अपने तो ये हैं, दूसरे तो पराये ही हैं।" इन अपने वालों के प्रति तो हमारा सब प्रकार का त्याग, सेवा भाव आदि है। इनके लिए तो हमारी भाव भक्ति भी है, परन्तु दूसरों के लिए भाव भक्ति भी नहीं और किसी प्रकार की सहन शक्ति व उनके सुख में मैत्री भी नहीं"। ऐसी अवस्था में भगवान् की वह सच्ची मूर्ति भी नहीं बनती।

१६. यह छोटे दायरे वाला जीव आपको अपने ढंग से तनाये, और आप उसके तनाव को हटाते हुए फिर उस बड़े दायरे के लिए भाव बनाओ। यदि इसमें भूल गये कि संसार कहाँ बस रहा है? तो समझो अन्दर एक सुन्दर भाव की चेतन मूर्ति बन गई, जिनका नाम राम, कृष्ण, शिव शंकर आदि दिया गया है। दूसरे ये मूर्तियाँ कुछ नहीं हैं। जैसे वे हृदय के अन्दर पहले बैठे हुए हैं, उन्हीं की मूर्तियाँ बनेंगी। जैसे कई बार बताया है कि जैसा अन्न खाते हैं,

वैसा मन बनता है अर्थात् यथा अन्न तथा मन । इसका मतलब क्या है ? क्रोध में अन्न खाओगे, तो क्रोध की शक्ल (मूर्ति) बनेगी । यदि राग द्वेष इत्यादि में अन्न खाओगे, तो चेहरे पर भी राग द्वेष ही जमेगा । हरेक मनुष्य जो है उसका न्यारा-न्यारा चेहरा है अर्थात् दो चेहरे (आकृतियाँ) किसी के भी एक समान नहीं मिलते । कौन भिन्न-भिन्न मूर्ति बनाता है ? जैसा अन्दर ज्ञान होगा वैसी ही मूर्ति बनेगी। कारण कि ज्ञान के बिना दूसरा इस देह को रचने वाला कोई नहीं है । जैसा ज्ञान, वैसी ही उसकी शक्ति बनेगी । किसी के अन्दर राग, द्वेष, मान, मोह, ठग्गी ज्यादा है; किसी के अन्दर और विकार उसके कर्मों के अनुसार हैं । इनके विपरीत किसी के अन्दर मैत्री, करुणा, शील, क्षमा, वीर्य (हिम्मत) अपने आपको काबू रखना वैराग्य, सन्तोष आदि भाव हैं । इन भावों को रखते-रखते ही जैसा मनुष्य का मन होगा, उसी मन से वह अन्न खायेगा । अब उसमें जैसे भाव का अन्न मिलेगा, वही देह (काया) में जमेगा; वैसी ही इसकी मूर्ति या शक्ल दूसरे की दृष्टि में आएगी । इन्हीं वैराग्य आदि गुण व मैत्री आदि बलों की वह भगवान् की मूर्तियाँ हैं, जिनकी हमने भक्ति करनी है । सारे गुणों व बलों (जैसे वैराग्य, सन्तोष, क्षमा, शील, धैर्य इत्यादि) की एक यदि मूर्ति रख लो, तो समझो उसका नाम भगवान् है अब जितने-जितने गुण आप अपने हृदय के अन्दर बसाते जाओगे, आपके अन्दर भी खाया हुआ अन्न उन गुणों के अनुसार ही देह की रचना करेगा व एक सुन्दर गुणों की मूर्ति बनेगी । यदि नियम से आपने उस भगवान् को भोग लगाना है तो गुणों के बीच में अन्न खावें, क्रोध में अन्न भी न खायें ।

२०. हमारे शास्त्रों में सोलह प्रकार से भगवान् की पूजा बतायी गयी है, जिसमें भोग लगाना भी एक पूजा है । जब भगवान् को भोग लगाना है, तो उसी को भोग लगाओ । ऐसा नहीं करना कि एक मनुष्य बाहर से तपा-तपा आया; किसी का बैर चिन्तन कर रहा है; मन में कपट लिए बैठा है; यदि वह इस अवस्था में अन्न खाएगा, तो वह अन्न भी उसकी देह में उसी तरह जमेगा और उसकी शक्ल

में भी वह ऐसे ही नजर आएगा। उसका बच्चा यदि उसकी इस शक्ल को देखेगा, तो हो सकता है कि उसी के ढंग से बच्चे के अन्दर भी वह हवा ऐसी टेढ़ी हो करके उसका श्वाँस भड़का करके कोई बीमारी रोग भी पैदा कर दे। तो यह है कि उस मनुष्य के कर्म से उसके घर में भी यही बला खड़ी हो गयी। और एक अब सोचता है कि " न भई ! मन भड़का हुआ है, ठीक नहीं है, इस अवस्था में अभी भोजन करना भी ठीक नहीं है।" वह आराम से बैठता है; फिर उसने मुँह हाथ धोया, विचार किया, मन को स्वच्छ किया और उसके बीच में शान्ति, सन्तोष बसाया व सारी बुराई छोड़ी; फिर अपने अन्दर ज्ञान जगाया कि "अरे ! इन बुराइयों को रखने में क्या लाभ हैं ? यह सब तो थोड़े दिन का खेल है ?" यह सब जितनी हैं, भगवान् की सोलह प्रकार से पूंजा हैं कि "भगवान् को अपने हृदय की गद्दी पर बैठाना अर्थात् बसाना इसके लिये पहले मन रूपी मन्दिर बनाना और बना करके उसके अन्दर जो बुराइयाँ व मैल है; उनको साफ करना यही मन्दिर में झाड़ू लगाना है ताकि आपका मन स्वच्छ मलरहित हो जाये; इसके बाद ज्ञान का दीपक जलाना; फिर अपना गुण पैदा करके ज्ञान द्वारा दोषों को जलाकर उसकी धूप भगवान् को देना ताकि उसकी सुगन्धि सब देवताओं तक पहुँच जाए; फिर अपने अन्दर सब प्रकार के खोट को संसार की शर्म से भी हटाने का प्रयत्न करने के लिए इसी लज्जा इत्यादि का वस्त्र पहन करके शान्त रीति से उस भगवान् को भोग लगाना; "लो भगवन् अब भोजन खाओ अर्थात् इस प्रकार करने के बाद यदि आप भोजन करते हैं, तो यह भगवान् को भाव रूप से भोग लगाना उत्तम है। अब यह यदि आप नित्यप्रति अपने मन के अन्दर भाव उत्पन्न करके ऐसा करते रहें, तो यह एक व्यवस्थित जीवन हो जाता है अर्थात् बड़ा एक बँधा हुआ, माप का जीवन हो जाता है जो कि सब नियमों के अधीन चलता है। यदि इन गुणों को अपनाकर और दोषों को निकालकर भगवान् का चिन्तन करके खाना खाओगे, तो यही भगवान् को भोग लगा कर खाना खाना है। यदि दोष (अवगुण) रखते हुए खाना खाओगे, तो चेहरे पर भी वैसी ही प्रकट होगी। यदि इस तरह का मनुष्य ने यह

अपना रोज का एक कायदा, चलने का नियम, ही बना लिया, तो समझो नित्यप्रति उस भगवान् को ही भोग लगेगा। और नहीं तो यह है कि संसार में (सामान्यतः) तो यह होता है "चलो जी! कैसे भी हैं; जहाँ से भी आये हैं; चिढ़े हुए भी हैं; किसी से लड़े हुए भी हैं अर्थात् कैसे भी हैं; खाना आ गया; खाओ जी ! यह करो; वह करो।" तो ऐसी दशा में फिर जो कुछ खाये हुए भोजन का बनेगा; वह यह है कि वे सारे राक्षस उस समय दिखलाई देंगे, जिनके बीच में आपने खाना खाया है व जिनको आपका भोग लगा हुआ है; कारण कि चिढ़े व लड़े हुए मन से भगवान् को तो भोग लगा नहीं और अन्दर बैठे हुए मान, क्रोध, अहंकार आदि असुरों (राक्षसों) ने ही भोग लगाया। जब आप अपना सुधार सोचने लगेंगे अर्थात् कुछ भगवान् के रास्ते की भी सोचने लगेंगे, तो वह पहला राक्षस रूप में बैठा हुआ अन्न भड़क जायेगा। ऐसी अवस्था में उस तरफ की वाणी भी नहीं निकल सकती व मन सोचने को भी नहीं चल सकेगा। चलो ! यदि आपकी बुद्धि में ठीक बैठ भी गया, तो वहाँ से अर्थात् पहले जमे हुए अन्न से ऐसा श्वाँस चलेगा, जो कि एकदम आपके अन्दर अज्ञान अविद्या छा देगा व आपके अन्दर भगवान् के संस्कार तक भी नहीं जगने देगा।

२१. इसलिए जितना भी इस मनुष्य के अन्दर इस देह तक बन रहा है, जो सारा देखने में आता है, यह सारा पुरुष ही जानना चाहिए। ये सांख्य और योगी इसी पुरुष की दुहाई देते हैं कि "भई ! पुरुष को पहचानो, पुरुष को पहचानो कि आप क्या बने हुए हो, कहाँ कैसे चल रहे हो, बनाने वाला कौन था, क्या आपके अन्दर प्रकृति शक्ति थी ?" जितना जितना आप पहचानोगे, यह सब इस पुरुष की विद्या है। परन्तु क्या करें ? वे बाहर की जिम्मेवारियाँ, सिर पर ओटे हुए बोझे व वह छोटे दायरे का जीवन उस व्यापक दायरे में जाने नहीं देता; उस भगवान् के गुण अपने अन्दर आने ही नहीं पाते। उस भगवान् के नाम पर व उसकी जो असलियत है, उसके ऊंपर श्रद्धा तक नहीं करने देता। तो सबसे पहला गुण यही रखना है कि न भाई ! इस छोटे दायरे

से निकल कर व्यापक में पहुँचा हुआ और सर्वगुणसम्पन्न, सब बलों वाला व अपने आप में सदा आनन्दमय रहने वाला एक है कोई, या अभी है नहीं, तो कभी था और उस भगवान् के गुणों को अपने ढंग से अपने अन्दर धीरे-धीरे लाना है। उसकी श्रद्धा को ध्यान में रखते हुए सुबह उठते है पहले उसका स्मरण किया; "हे प्रभो ! मैं आपकी शरण में हूँ , हे भगवन् आपकी शरण में हूँ और आपके ही जो बल व धर्म हैं, जिस तरह आपने धारण किये थे; उन्हीं को मैं अपने बल के अनुसार धारण करने का यत्न करूँगा। आपके उस धर्म का भी मेरे को सहारा है और उसकी भी मैं शरण में हूँ। फिर जिसके अन्दर छोटा मोटा आपका बल व गुण दिखाई दे जाए, जो भगवान् के अनन्त भक्त हो गये हैं और आगे होंगे भी; एक रूप से उन सबका भी मैं सहारा लेता हूँ। तीन प्रकार से यह भगवान की श्रद्धा यदि किसी के अन्दर बस जाये, तो इसमें भी वह संसार को भूलता है; इसको करने का बल भी मिलता है। इसमें किसी का कुछ लगता तो है नहीं, परन्तु अपनी "मैं" जो है शायद बीच में अड़चन डाल दे, तो बात दूसरी है। नहीं तो यह थोड़ा सा अपने मन को उधर संसार से छीनने का सादा रास्ता है। इस श्रद्धा के साथ-साथ अब थोड़ा फिर भगवान् का इन्हीं गुणों के रास्ते ध्यान किया; थोड़ा अपने जीवन को नित्यप्रति देखा कि "कैसा बोला गया, कैसा सुना गया, कैसा खाया गया, किस तरह से और बर्ताव हुए, कोई मन में उल्टी बात तो नहीं आई।" ये भगवान् के थोड़े गुण हैं, जो कि सुने हुए हैं या फिर पुस्तक में पढ़े हुए हैं। यदि पढ़े हुए हैं, तो इनके अर्थ का भी थोड़ा चिन्तन कर ले। यही सब आत्मचिन्तन व भगवान् की भक्ति है।

२२. मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, वैराग्य, सन्तोष, क्षमा, शील, सदाचार आदि शब्दों का यदि आप थोड़ा अर्थ चिन्तन करोगे, तो समझना चाहिए कि यह अर्थ चिन्तन भगवान् की ही भक्ति है और उसी का ही ध्यान है। इन शब्दों का चिन्तन इसलिए करना है कि इन के अर्थों को अपने मन में समझना शुरु किया। तो अब देखना

है कि अच्छा ! मेरे अन्दर क्या घटा ? मैं तो सोचता था कि "शील नाम है अच्छे बर्ताव का, अर्थात् किसी के लिए भी अपना खोटा बर्ताव नहीं करना।" खोंटा बर्ताव कौनसा होगा? जिससे कि अगले के अन्दर दुःख संकट आता है, कष्ट बनता है, वह खोंटा बर्ताव है। अब यदि मैंने शील का अर्थ समझ लिया कि "अच्छा बर्ताव सबसे करना", तो अब मैं विचार करूँ कि मेरे जीवन में आज दिन में कहीं अच्छा बर्ताव हुआ या खोंटा बर्ताव ही हुआ। तो जो खोंटा हुआ, यदि वह अपनी समझ में आ गया, तो भई ! वह भगवान् में सब जीवों के प्रति अच्छा बर्ताव होता रहा, उसी "शील" को मैं अपनाने का यत्न करूँ। यदि आप उन शब्दों द्वारा अर्थ का चिन्तन करोगे तो यह पहला भगवान् का ध्यान है। इस अर्थ चिन्तन का नाम ही स्मरण है। जैसा कि कहते हैं कि भगवत्-स्मरण करना। तो स्मरण यही है कि भगवान् तो हो गया, ये सब गुण वाला व सारे बलों वाला और स्मरण यह हो गया कि उन्हीं के बोले हुए शब्दों को मन में लाना व उनका अर्थ चिन्तन करना, जो शब्द अनादि काल से वेद शास्त्रों में आ रहे हैं और एक-दूसरे के सुनने-सुनाने में भी आते हैं। उन शब्दों के नाम ले लेकर अपने अन्दर पहले इनका अर्थ चिन्तन करना और अर्थ चिन्तन करने के साथ फिर अपने को थोड़ा देखना अर्थात् अपना आत्म-दर्शन करना कि "मेरे अन्दर कुछ ऐसी अर्थ वाली चीज है या नहीं अर्थात् जैसे मैत्री का अर्थ है, वैसा मेरे अन्दर मैत्री का गुण है या नहीं ? न भई ! मेरे अन्दर इससे उल्टा तो है; तो बस भई ! यह विपरीत है, तो यह भगवान् से उल्टा रास्ता है" तो अब उस भगवान् का सहारा लें। सबेरे उठते ही जैसे कहा था कि "भगवान् आपका सहारा , "भगवान् आपके धर्म का सहारा" तो अब लो उसका सहारा, कैसे लेते हो ? इसलिए भगवान् का सहारा लेने के लिये अपने जीवन में मैत्री शील आदि सब गुण यथायोग्य अपनाने का यत्न करो। अब कल यदि ऐसा मौका आ जाये जैसे आज उस माँ से खोंटा बोल गया, पिताजी व एक वृद्ध को वचन से दुःख दे गया, तो मैं अपना बर्ताव व वाणी को ठीक रखूँगा। इसलिये अपनी वाणी को ठीक कर लो, कल ऐसा न हो

पाये, तब समझो आपको भगवान् उसके धर्म और उस धर्म के रास्ते पर चलने वालों की सच्ची शरण है। नहीं तो ऐसा है कि भई ! नाम से तो ले लिया, भगवान् आपका सहारा, प्रभु आपके भक्तों का भी सहारा और कर्म यदि ठीक नहीं किया, स्मरण ठीक नहीं हुआ, तो वह अधूरी भक्ति रहेगी। वह श्रद्धा रूपी भक्ति भी थोड़ी ठीक है, परन्तु थोड़ी ही ठीक है। यदि वह पूरी ठीक करनी है, तो यही है कि जितने भी ये भगवान् के गुण और बल है, इसको पहले नामों से भी याद कर लें, तो यह पाठ बढ़िया है। इसलिए अच्छे ग्रन्थों का जन पहले नित्य-पाठ करते थे, ताकि कम से कम शब्द तो मन में बसे रहे। इस प्रकार (पाठ करके उन शब्दों के सादे—सादे अर्थ का चिन्तन करना कि ''हाँ भई ! मैत्री शब्द का अर्थ होता है कि दूसरे के सुख में सुखी होना; वैसे ही ''शील'' का अर्थ है कि हर अवस्था में दूसरों से सही बर्ताव करना इत्यादि।'' इस प्रकार यह चिन्तन करना है। इस तरह से जितने समय तक उस शब्द के अर्थ का आप चिन्तन करते रहोगे, वह आपकी एक भगवद्-भक्ति या भगवत्-स्मरण होगा, कारण कि वह शब्द भगवान् के गुण का नाम है। इसी अर्थ चिन्तन के द्वारा यदि दूसरा गुणों से विरोधी भी दीख जाये या उससे उल्टे की भी याद आ जाये, जैसे वैराग्य से उल्टी तृष्णा, सन्तोष से उल्टा लोभ, क्षमा से उल्टा क्रोध आदि, तो उसको भी पहचानो।

२३. अब भगवद्-भक्ति व उस भगवान् के भक्तों को क्यों पहचानना? इसलिये कि अच्छा ! यह क्षमा कहाँ दिखाई दी थी, यह वैराग्य कहाँ नजर आया था ? अब भगवान् तो सामने है नहीं। अभी तो भगवान् के किसी भक्त में यह गुण नजर आ गया, तो समझ लो भगवान् की कला वहाँ बैठी, है। गीता के दसवें अध्याय में भगवान् ने अपनी विभूतियाँ, अर्जुन को बताई हैं कि हे अर्जुन ! तूँ मेरे को कहाँ सदा देखता रहेगा ? अब इतना ही समझ ले कि मेरी विभूतियों का ध्यान कर और विभूतियाँ उसने बहुत सी बतलाई। विभूति का मतलब है कि विशेष करके होना अर्थात् जिसने कुछ विशेष करके अपने मन को छोटे दायरे के दोषों,

विकारों और स्वार्थों से निकाल करके थोड़ी भी किसी तरह कमाई की है; अपने को ऊपर उठाया है, उसको विभूति शब्द से बोला है। हरेक मनुष्य के बस की बात नहीं कि किसी के विकारों को सहन कर लेना, किसी के दोषों व कड़वे बर्ताव को सहन कर लेना और अपना सुख त्याग देना। यदि किसी ने थोड़ा बहुत भी कर लिया है और उसके बीच में वह स्वभाव से टिका हुआ नजर आ रहा है, तो समझो भगवान् की कला उसमें उतर आई अर्थात् यह उसमें भगवान् की विभूति है। **भगवान वह है,** जिसमें अच्छाई सबसे नीचे तक देह, इन्द्रियों, मन व बुद्धि में भी बिल्कुल उतर जाये व उस के रोम-रोम में बस जाये। इस प्रकार अच्छाई यदि रोम-रोम में रम गई, तब वह अच्छाई बाहर प्रकट होने लगती है। जिसके अन्दर वह प्रकट होने लग जाये तो समझो वह भगवान् की विशेष विभूति हुई; सबके अन्दर अच्छाई प्रकट नहीं होती। आज आपने समझ लिया कि मुझे अच्छा बर्ताव करना है। न भई! देख मना ! तूँ आज उससे कड़वा बोला है; आगे कड़वा मैने नहीं बोलना है, तो मन में तो उतर आई। परन्तु नहीं , अभी ज्यादा मन में भी नहीं उतरी; अभी बुद्धि में में ही उतरी थी कि हाँ भई! "ये चाहिये", समझ मे थी। चलो भाव भी बन गया, न भई ! कोशिश करनी चाहिये, संकल्प भी हो गया अर्थात् मन में आ गई, परन्तु जब मौका आया उधर से; वह अवसर (मौका) चूक गये, तो कहाँ अभी इन्द्रियों में आई, वाणी में कहाँ उतरी व शरीर में कहाँ अच्छाई आई ? क्योंकि वे पहले वाले राक्षस बैठे है और पहले वाली आदत कहती है कि "न न, ऐसे किधर हम चलने देंगे, हमारे अंहकार की तृप्ति करनी है, ले ! इसको हम क्या समझें ? यह कल का तुच्छ आदमी है ; इस की बात कैसे सहन करें ? वह "मैं" आ जायेगी। अब ऐसी अवस्था में यदि किसी ने कमाई करके अपनी "मै" त्यागी; द्वेष, क्रोध त्यागा; फिर अपने को झुकाया। झुक करके उसने अपने अन्दर सहन शक्ति धारण कर ली, तो वहाँ वह अच्छाई टिकी हुई बैठी है। जहाँ वह टिकी हुई बैठी है , वह भगवान् की विभूति हो गई ; क्योंकि भगवान् के अन्दर ये सारे गुण व अच्छाइयाँ रोम-रोम में टिकी हुई थी। किसी के अन्दर भी छोटा सा गुण दिखलाई दे

जाये, तो उसको हँसकर अपना लेना भगवान् की तीसरे नम्बर की भक्ति है अर्थात् भगवान् के सारे भक्तों की भक्ति, जैसे पहले भगवान् की भक्ति, उसके बल व गुणों को अपनाना दूसरी भक्ति उसके चलने के रास्ते को अपनाना, जिसे धर्म की भक्ति (शरण) कहा है।
२४. भगवान् किसी के भी गुण में प्रसन्न होता है। भगवान् के अन्दर इतनी प्रसन्नता होती है कि "उसको दूसरे का छोटा सा दोष भी नहीं दिखाई देता।" इस तरीके से आपको दूसरे का गुण दिखाई दे गया या नहीं भी दिखाई दिया, तो भी जबरदस्ती अपने मन के अन्दर जँचाना कि "हे मना ! तूँ दूसरे के गुण को देख कर क्यों चिढ़ता है ? अपने आप इतना अहंकारी बना बैठा है कि दूसरे के अन्दर अच्छाई भी नहीं पहचान सकता।" इस तरह बोल बोल कर अपने मन को दूसरे की अच्छाई मात्र दिखलाना अर्थात् छोटी सी भी किसी के अन्दर यदि अच्छाई है, उसको खोज करके अपने मन के सामने लाना है। यह ठीक है कि ज्ञान का तेज तो किसी के अन्दर भी भगवान् ही ड़ालता है। जैसा उसके अन्दर ज्ञान हुआ उसी के अनुसार शक्ति की भी तेजी आई है, तब वह ऊर्जा (शक्ति) पैदा हुई है अर्थात् इस ऊर्जा से उसके अन्दर भगवान् की विशेष विभूति बैठी है। आप इस प्रकार से देखकर के हर्ष के साथ उसके गुण को अपना लो और उसकी वाह वाह करो। इसी "वाह वाह" करने का नाम "मुदिता" है। इससे मन से द्वेष निकल जाता है; ईर्ष्या टलती है और छोटा (अल्पता) का मान अभिमान कम पडता है। मान अभिमान का कम पडना ही छोटे दायरे से निकल कर बडे दायरे (सर्कल) में पहुँचना है जिसे बडा या परमात्मा का दायरा कहते हैं।

२५. सार रूप में व्यापक जीवन रूप भगवान् के दायरे की भक्ति का भावार्थ यही है कि उस परमात्मा के दायरे में सदा सुख बसा हुआ है, वहाँ दुःख लेशमात्र भी नही है। यदि वह परमात्मा का दायरा मिल जाये, तो सबसे परिचय हो जाता है कारण कि वह सब में फिर एक आत्मा ही करके देखता है। फिर सारी पृथ्वी (वसुधा) ही उसका कुनबा (परिवार) बन जाता है। उसको किसी

प्रकार का खेद, दुःख कहीं भी नही है। यदि वह मर गया, तो भी उसको ऐसा नही लगता कि "मैं कहीं खो गया।" "यह ठीक है कि शरीर छूटने पर कुनबे वाले तो मेरे को (मरे हुए को) क्या पहचानेंगे ? परन्तु मेरे पास भगवान् का यह ऐसा धर्म है कि मरने के बाद इससे सारे विश्व को मैं पहचान रहा हूँ। सारे विश्व के भावो में मैं आनन्द मान रहा हूँ। इसी प्रकार मरने के बाद भी सारे विश्व के भाव मुझे सुनाई देंगे, आखौं से मुझे सब कुछ दिखाई देगा, यद्यपि मैं दूसरो के प्रति छुपा हुआ होऊँगा, क्योंकि शरीर छूट चुका है। कोई चीज भी इस संसार में मरने मराने वाली नही है , परन्तु उस वस्तु का रूप बदल जाता है।

२६. वह चेतन सारे विश्व का विधान चला रहा है। वह सब के अन्दर बैठा सदा सनातन जी रहा है। उसकी ही एक तरंग इन देहों के बीच मे घूम रही है व छोटे दायरे के बीच में उलझी बैठी है। उसी छोटे दायरे के अनुसार न जाने क्या क्या बुराइयों का गठ्ठर इसने बाँधा हुआ है। केवल थोड़े मान अंहकार के सुख के लिए व छोटे मोटे एक दूसरे व्यक्ति के सुख के लिये सब विकारों और कमजोरियों को यह मनुष्य अपना रहा है और ये ही सब छोड़ने पड़ते हैं। इनको छोड़ कर जिसने व्यापक का कुनबा अपना लिया तो वह व्यापक की भक्ति हो गई अर्थात् वह परमेश्वर की भक्ति हो गई। परन्तु चलाने वाला तो ज्ञान रुप से भगवान् है। अर्थात् जैसा जिसके अन्दर ज्ञान उपजेगा, उसी के ढंग का उसका चक्कर चलेगा। यदि उसके अन्दर मैत्री वाला ज्ञान-रूप भगवान् बैठा है, तो दूसरे से भी मिलने का रास्ता खुला है। और यदि अहंकार, क्रोध, द्वेष का ज्ञान बैठा है तो इसी के अनुसार दूसरी तरफ से भी सब बुराई तैयार हैं। यही सामान्य रूप से भगवान् और उसका अधिनियम (कायदा) सब जगह चक्कर चला रहा है। आदर्श तो कल्याण करने वाला भगवान् ही है। उसी के ये सारे गुण हैं। यह ठीक है कि हमने भगवान् तो देखा नहीं, इस बात की हमको कोई परवाह नहीं। हमने तो अपने मन में उसके सारे गुणों व बलों की एक मूर्ति बना लेनी है। उन्ही का एक-एक शब्द बोल कर उनका अर्थ (मतलब) चिन्तन (स्मरण) किया कि

" क्षमा का क्या मतलब है ?"आपको इस अर्थ चिन्तन से मालूम होगा कि क्षमा का अर्थ (मतलब) है कि "किसी के भी अपराध को ठण्डे मन से सहन करना और अपने अन्दर दण्ड देने का भाव भी नही रखना है।" फिर अपने अन्दर देखना है कि "क्षमा का गुण है या नहीं।" आपको पता चलेगा कि "मेरे अन्दर तो क्षमा से उल्टा क्रोध है।" क्षमा भगवान् का एक गुण है; उसकी भी एक मूर्ति है। परन्तु मेरे अन्दर क्रोध है; उसकी भी एक मूर्ति है। इसलिये मैं इस क्रोध की मूर्ति को हटा करके, उसकी जगह भगवान् के गुण क्षमा की मूर्ति बसाऊँ। इसके लिये मन को पहले तैयार करना पड़ता है।

२७. भगवान् के गुणों को बसा करके आगे-आगे उनके रास्ते पर चलते जाना है। इस प्रकार चलते-चलते यह आध्यात्मिक, धार्मिक या भगवान् के रास्ते का जीवन बन जायेगा। अब जो इस समय जीवन चल रहा है, वह भौतिक जीवन है, जो बाहर दुनिया का जीवन है, जो तेरी मेरी व चीजों के सहारे अर्थात् प्राणी व पदार्थों के सहारे टिका हुआ है। यही काम, (इच्छा) क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार इत्यादि बन्धन एवम् विकारों वाला जीवन है, जिसमें मनुष्य को अपना सुख चाहिये, दूसरे का चाहे कुछ भी हो. अपना दुःख सहन नही होता,दूसरे का चाहे कैसा भी दुःख हो। यह छोटे दायरे का जीवन तो इतने में ही समाप्त (खत्म) है। जो व्यापक दायरे का जीवन है, वह भगवत् जीवन है। अपने मन में उस भगवान् की मूर्ति बनाना, जिसको हम अभी नहीं भी जानते है ;हमारा छोटा कुनबा (परिवार) है, उस भगवान् का व्यापक सारा संसार ही कुनबा (परिवार) है। जितने हम छोटे कुनबे में गुण रखते हैं, वह भगवान् सारे संसार रुपी कुनबे में यही गुण रखता है। इसलिये हम भी कोशिश करे कि उसके गुणों के नाम ले लेकर उसके अर्थ का चिन्तन करें। अर्थ-चिन्तन के बाद अपने अन्दर देखें कि "भगवान् के गुणों के विपरीत मेरे अन्दर क्या है ?" उन विपरीत अवगुणों को हटा करके भगवान् के गुण धारण करने का प्रयत्न व अभ्यास करना चाहिये; चाहे आरम्भ में हमारे

से तिल जितनी मात्रा में भी धारण किये जा सकें। ऐसे गुण धारण करते-करते और यह व्यापक की भक्ति बढ़ते बढ़ते एक जन्म में भी सफल हो सकती है और अनन्त जन्म भी इसकी सफलता में लग सकते हैं।

२८. आत्मा सनातन (सदा बने रहने वाला) है। परन्तु इतना ही है कि उसको जानने के लिये उतनी ही बारीकी तक जागना चाहिये, जहाँ पर चेतन आत्मा टिका बैठा है। इन भगवान् के गुणों व भाव की भक्ति करने से इस देह की ज्यादा आवश्यकताएँ (जरुरतें) नहीं रहती है। देह की अधिक आवश्यकताएँ तो तूँ तूँ मैं मैं या तेरी मेरी पाने के लिये ही हैं अर्थात् मिथ्या अहंकार को ही पोषण करने वाली हैं। देह (शरीर) तो खाली आँख से दिखाई देने वाला व कर्मो में बाँधने वाला ही है। जब कर्मो के बन्धन से आप निकलेंगे, तो आपको कामना (इच्छा) के बन्धन से पहले निकलना होगा। जैसे ही आपने कामना (इच्छा) के बन्धन का त्याग किया, तो समझो उस अवस्था में यह भगवद् भक्ति व्यापक कुनबे की है। वहाँ देह की भी जरूरत नही, वहाँ चेतन ही चेतन है। यह चेतन आपने अपने अन्दर यदि प्रकट कर लिया, तो समझो परमात्मा प्रकट हो गया। इसके लिये ईश्वर की शक्ति भी चाहिये। ईश नाम सामर्थ्य का है, जो दो प्रकार का पहले बताया जा चुका है अर्थात् पहले तो अपनी भलाई के लिये जो सही वस्तु है, उसको जानना व समझना ही ज्ञान रूप सामर्थ्य है और फिर उस जानने व समझने के अनुसार कर सकना ही क्रिया का सामर्थ्य अर्थात् करने की शक्ति भी होना, यह दूसरी प्रकार का सामर्थ्य है। इस प्रकार इन दोनो सामर्थ्य (शक्ति) के होने से यह ईश्वर की भक्ति हो गई। इसके लिये मिशाल रूप (उदाहरण के तौर पर) तो एक भगवान् को रखना, जो छः गुण (ऐश्वर्य)वाला है, जिनका विवरण इस प्रवचन में पहले आ चुका है। यदि इस प्रकार यह भक्ति नहीं हुई, तो जितना मन बाहर की तरफ जायेगा, उतनी ही थकावट होगी। जितना मन बाहर की जानने के लिये जायेगा, वह सब अविद्या का क्षेत्र है। जितना मन अपने अन्दर

की तरफ आयेगा, तो यह समझना कि "मन भगवान् के दायरे की तरफ है।" जितना मन अन्दर के सत्यों को जानने के लिये ज्ञान जगायेगा, यही समझो भगवान् की विद्या है। भगवान् ही सारे कर्मों की गति जानता है और कर्मों की आगति भी जानता है कि ''अमुक (फलाँ)फल मनुष्य को मिला हुआ किन कर्मों का परिणाम (नतीजा) है ?'' अर्थात् किस भाव से हमारा मन बहता आ रहा था , जिससे यह खोंटा कर्म बन गया है। भगवान् बन्धन भी जानता है कि कैसे राग, द्वेष, मान, मोह आदि बन्धन जबरदस्ती बाँध करके मनुष्य को पशु की तरह घसीटते है।'' जैसे हम पशु को गले में रस्सा डाल कर कही भी उसको बाँध देते है , इसी प्रकार से ये बन्धन भी मनुष्य के गले में अपना बन्धन रूपी रस्सा बाँध कर कैसे कैसे कहीं कहीं के कर्म करवा जाते है और कर्म फल के चक्कर में डाल जाते हैं। पीछे अर्थात् बाद में चाहे कुछ भी होता रहे अर्थात् चाहे हम दुःखी होते रहें, इन बन्धनों को इससे कुछ लेना देना नही है। इन सारे बन्धनों का उस भगवान् को पता है और उसी की भक्ति करने से किसी को भी पता लग सकता है। भगवान् को यह भी पता है कि इन बन्धनों से छुटकारा कैसे मिल सकता है ? अर्थात् बन्धन से छुटकारा भी भगवान् जानता है।

२९. इन बन्धनों से मुक्ति पाने के लिये व भगवान् की भक्ति करने के लिये थोड़ा तंगी के सामने चलना पड़ता है। आपने थोड़ा सुख को भी लात मार देना है अर्थात् त्याग देना है। फिर तंगी सहन करते करते सारे भगवान् के गुणों को अपनाना है। ध्यान के द्वारा ज्ञान उपजा करके सत्य को समझना है और पहचान लेना कि 'क्या हमारे भले के लिये है ?" यही सत्य का पहचानना है इसको यदि पहचान कर अपने अन्दर आपने धारण कर लिया, तो समझो। जड़ तक आपके अन्दर अच्छाई उतर गई यदि एक कला भी उतर गई ,तो समझो, आपका कल्याण हो गया।

३०. भगवान् के गुणों का शब्दों द्वारा बोल-बोल कर स्मरण करना है। स्मरण द्वारा फिर उनका अर्थ चिन्तन (ध्यान)करना है। फिर

अपनी आत्मा का दर्शन करना है कि "मैं कितनी मात्रा में उन गुणों को जीवन में अपना पाया हूँ और मेरी कमजोरियाँ व दोष विकार क्या क्या हैं ?" जो कुछ जैसी भी असलियत है, उसको वैसा ही देखना है ; उसके ऊपर परदा बिल्कुल भी नहीं डालना है । जैसे कि आप से यदि खोंटा बोला गया, तो आपका मान अहंकार उस पर परदा डालना चाहता है; कारण कि सबको अपनी "मैं" अच्छी करके प्रकट करना बढ़िया लगता है ; और खोंटा कोई भी इस संसार में प्रकट नही होना चाहता। और खोटा जो हो भी जाता है, तो उसका भी बन्धन वाला मन अपने लिये समर्थन ही करता है। इस अहंकार की भक्ति से तो काम चलता नहीं है। इस अहंकार की अवस्था में अपनी बुराई पर भी परदा नहीं डालना है और भगवान् के गुणो को याद करके अपने विकारों, कमजोरियों व अवगुणों को पहचानना है । पहचान करके उन विकारों आदि के विपरीत भगवान् के गुण व बलों और सब प्रकार की अच्छाइयों को अपने अन्दर चिन्तन करते-करते इस प्रकार धारण करना है कि "सब बुराइयाँ जड़ से निकल जायें और उनके स्थान पर अच्छाइयाँ रोम-रोम में बैठ जायें।"

३१. यदि आपको ठीक धार्मिक जीवन के मार्ग पर चलना है, तो मनुष्य की बुद्धि को थोड़ा काम में लाना पड़ेगा, जैसे हम संसार का कार्य करने के लिये बुद्धि का प्रयोग करते है। मन के अन्दर भी वैसा भाव बनाना पड़ेगा । देह व इन्द्रियों को भी अपने काबू में करना पड़ेगा । ऐसा करने के लिये समय भी देना होगा व हिम्मत भी करनी पड़ेगी । मिथ्या आदतों के सुख का त्याग भी आपको करना पड़ेगा। इस प्रकार करता हुआ मनुष्य ठीक धार्मिक जीवन पर चलता है, जो पुस्तकों में आप पढते हैं। ऐसा न चल करके यदि आप छोटी मोटी चीज को लेकर ही सन्तोष करके बैठ जाओ, तो यह आपकी मर्जी है । परन्तु इस धार्मिक जीवन पर चलने की योजना व मार्ग इत्यादि (वगैरह) अपने लिये वह स्वयं ही बनायें; कारण कि एक मनुष्य का रास्ता दूसरे को अनुकूल नही बैठता है। उसे स्वयं ही सोचना पड़ेगा कि "मै कितना चल

सकता हूँ ? मैं कितना इस संसार के जाल मैं घिरा हुआ हूँ ? मैं कितना धर्म मार्ग पर चलने के लिये दुर्बल (कमजोर) हूँ ? मेरे अन्दर क्या चीज हैं अर्थात् क्या क्या दोष हैं ? थोड़ा अपने आपा रूप आत्मा का पहले दर्शन करना; फिर भगवान् के दर्शन से थोड़ा अपने को तैयार करना", तो यही सारे कहे हुए का निचोड़ है।





कराला-मजरी एवं अन्य ग्राम के धार्मिक भक्तों के पूर्ण सहयोग से जो महाशिवरात्रि को भण्डारा (5-3-2000 को) हुआ था उसमें से बैंक में जो राशि शेष थी उस धन राशि में से ही यह "आध्यात्मिक प्रवचन संग्रह" भाग-1 (षष्ठ संस्करण) तथा भाग-2 (चतुर्थ संस्करण) छपवाया गया है, इस के प्रकाशन के लिए सभी धार्मिक भक्त-जनों को विशेष तौर पर धन्यवाद है। उसमें स्वामीजी की कृपा से जिन दाताओं ने दिल खोलकर दान दिया था, वे सब बहुत अधिक आभार के पात्र हैं। सब परम उन्नति को प्राप्त हों, यही परम पूज्य श्री स्वामीजी महाराज का आशीर्वाद सभी पर है।

छपाई का खर्चा

आध्यात्मिक प्रवचन संग्रह भाग-1

1	कागज की खपत 97 रिम	69840.00
2	पुस्तक की छपाई का खर्चा	6380.00
3	वाईंडिंग का खर्चा	36300.00
4	कवर व फोटो की प्रिंटिंग का खर्चा	5000.00
5	ट्रांस्पोटेशन का खर्चा	1000.00
6	टाईटल व. फोटो की लेमिनेशन का खर्चा	1500.00
7	नेगिटिव का खर्चा	3000.00
8	टाईटल व फोटो के पेपर का खर्चा	10000.00
कुल खर्चा		133020.00

卐卐

卐 आरती श्री सत्गुरू प्यारे जी की 卐

आरती सत्गुरू प्यारे की, कि जग के तारण हारे की

गगन से फूल बहुत बरसे,
देवता दर्शन को तरसें।
केसर का तिलक, चाँद सी झलक,
छवि है मेरे सत्गुरू प्यारे की।
कि जग के तारण हारे की। आरती....

प्रीत मेरे मन में बसे ऐसी,
कि मिश्री बीच मिठत जैसी।
दया जब होय, पाप सब धोय,
लाज रखो दास विचारे की।
कि जग के तारण हारे की। आरती....

प्रभु जी तुम ईशन के ईशा,
अनाथों के हो जगदीशा।
हम भूलनहार, तुम बखशन हार,
खड़े हैं तेरे द्वारे जी।
कि जग के तारण हारे की। आरती....

चद्दर पई कान्धे पर सोहे,
छवि पई मन मेरा मोहे।
चिप्पी है हाथ, तूँ मेरे नाथ,
जावां चरणां तो वारे जी।
कि जग के तारण हारे की। आरती....

हो भक्तों के तुम हितकारी,
कि वर्षा हो रही सी भारी।
सिंहासन छोड़, आ पहुँचे तोड़,
भीग गये वस्त्र सारे जी।
कि जग के तारण हारे की। आरती....

ॐ

आध्यात्मिक जीवन पद्यावली में
से लिये गये कुछ छन्द

शुभ गुण किसी में जो, दृष्टि में समाये,
निज में हर्षाकर, उसको मन में बसाये।
ईर्षा जाये, द्वेष छूटे, टूटे अभिमान,
अल्पता का भाव छूटे, ब्रह्म में प्रयाण।। (५०)

किसी का अपराध भी, न मन में बसाय,
तासे क्रोध क्षोभ, मिथ्या कर्म कराय।
करूणा का संग राखे, पर शोधन का भाव,
शम सुख सहित देखे, विद्या का प्रभाव।। (२५२)

आगे-आगे भागते का, पाछा गया खोय,
आशा का आगा न मिला, पीछे को भी रोय।
आगा पाछा दोनों खोके, पड़ा मंझधार,
धर्म की नाव बिना, हो कैसे बेड़ा पार।। (१६८)

आसन पै टारे, और टारता ही जाय,
रहे चाहे एकाकी, व सभी में सुहाय।
शील को रखाये, और मन को बचाय,
निर्मल बुद्धि राखे, दुःख-सुख न बुझाय।। (११७)

मन को पवित्र पूरा कर ले, इतना तर्क जगाये,
फिर देखें जग राखन खातिर, को तेरी चाह रखाये।
ऐसा हुये पै कौन समाधि, बिध्न करन को आये,
'मैं" तेरी जो रही न जग में, सहज समाधि सुहाये।। (१२३)